ईश्वरकृष्णकृत सांख्यकारिका

सांख्य तत्त्व मनोरमा



डॉ० दीनानाथ पाण्डेय

एम्० ए० (गणित, संस्कृत-दर्शन)

प्रकाशक :

मनोरमा प्रकाशन

के० ५५/९५ राजापुरा, वाराणसी

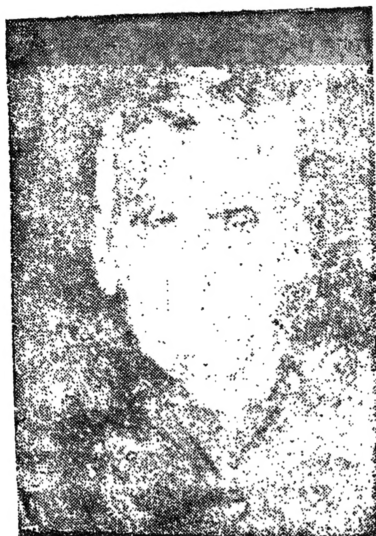
प्रथम संस्करण : १९९१ ई०

मूल्य : अजिल्द— ६५-०० रु०
सजिल्द—११०-०० रु०

मुद्रक :

जगन्नाथ प्रिंटिंग प्रेस

मध्यमेश्वर, वाराणसी



पूज्य पितृव्य

श्री वाँसुदेव पाण्डेय

को

सादर

समर्पित

आत्म निवेदन

ईश्वर कृष्ण-कृत सांख्यकारिका सांख्य का प्रामाणिक ग्रंथ है, जिस पर आचार्य माठर, गौड़पाद, वाचस्पति मिश्र प्रभृति अनेक विद्वानों ने टीकाएँ लिखी हैं। माठर-कृत माठर वृत्ति सर्व प्राचीन तथा वाचस्पति मिश्र की तत्त्वकौमुदी सबसे प्रचलित टीका है। सम्प्रति सांख्य का जो स्वरूप उपलब्ध है, वह अनेक असंगतियों एवं भ्रान्तियों से युक्त है। सांख्य दर्शन के महत्त्व-पूर्ण सिद्धान्तों—प्रकृति-पुरुष स्वरूप, व्यक्त-अव्यक्त-स्वरूप, सत्कार्यवाद, पुरुष-प्रकृति संयोग, सृष्टि एवं प्रलय, पुरुष बहुत्व, कर्म-पुनर्जन्म तथा बंधन-मोक्ष स्वरूप के सम्बंध में चले आ रहे प्राचीन आचार्यों की मान्यताओं को हमने स्वीकार नहीं किया है। हमने सांख्यकारिका को आधार मानकर प्राचीन आचार्यों के वक्तव्यों का सम्यक् परीक्षण कर सांख्य की वास्तविकता को स्थापित करने का यावच्छक्य प्रयास किया है। यह मेरा प्रयास सफल है या असफल-इसका निर्णय विज्ञजन करेंगे।

हमने परमर्षि कपिल को सांख्य-द्रष्टा तथा ईश्वरकृष्ण को सांख्य-शास्त्र-प्रणेता माना है। जहाँ आचार्य माठर के प्रति उनके प्रमाद के कारण हमें खेद है वहीं वाचस्पति मिश्र की सांख्य निष्ठा के प्रति हमें क्षोभ है। जो कुछ भी हो, हम सांख्य की प्राचीन आचार्य परंपरा का हृदय से सम्मान करते हैं। यदि हमने कुछ दूर तक देखा है तो बच्चा बनकर उन्हीं के विशाल कंधों पर चढ़कर, और यदि हमने कुछ गहराई तक सोचा है तो इन्हीं विद्वानों के आशीर्वाद के शीतल साये में बैठकर। हां इतना अवश्य है कि सांख्य में असंगतियों को ढूढ़ने वालों को चुनौती देने का हम साहस रखते हैं। इस ग्रंथ के प्रकाशन का उद्देश्य है कि सांख्य वास्तविक स्वरूप को विद्वान् पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करना। यदि मैं अपने पाठकों को सन्तुष्ट कर सका तो मुझे पूर्ण सन्तोष होगा।

यह हमारा पुनीत कर्त्तव्य है, कि मैं उन विद्वानों, आचार्यों एवं सहयो-गियों के प्रति आभार व्यक्त करूँ, जिन्होंने इस ग्रंथ के निर्माण एवं प्रकाशन में सहयोग किया है। इस प्रसंग में हमारा ध्यान सर्वप्रथम भारतीय ऋषि परंपरा के प्रतीक मनीषी डॉ० दौलत सिंह कोठारी की ओर आकृष्ट होता है। जब हम विषम परिस्थितियों के भँवर में पड़कर निराश एवं हतोत्साहित

हो जाते हैं तो गुरुदेव के ये शब्द—हम तुम्हारे साथ हैं, तुम हमारे बच्चे हो, घबड़ाओ नहीं ! तुम बहुत बड़े आदमी बनोगे ! हमें प्रकाश एवं प्रेरणा देते रहते हैं।

कोठारी जी के आशीर्वाद का प्रकाश, किरीट जोशी का प्रचण्ड समर्थन, रेवतीरमण पांडेय का सफल निर्देशन, आद्याप्रसाद मिश्र की मौलिक प्रतिभा, रामशंकर भट्टाचार्य का पाण्डित्य, बदरीनाथ शुक्ल का आचार्यत्व, जगन्नाथ-उपाध्याय का विशुद्ध मानववाद, प्रो० संगमलाल पाण्डेय की न्यायपूर्ण दृष्टि, न्यायमूर्ति पी० एन० भगवती की संस्तुति, डॉ० कमलाशंकर मिश्र की भावात्मक एकता, धर्मपत्नी मनोरमा की साधना, मां अन्नपूर्णा पाण्डेय का अप्रतिम स्नेह; सहयोग के रूप में हमारा मूल प्रेरणा श्रोत रहा है।

भारतीय दर्शन के शीर्षस्थ विद्वानों, शिक्षाविदों, वैज्ञानिकों, मित्रों, परिवारजनों द्वारा जो हमें सहायता सहयोग, समर्थन एवं प्रेरणा मिली है, हम उनके प्रति हृदय से कृतज्ञ हैं। इस संदर्भ में प्रो० रामशंकर त्रिपाठी, प्रो० दयाकृष्ण, प्रो० एन० के० देवराज, प्रो० रामचन्द्र पाण्डेय, प्रो० लक्ष्मी-निधि शर्मा, प्रो० वी० एन० सिंह, प्रो० कृपाशंकर ओझा, पं० विजय नारायण त्रिपाठी, डॉ० कैलाशपति मिश्र, प्रो० सुरेन्द्रनाथ ओझा, प्रो० केदारनाथ मिश्र, प्रो० देवीप्रसाद दुबे, डॉ० अवधनारायण मिश्र, डॉ रामभूर्ति चतुर्वेदी, डॉ० लाल जी मिश्र, डॉ० विजयशंकर चौबे, पं० प्रवर श्री लालता प्रसाद पाण्डेय, पं० हरिहर नाथ शास्त्री, प्रो० राजाराम शास्त्री, प्रो० विद्या निवास मिश्र, डॉ० एम० एल० मेहता, प्रो० एस० के खन्ना, प्रो० यशपाल, प्रो० जयपाल सिंह, प्रो० रघुनाथ प्रसाद रस्तोगी, अधिवक्ता अवधेश कुमार सिंह, पं० कुबेरनाथ शास्त्री, श्री प्रेमशंकर तिवारी, उदयनाथ सिंह, डा० शिवपूजन सिंह, डॉ० रामसागर पाण्डेय, डॉ० रामअवतार, बहेरी नरेश बाबू राणाप्रताप सिंह, दिगविजयनाथ सिंह, डॉ० सीतासिंह, डॉ० बी० पी० सिंह, श्री राजकुमार पाण्डेय, जगन्नाथ प्रिंटिंग प्रेस और काशी के सम्भ्रान्त नागरिक श्री शिवशंकर यादव का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

आशा है विद्वत्समाज का हमें पूर्ण सहयोग एवं आशीर्वाद प्राप्त होगा। बस इन्हीं शब्दों के साथ यह ग्रंथ वेद प्राण परमर्षि कपिल के श्री चरणों में अर्पित है।

—दीनानाथ

Foreword

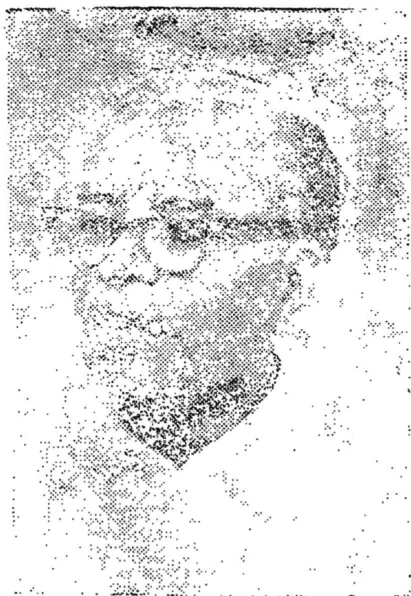
I have recently come to know of Samkhya Tattva Manorama written by Dr. Dina Nath Pandey. I find that this work is an original contribution to the interpretation of the Samkhya. It attempts to trace the origin of Samkhya in the Rig Veda and the author has attempted to bring out the real import of the Samkhya vision of the universe and its problems particularly the problem of suffering. The book is based on authoritative quotations from the Veda and several other books related to Indian Philosophy and history.

I have also had an opportunity of a long discussion with Dr. Pandey and I find that he has a deep knowledge of the Indian traditions and is able to sustain his point of view at very deep levels of discussion. His interpretation of the Samkhya deserves to be studied by all who are interested in developing the Indian Philosophical thought in the light of the latest research. I have come to acknowledge the scholarship of Dr. Pandey and feel that his services should be utilised in any first rate university of the word in the department of Indian Philosophy or Indology.

—*Kireet Joshi*

Member Secretary, I. C. P. R.

Rashtriya Ved Vidya Pratishthan



भारतीय ऋषि

Dr. Daulat Singh Kothari

Chancellor J. N. U. New Delhi

Ex-Chairman U. G. C.

Kothari Commission

A Scientist and Educationist

Dr. Dina Nath Pandey is a dedicated scholar of Samkhya Philosophy. I am not competent to speak about the merits of Dr. Pandey's work, but I am impressed by his sincerity and perseverance. Dr. Pandey and his family has my sincere good wish.

—**D. S. Kothari**

कतिपय विद्वानों की सम्मतियाँ

डॉ० दीनानाथ पाण्डेय सांख्य दर्शन के समर्पित विद्वान् हैं। इन्होंने गत पंद्रह वर्षों से सांख्य दर्शन पर उपलब्ध समस्त वाङ्मय का आलोडन-विलोडन कर इस विषय के शीर्षस्थ आचार्यों से सम्पर्क स्थापित कर 'सांख्य तत्त्व-मनोरमा' की रचना की है। विद्वान् पाठकों को डॉ० पाण्डेय की इस श्रम-साध्य रचना में सांख्य दर्शन की एक सर्वथा अभिनव झाँकी देखने को मिलेगी, जो अन्यत्र दुर्लभ है। मैं डॉ० पाण्डेय को इस कार्य के लिए हृदय से बधाई देता हूँ।

प्रो० रे० र० पाण्डेय (दर्शन)
का० हि० वि० वि० वाराणसी

सांख्यशास्त्र के महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों के सम्बंध में डॉ० दीनानाथ पाण्डेय से बात हुई। श्री पाण्डेय ने सांख्य के कतिपय सिद्धान्तों के सम्बन्ध में अब तक प्रसिद्ध मान्यताओं के प्रति अपनी आलोचनात्मक दृष्टि स्पष्ट की और उनके प्रति अपने वैमत्य के कारणों पर प्रकाश डाला। प्रकृति, अव्यक्त, पुरुष, सत्कार्यवाद, पुरुष-प्रकृति संयोग आदि विषयों पर इन्होंने कुछ ऐसे विचार व्यक्त किए जिनका पुरातन विचारों से मेल नहीं है। मेल न होने के जो आधार श्री पाण्डेय ने समझा है उस पर भी चर्चा हुई। इन सभी प्रसंगों में उनके विचारों में नवीनता मिली और इस पर उनका बौद्धिक आग्रह भी दीख पड़ा जो निश्चित रूप से सकारण प्रतीत हुआ। ये सभी विषय उनके ग्रंथ 'सांख्य तत्त्व मनोरमा' में समाविष्ट हैं और सभी की मौलिकता में उनकी दृढ़ भावना है। डॉ० पाण्डेय के अध्यवसाय से हमें प्रसन्नता हुई है। मुझे हर्ष होगा यदि उनकी लगन उनके सांख्य-बोध को उद्घाटित कर सकेगी।

आचार्य बदरीनाथ शुक्ल
पूर्व कुलपति सं० सं० वि० वि० वाराणसी

डॉ० दीनानाथ पाण्डेय जी सांख्यशास्त्र में कृत परिश्रम हैं। सांख्यकारिका व्याख्यापरक ग्रंथ (सांख्यतत्त्व मनोरमा) लिखने के समय इन्होंने कई बार मेरे पास आकर विचार-विमर्श किया। शास्त्रीय मतों के तात्पर्य को समझने में उनकी अत्यधिक दक्षता है। मैं समझता हूँ कि उपर्युक्त ग्रन्थ सांख्य के अध्येताओं के लिए उपकारक सिद्ध होगा।

डॉ० रामशंकर भट्टाचार्य
हौजकटोरा, वाराणसी

डॉ० दीनानाथ पाण्डेय एम्० ए० गणित, संस्कृत-दर्शन को मैं भली भाँति जानता हूँ। अपना ग्रन्थ तैयार करते समय ये हमारे सतत सम्पर्क में रहे हैं। डॉ० पाण्डेय एक स्वतंत्र विचारक हैं। इससे पूर्व सांख्य के सम्बन्ध में जो कुछ कहा गया या लिखा गया, इन्होंने स्वतंत्रता एवं निर्भीकता पूर्वक खंडन किया है और प्रत्येक विषय पर अपना स्वतंत्र विचार प्रस्तुत किया है। इनके विचारों एवं निष्कर्षों से वैमत्य भले हो, परन्तु इतना तो मानना ही पड़ेगा कि कई स्थलों पर इनका स्वतंत्र चिन्तन एवं सांख्य सिद्धान्तों की नई व्याख्या युक्ति संगत प्रतीत होती है।

आचार्य पं० आद्याप्रसाद मिश्र
पूर्व कुलपति, इलाहाबाद विश्वविद्यालय

Dr. Dina Nath Pandey, one of the most distinguished students of this department has written a book 'Samkhya Tattva Manorama.' Dr. Pandey is an authority on the Samkhya Philosophy. I unhesitatingly recommend the work to all those, who would like to know more about Samkhya Philosophy.

N. S. S. Raman
Prof & Head Philosophy (B. H. U.)

I have gone through 'Samkhya Tattva Manorama' written by Dr. D. N. Pandey and found it an authoritative workd on the ancdient Samkhya Philosophy. Dr Pandey has traced its history to the Rigved and discovered the correct meanings of a hundred cencepts, which were misinterpreted by almost all the commentators of Samkhya Karika. His work is undoubtedly an important piece of research.

S. L. Pandey
Prof. & Head Philosophy (Allahabad)

Dr. Dina Nath Pandey has done remarkable work in the area of Samkhya Philosophy. He has brought out a learned and scholarly publication under the name of 'Samkhya-Tattva Manorama' He is an erudite scholar and deserves encouragement.

P. N. Bhagawati
Former Chief Justice of India

शब्द-संक्षेप

अ० वे०	अथर्ववेद
ऋ० वे०	ऋग्वेद
गौ०	गौड़पादभाष्य
छा० उ०	छान्दोग्य उपनिषद्
दा० गु०	दास गुप्त
जय०	जयमङ्गला
पु० वि० च०	पुलिन विहारी चक्रवर्ती
वृ० उ०	वृहदारण्यक उपनिषद्
ब्र० सू० शां० भा०	ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्य
भ० गी०	भगवद्गीता
यु०	युक्तिदीपिका
श० ब्रा०	शतपथ ब्राह्मण
श्वे० उ०	श्वेताश्वतर उपनिषद्
सां० प्र० भा०	सांख्य प्रवचन भाष्य
C. H. I.	Cultural Heritage of India.
E. R. E.	Encyclopaedia of Religion and Ethies.
E. S. T.	Evolution of Samkhya School of Thought
H. I. P.	History of Indian Philosophy.
I. H. Q.	Indian Historical Quarterly.
J. O. R.	Journal of Orient Research.
J. A. O. S.	Journal of American Oriental Society.
J. R. A. S.	Journal of Royal Asiatic Society.
O. D. S. S. T.	Origin and Development of Samkhya System of Thought.
S. B. E.	Sacred Books of the East.
S. S. I. P.	Six Systems of Indian Philosophy.

विषय-सूची

भूमिका

प्राचीन वैदिक साहित्य तथा उपनिषदों में सांख्य के भावी अव्यक्त का संकेत मिलता है। इससे यह बात सुस्पष्ट हो जाती है कि विकसित तथा व्यवस्थित सांख्य दर्शन की पृष्ठभूमि में विद्यमान विचार, जिससे उसका भावी स्वरूप निर्धारित हुआ, अत्यन्त प्राचीन है। परवर्ती उपनिषद् तो सांख्य से भली-भाँति परिचित है ही; मनुस्मृति, महाभारत, पुराण आदि में इस दर्शन की बड़ी प्रतिष्ठा है। सांख्यकारिका एक महान् ग्रन्थ है और आधुनिक विज्ञान के सन्दर्भ में इसकी बड़ी महत्ता है। यही कारण है कि अध्ययन के समय ही हमारा विशेष झुकाव सांख्य दर्शन की ओर रहा। हमें यह बात बराबर खटकती रही कि जिस परमर्षि कपिल के आप्तज्ञान की प्रशंसा श्रुति कर रही है, पुराणों में जिन्हें साक्षात् विष्णु का अवतार कहा गया है; उसके कथन में इतनी असंगतियाँ कहाँ से आयी ? इसी भावना से हमने शोध का विषय 'सांख्य का द्वैतवाद' चुना और उस पर पी-एच्० डी० की उपाधि प्राप्त की।

हम अपने शोध कार्य से इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि सांख्य के सही स्वरूप को अब तक प्रस्तुत नहीं किया गया है। इसका कारण यह है कि सांख्य के आधार ग्रन्थ 'सांख्यकारिका' की अब तक जो टीकाएँ लिखी गई हैं, वे कारिकाकार की मूल भावना के अनुकूल एवं युक्ति संगत नहीं हैं। यही सोचकर हमने सांख्यकारिका की हिन्दी व्याख्या लिखने का संकल्प किया। सांख्य तत्त्व ज्ञान के लिए प्रवृत्त हुआ है। सांख्य की तत्त्व मीमांसा पर अब तक जो विचार प्रस्तुत किये गये थे, वे अस्पष्ट एवं भ्रामक थे। तत्त्व और प्रमेय के सूक्ष्म भेद के रहस्य पर अब तक कोई नूतन प्रकाश नहीं पड़ा था और उसी रूप में सांख्य का अध्ययन एवं अध्यापन सहस्रों वर्षों से चला रहा है। सांख्यकारिका में कारिकाएँ मोती की लड़ियों की भांति पिरोई गई हैं, और इस दर्शन की सुन्दर, स्पष्ट, निश्चयात्मक एवं मनोरम झाँकी प्रस्तुत करती हैं। इसलिए हमने इस ग्रन्थ का नाम 'सांख्य तत्त्व मनोरमा' रखा है।

प्रथम अध्याय में हमने सांख्य के ऐतिहासिक विकास क्रम पर प्रकाश डाला है। अध्याय के प्रारम्भ में हमने वैदिक साहित्य से सांख्य का पूर्ण सामञ्जस्य स्थापित करने का प्रयास किया है। सांख्य का सृष्टि विषयक

विचार प्राचीन वैदिक साहित्य से साम्य रखता है परन्तु उसके तत्त्व ज्ञान सम्बन्धी विचार का संकेत इस साहित्य में नहीं मिलता। उपनिषदों का तत्त्व ज्ञान सांख्य से मेल खाता है परन्तु उसका सृष्टि विषयक सिद्धान्त सांख्य के प्रतिकूल है। यहाँ हम स्पष्ट कह देना चाहते हैं कि सांख्य में सृष्टि वास्तविक है, सत्य है परन्तु साथ ही साथ इस दुःखमय जगत् से छुटकारा दिलाने वाले उपाय या साधन को जानने की जिज्ञासा भी सांख्य का मूल विषय है।

वैदिक साहित्य के साथ ही साथ हमने मनुस्मृति, महाभारत, पुराण, गीता, चरक संहिता, सुश्रुत संहिता, ज्योतिष, व्याकरण तथा बौद्ध-जैन सम्प्रदाय के ग्रन्थों में भी सांख्य विचारों को ढूढ़ने का प्रयास किया है। अलबीरुनि आदि के लेखों से भी सांख्य की प्राचीनता एवं प्रामाणिकता पर प्रकाश पड़ता है। यह सत्य है कि विशुद्ध सांख्य की उपलब्धि इन ग्रन्थों में नहीं होती फिर भी सांख्य की सार्वभौमिकता एवं प्राचीनता के सम्बन्ध में सन्देह नहीं किया जा सकता।

हमने परमर्षि कपिल को सांख्य-द्रष्टा माना है। ऋ० १०।२७।१६, श्वे० उ० ५।२ तथा सांख्यकारिका की ६९ वीं कारिका के आधार पर हमने अपने कथन को प्रमाणित किया है। महाभारत, गीता, रामायण तथा पुराणों में परमर्षि कपिल से सम्बन्धित उद्धरणों को भी हमने उपस्थित किया है। प्राचीन सभी उद्धरणों से मात्र कपिल की सर्वज्ञता एवं ज्ञानवत्ता पर प्रकाश पड़ता है। उनके ऐतिहासिक व्यक्तित्त्व की खोज निष्प्रयोजन प्रतीत होती है। परमर्षि कपिल का काल क्या था? इस सम्बन्ध में हमने पं० उदयवीर शास्त्री, कालीपद भट्टाचार्य, प्रो० आद्या प्रसाद मिश्र आदि विद्वानों के विचारों को उपस्थित किया है तथा यह निर्णय दिया है कि वैदिक ऋषि कपिल के काल का निर्धारण नहीं हो सकता।

परम्परा यह मानती है कि परमर्षि कपिल-प्रणीत एक षष्टितन्त्र ग्रंथ था, जो अब लुप्त हो गया है। हमारी दृष्टि में षष्टितन्त्र कोई ग्रन्थ विशेष नहीं अपितु सांख्य का पर्याय है। रिचार्ड गार्वे, प्रो० ए० बी० कीथ प्रो० हिरियन्ना, डॉ० रामशंकर भट्टाचार्य आदि विद्वानों का यही मत है। जयमंगला में इसका स्पष्ट संकेत है—एते षष्टिः पदार्थाः, तदर्थं शास्त्रं षष्टितन्त्रमित्युच्यते (का० ५१)। ऋषयो मन्त्र द्रष्टारः से परमर्षि कपिल सांख्य के द्रष्टा हो सकते हैं परन्तु वे किसी ग्रंथ के कर्त्ता कदापि नहीं हो सकते। आचार्यों ने आसुरि पञ्चशिखादि सांख्याचार्यों की परंपरा का

उल्लेख किया है। हमारी दृष्टि में ये आचार्य ऐतिहासिक व्यक्ति नहीं हैं। ७०वीं कारिकागत "शिष्य परंपरया" पद का अर्थ मौखिक रूप से है। इतना अवश्य है कि महाभारत आदि में वर्णित इन सांख्याचार्यों के जीवन-वृत्त से सांख्य की अविच्छिन्न परंपरा पर प्रकाश पड़ता है।

सांख्य पर इस समय उपलब्ध ग्रंथ तीन हैं— ईश्वरकृष्ण-कृत सांख्य-कारिका, तत्त्व समास और सांख्यसूत्र। सांख्यकारिका सांख्य का सर्व प्राचीन प्रामाणिक ग्रंथ है। इससे पूर्व सांख्य व्यवस्थित दर्शन के रूप में न आ सका था। प्रो० ए० वी० कीथ, डॉ० राधाकृष्णन्, प्रो० हिरियन्ना, लोकमान्य तिलक आदि विद्वान् इसे ही सांख्य का प्रामाणिक ग्रन्थ मानते हैं। इसमें मात्र ७० श्लोक हैं। यह ई० पूर्व प्रथम शताब्दी की रचना है। उपलब्ध सांख्यकारिका में ७० के स्थान ७२ कारिकाओं का संकेत मिलता है। हमारी दृष्टि में तन्त्र तथा षष्टितन्त्र से सम्बन्धित ७०वीं तथा ७२वीं दो कारिकाएँ प्रक्षिप्त हैं। हमने ७०वीं कारिका के संबन्ध में गौड़पाद के विचारों को अधिक प्रामाणिक माना है। सांख्यकारिका पर मुख्य रूप से छः टीकाएँ लिखी गयी हैं, जिन्हें माठरवृत्ति, युक्ति दीपिका, गौड़पाद भाष्य, जयमंगला, सांख्य तत्त्व-कौमुदी और सांख्यचंद्रिका नाम से जाना जाता है। आचार्य माठर सर्व प्राचीन व्याख्याकार हैं। माठरवृत्ति में कुछ अंश बाद में जोड़े गये हैं। वादरायण व्यास ने सांख्य के खंडन में इसी टीका का आश्रय लिया है। प्रायः सभी आचार्यों ने मुख्य स्थलों के विवेचन में माठरवृत्ति का ही आधार लिया है। वाचस्पतिमिश्र की तत्त्व कौमुदी न्याय से प्रभावित होने के कारण सफल टीका नहीं है। नारायण तीर्थ और गौड़पाद सांख्यचंद्रिका तथा गौड़पादभाष्य के रचयिता हैं। युक्तिदीपिका तथा जयमंगला के रचयिता का असंदिग्ध नाम अज्ञात है। इनके अतिरिक्त मुडुम्बहर स्वामी ने भी एक टीका 'सांख्यतरुवसन्त' लिखी है।

तत्त्व समास अपने स्वरूप से बहुत छोटा है, जिसकी छः टीकाएँ लिखी गई हैं। कुछ लेखकों के नाम अज्ञात हैं। तत्त्व समास की टीकाओं में क्रमदीपिका सबसे प्राचीन टीका है। सांख्य दर्शन के आधारग्रंथों में सांख्य सूत्र सबसे अर्वाचीन है। पं० उदयवीर शास्त्री इसे कपिलकृत षष्टि-तन्त्र मानते हैं। किन्तु उन्हें विद्वानों का अणुमात्र भी समर्थन नहीं मिला है। इस पर पाँच टीकाएँ उपलब्ध हैं। सांख्य सूत्रों के व्याख्याकारों में अनिरुद्ध एवं विज्ञान भिक्षु मुख्य आचार्य है। सांख्य सूत्र-वृत्ति तथा सांख्य-प्रवचन भाष्य इनकी रचनायें हैं। उपर्युक्त ग्रन्थों के अतिरिक्त सांख्य-संग्रह, सांख्य-

योग कोश, सांख्य सार आदि ग्रन्थ उपलब्ध हैं। रिचार्ड गार्वे, प्रो० ए० बी० कीथ, लारसन आदि पाश्चात्य तथा प्रो० आद्या प्रसाद मिश्र, डॉ० रामशंकर भट्टाचार्य आदि सांख्य के समकालीन भारतीय व्याख्याकार हैं।

द्वितीय अध्याय में सांख्य सिद्धांतों पर प्रकाश डाला गया है। सांख्य का अर्थ विद्वानों ने ज्ञान और गणना किया है। हमारी दृष्टि में सांख्य का अर्थ व्यक्त, अव्यक्त एवं ज्ञ का सम्यक् ज्ञान है, जो सांख्यकारिका से प्रमाणित है। इसके पश्चात् जगत् के आदि कारण प्रकृति का विवेचन हमने सांख्य कारिका के आधार पर किया है। तत्पश्चात् अव्यक्त की त्रिगुणात्मकता को सिद्ध करके उसकी सिद्धि की है, जिसमें वर्णित पाँच सबल हेतुओं की हमने स्वतन्त्र व्याख्या की है। जो अन्य टीकाओं में उपलब्ध नहीं है। अव्यक्त के सलिलवत् परिणाम की व्याख्या भी हमारी सर्वथा नवीन है। व्याख्याकारों की दृष्टि में प्रकृति, प्रधान तथा अव्यक्त एकार्थक है। हमारी दृष्टि में प्रकृति प्राणियों के शारीरिक संघटन एवं अव्यक्त उनकी मूल प्रवृत्ति का परिचायक है। प्रधान पद उस मनुष्य की प्रवृत्ति से सम्बन्धित है, जिसे कैवल्य प्राप्त करना है। इसलिए प्रधान को हमने कैवल्यार्थक प्रवृत्ति का वाचक माना है। यद्यपि तीनों में तत्त्वतः अभेद है। बाद में हमने वैदिक साहित्य एवं महाभारत पुराणों में प्रकृति के स्वरूप को बतलाया है।

सांख्य के महत्वपूर्ण सिद्धान्त सत्कार्यवाद की स्थापना में हमने स्वतन्त्र एवं रचनात्मक विचार प्रस्तुत किया है। अपने समर्थन में हमने कुछ वैज्ञानिक तथ्यों को भी उपस्थित किया है। हमारी दृष्टि में सत्कार्य का अर्थ है—महदादि २३ कार्य सत् है। इनकी न तो उत्पत्ति होती है और न विनाश। व्याख्याकारों ने सत्कार्य का अर्थ उत्पत्ति के पूर्व कार्य का कारण में सत् होना किया है, जो नितान्त असंगत है। कार्य और व्यक्त के सूक्ष्म भेद को भी हमने बतलाया है। महदादि कार्यों की विभिन्न शरीरों में अभिव्यक्ति ही व्यक्त है। व्यक्त अनित्य हैं, अनेक हैं, जबकि कार्य (महदादि) सत् है तथा मात्र तेइस हैं। अब तक कार्य और व्यक्त को एक ही माना जाता रहा है। सत्कार्यवाद के प्रतिष्ठित होने के बाद हमने त्रिगुण का विवेचन किया है तथा विज्ञान भिक्षु की मान्यता को संगत नहीं माना है।

सांख्य दर्शन में पुरुष स्वरूप अब तक विवादास्पद बना रहा है। हमने इस समस्या का समाधान ढूढ़ा है। हमारी दृष्टि में पुरुष विशुद्ध चैतन्य स्वरूप, अगुण, निष्क्रिय एवं अपरिणामी है। वह कर्ता या भोक्ता नहीं है। पुरुष का स्वरूप बतलाने के बाद हमने वैदिक साहित्य तथा महाभारत

पुराणों में पुरुष के स्वरूप को ढूढ़ने का प्रयास किया है। वैदिक साहित्य में इस ओर संकेत किए गए हैं। महाभारत पुराणों में पुरुष का विशुद्ध रूप नहीं मिलता। वास्तव में पुरुष का जितना विशुद्ध रूप सांख्यकारिका में मिलता है वैसा अन्यत्र नहीं। पुरुष स्वरूप के बाद हमने ईश्वरवाद पर प्रकाश डाला है तथा पुरुष से ही इसे विकसित माना है। आचार्य माठर ने भी पुरुष को ही परमात्मा कहा है। हमारी दृष्टि में अवतारवाद या ईश्वर का सगुण रूप सीमित है। भारतीय दर्शन में बौद्धों की प्रतिक्रिया स्वरूप यह ब्राह्मणवादी व्यवस्था की देन है। ईश्वर कभी भी देहधारी जीवात्मा के रूप में पृथ्वी पर अवतरित नहीं होता। दिव्य आत्माएँ ही यश, बल, समृद्धि, पराक्रम, ज्ञान आदि षडैश्वर्य से युक्त हो पृथ्वी पर ईश्वर कहलाती है। यह सत्य है कि सांख्य का पुरुष उपासना का विषय नहीं बन सकता, इससे सम्प्रदाय नहीं बन सकते और धार्मिक प्रभाव निष्प्रभावी हो सकता है। सांख्य का ईश्वर घटघटवासी, सर्व प्रकाशक तत्त्व है, वह कर्म फलदाता, नियन्ता एवं सृष्टि-कर्ता नहीं हो सकता।

सांख्य प्रमेय प्रधान शास्त्र है। प्रमेयों का ज्ञान प्रमाणों से होने के कारण इस शास्त्र में प्रमाणों की चर्चा आवश्यक हो जाती है। सांख्य में प्रत्यक्ष, अनुमान तथा आप्तवचन त्रिविध प्रमाण माने गये हैं। प्रमेय, पुरुष, प्रकृति, महत्, अहंकार, मन सहित एकादशेन्द्रियाँ, पञ्च तन्मात्र तथा पञ्च महाभूत हैं। हमारी यह मान्यता है कि पञ्च महाभूतों का ज्ञान प्रत्यक्ष से, पञ्च-तन्मात्र से प्रकृति तक का ज्ञान अनुमान से तथा पुरुष का ज्ञान शब्द या आप्तवचन से होता है। श्रुति ही शब्द प्रमाण है। अब तक किसी आचार्य ने 'पुरुष' को शब्द प्रमाण का विषय नहीं कहा है। स्वर्ग, अपवर्ग, उत्तर, कुरु, नन्दन वन आदि सांख्यीय प्रमेय नहीं हैं। जबकि आचार्यों ने इन्हें शब्द प्रमाण का विषय कहा है।

भोग एवं कैवल्य जीवात्मा के स्वार्थ हैं, न पुरुष के और न ही प्रकृति के। इसी आधार पर हमने जीवात्मा की सत्ता सिद्ध की है जो संघात रूप प्रकृति एवं संघात से परे पुरुष का संयोग है। जीवात्मा की अनेकता को प्रतिपादित करने वाली युक्तियों की हमारी व्याख्या स्वतन्त्र एवं मौलिक है, जिसका अन्यत्र कहीं भी संकेत नहीं है। इससे पूर्व आचार्यों ने चिद्रूप पुरुष की सत्ता सिद्ध की थी तथा उसी का बहुत्व स्थापित किया था। परम्परा पुरुष बहुत्व एवं पुरुषैकत्व के आधार पर सांख्य एवं वेदान्त में भेद मानती है। हमारी दृष्टि में यह धारणा नितान्त असंगत है। आचार्य माठर को पुरुषैकत्व ही

मान्य है, जबकि गौड़पाद भाष्य में पुरुषैकत्व एवं पुरुष बहुत्व दोनों का संकेत है। हमारी दृष्टि में सांख्य एवं वेदान्त (उपनिषद्) में मूल भेद यह है कि सांख्य में सृष्टि सत्य है, वास्तविक है, जबकि वेदान्त में सृष्टि एवं प्रलय के विचार में विश्वास किया गया है।

पुरुष-प्रकृति संयोग की हमारी व्याख्या प्रभावशाली एवं मर्म स्पर्शिनी है, जिस ओर आचार्यों का ध्यान नहीं गया। पंगु-अंधवत् संयोग की हमने युक्ति संगत व्याख्या प्रस्तुत की है, जो परम्परागत विचारों से बिल्कुल भिन्न है। प्रायः ऐसा माना जाता रहा है कि प्रकृति स्वतन्त्र है, फिर कैसे पुरुष से उसका संयोग होता है तथा सृष्टि होती है ? यह भावना निराधार है। आचार्य माठर ने प्रकृति को सबका मूल कारण होने से स्वतन्त्र कहा है। साथ ही साथ उन्होंने प्रकृति को ब्रह्म का पर्याय कहा है। इस प्रकार पुरुष और प्रकृति दोनों ब्रह्म के ही रूप सिद्ध होते हैं, जिन्हें निर्गुण एवं सगुण रूप में जाना जा सकता है। अब तक आचार्यों ने पुरुष-प्रकृति संयोग से सृष्टि की उत्पत्ति की व्याख्या की है, जिससे हमारा मत भिन्न है। यहाँ हमारा यह कहना है कि जहाँ जीवन है वहाँ पुरुष प्रकृति संयोग समझना चाहिए तथा यह संयोग सर्वत्र पंगु-अंधवत् है। पुरुष-प्रकृति के अन्योन्याश्रय सम्बन्ध से आइन्स्टीन के सापेक्षवाद पर प्रकाश पड़ता है। इसी सन्दर्भ में हमने विकास-वाद पर प्रकाश डाला है और परम्परागत विद्वानों के मतों को असंगत ठहराते हुए स्पष्ट रूप में अपना मत दिया है कि सांख्य में सृष्टि कब हुई ? क्यों हुई ? कैसे हुई ?— इन प्रश्नों को उठाना उसकी प्रवृत्ति के विपरीत है।

सांख्य में पुनर्जन्म का आधार लिंग है, जो भावों से अनुरञ्जित होकर नाना योनियों में संसरण करता है। भावों का सम्बन्ध कर्म-संस्कार से है। सूक्ष्म शरीर और लिंग में भेद है। सूक्ष्म शरीर लिंग का आश्रय है, वह भोग भी कर सकता है। परन्तु लिंग अपार्थिव होने के कारण भोग में असमर्थ है। हमारी दृष्टि में गीता का पुनर्जन्म सिद्धान्त स्पष्ट नहीं है। हमारी यह मान्यता है कि पुरुष या आत्मा का पुनर्जन्म से कोई सम्बन्ध नहीं है।

दुःखत्रय की आत्यन्तिक निवृत्ति के उपाय की व्याख्या करना सांख्य का मुख्य लक्ष्य है। ये दुःख, जन्म, जरा तथा मरण हैं, आध्यात्मिक, आधि-भौतिक तथा आधिदैविक रूप नहीं। इन दुःखों का भोक्ता जीवात्मा है न पुरुष न प्रकृति। कैवल्य की प्राप्ति मानव शरीर से ही सम्भव है। सांख्य में कहा गया है 'व्यक्त, अव्यक्त तथा ज्ञ' के सम्यक् ज्ञान से विशुद्ध ज्ञान उत्पन्न होता है तथा इस विशुद्ध ज्ञान से कैवल्य प्राप्त होता है। सम्यक्

ज्ञान और विशुद्ध ज्ञान में भेद यह है कि सम्यक् ज्ञान में अहं भाव रहता है जबकि विशुद्ध ज्ञान में यह भाव मिट जाता है। इस प्रकार अहंभाव की समाप्ति ही विशुद्ध ज्ञान का उत्पन्न होना है। यह ज्ञान लाखों में किसी विशिष्ट व्यक्ति को ही हो पाता है तथा उसी को कैवल्य प्राप्त होता है। उस विवेकी मनुष्य को सांख्य में पुमान् कहा गया है। आचार्य माठर का भी यही कहना है कि विद्वान् मोक्ष प्राप्त करता है। यहाँ अन्य व्याख्याकारों की तुलना में हमारी दृष्टि अधिक स्पष्ट एवं निश्चयात्मक है। पूर्व आचार्यों ने यह स्पष्ट रूप में नहीं कहा है कि दुःख कौन भोगता है तथा कैवल्य किसे प्राप्त होता है। अन्त में हमने सांख्य गत समस्याओं पर प्रकाश डाला है। उपलब्ध सांख्यकारिका में कोई असंगति या समस्या नहीं हैं। आचार्य माठर के प्रमादवश कुछ समस्याएँ अवश्य सांख्य में दीख पड़ती है तथा वाचस्पति मिश्र ने इन समस्याओं को और गंभीर बना दिया है।

तृतीय अध्याय सांख्यकारिका की व्याख्या से सम्बंधित है। प्रथमकारिका की व्याख्या में हमने दुःखत्रय का अर्थ जन्म, जरा तथा मरण रूप तीन दुःख किया है। द्वितीय कारिका में अविशुद्धः पद को हमने माठरवृत्ति के अनुसार संगत माना है, जिसका अर्थ हमारी दृष्टि में शुद्धतर है, यह पद उपाय गत है। अन्य टीकाओं में अविशुद्धि पाठ है, जिसका अर्थ व्याख्याकारों ने हिंसा से दूषित होने के कारण अपवित्र किया है। तृतीय कारिका में प्रमेयों का परिगण किया गया है। चतुर्थ में प्रमाणों का नामकरण, पञ्चम में परिभाषा तथा छठी कारिका में प्रमाणों से प्रमेयों के सिद्ध होने की बात कही गयी है। चतुर्थ कारिका गत सर्वप्रमाण सिद्धत्वात् तथा छठीकारिका की हमारी व्याख्या द्रष्टव्य है। सातवीं कारिका में विद्यमान वस्तुओं की अनुपलब्धि के आठ कारणों पर प्रकाश डाला गया है तथा आठवीं में प्रकृति सत्ता पर प्रकाश डाला गया है। इसमें सरूप एवं विरूप पदों की हमारी व्याख्या सर्वथा नवीन है। नवीं कारिका में सत्कार्यवाद के सिद्धान्त को स्थापित करने वाली युक्तियों की हमने स्वतंत्र व्याख्या की है। दसवीं कारिका में व्यक्त और अव्यक्त के सम्बन्ध में कहा गया है। ग्यारहवीं कारिका में व्यक्त, प्रधान, पुमान् एवं पुरुष एक ही साथ आए हैं। १२ वीं एवं १३ वीं में त्रिगुण का विवेचन हुआ है तथा चौदहवीं में अव्यक्त के त्रिगुणत्व रूप को सिद्ध किया गया है। १५ वीं में अव्यक्त की सत्ता सिद्ध करके १६ वीं में उसके सलिलवत् परिणाम की व्याख्या की गई है, जो सर्वथा नवीन है। १७ वीं कारिका में हमने जीवात्मा की सत्ता सिद्ध करके १८ वीं में उसका बहुत्व स्थापित किया है। यहाँ व्याख्याकार अधिक भ्रान्त हैं। १९ वीं में पुरुष

६० वीं में प्रकृति के विवेकी मनुष्य के प्रति निःस्वार्थता तथा पुरुष की विद्यमानता में उसे प्रकाशित होने की बात कही गयी है। हमारी यह व्याख्या सर्वथा नवीन है। ६१ वीं में प्रकृति की सुकुमारता का वर्णन कर ६२ वीं में पुरुष को बंधन-मोक्ष से परे बतलाया गया है। ६३ वीं में ज्ञान से मोक्ष होने तथा ६४वीं में विशुद्ध ज्ञान के स्वरूप को बतलाया गया है। ६५वीं में विवेकी मनुष्य की जगत् में स्थिति तथा ६६ वीं में प्रकृति एवं उसके पारस्परिक सम्बन्ध का वर्णन है। ६७ वीं में जीवन्मुक्त तथा ६८ वीं में विदेह-मुक्ति का वर्णन है। ६९ वीं में सांख्यद्रष्टा परमर्षि कपिल का उल्लेख करके ७० वीं में सांख्य शास्त्र प्रणेता ग्रंथकार ईश्वरकृष्ण के नाम का उल्लेख किया गया है।

निष्कर्ष रूप में यही हमारी धारणा है कि सांख्य के साथ न्याय नहीं हुआ है। ग्रन्थ के अन्त में भारतीय दर्शन के समन्वयवाद तथा भारत में दर्शन की वर्तमान स्थिति पर प्रकाश डाला गया है। हमारी यह मान्यता है कि इस समय जो भारतीय दर्शन का रूप विद्यमान है वह बौद्ध धर्म और ब्राह्मण धर्म के परस्पर क्रिया प्रतिक्रिया का परिणाम है। बौद्ध धर्म के अभ्युदय के कारण ही हमारी वैज्ञानिक प्रगति शिथिल हो गयी और समाज में अकर्मण्यता का भाव व्याप्त हो गया। भारतीय दर्शन का अध्ययन एवं अध्यापन जिस रूप में चला आ रहा है, इसे और जारी रहना देश एवं हिन्दू जाति के हित में नहीं है। इस समय दर्शन मात्र पांडित्य का प्रदर्शन रह गया है, लोक मंगल की कामना का भाव उसमें से बिल्कुल निकल चुका है। हम डंके की चोट पर कहना चाहते हैं कि आचार्य शंकर जैसा प्रतिभावान विद्वान् लोकनायक व्यक्ति इस धरती पर अवतरित नहीं हुआ था। उनके बाद के आचार्य अब विद्वान् रह गये हैं। हिन्दू समाज के निर्माण में उनकी रचनात्मक भूमिका नहीं दिखाई दे रही है। इस समय ऐसे प्रतिभावान, धार्मिक महापुरुष की आवश्यकता है जो अपने विचारों एवं व्यक्तित्व से हिन्दू समाज में व्याप्त विषमताओं को दूरकर उन्हें एक मञ्च पर ला सके।

प्रथम अध्याय

सांख्य दर्शन का इतिहास

वैदिक साहित्य एवं सांख्य

वेद[1] अर्थात् ज्ञान मानवीय मन द्वारा ज्ञेय उच्चतम आध्यात्मिक सत्य का सर्व स्वीकृत नाम है। ये हमारे ऋषियों द्वारा दृष्ट सत्यों के साक्षात्कार के उद्गार हैं, जिनकी तुलना विश्व के किसी भी ग्रन्थ से नहीं की जा सकती। वैदिक ज्ञान तर्क द्वारा प्रकट किया जाने वाला विषय नहीं अपितु आत्मा की अन्तर्दृष्टि का विषय है। वेदों का अपौरुषेयत्व ही इनकी महिमा का प्रतिपादक है। वेद की मूल संहिताएँ जो हमें आज उपलब्ध हैं, हमारे ऋषियों की वैदिक स्फूर्ति के परिचायक हैं। इनमें निहित आदेश एवं शिक्षाएँ समसामयिक घटना चक्रों से सदा अप्रभावित एवं त्रिकाल विषयक हैं। वेद[2] ज्ञान के वे मानसरोवर हैं, जहाँ से ज्ञान की विमल धाराएँ विभिन्न मार्गों से बह कर भारत के ही नहीं, अपितु समस्त जगत् के प्रदेशों को उर्वर बनाती हैं। सभी शास्त्र अपनी उत्पत्ति के लिए वेदों पर आश्रित हैं तथा अपनी प्रामाणिकता के लिए इन्हीं की दुहाई देते हैं। इसीलिए इन्हें सर्व शास्त्रयोनि स्वरूप कहा गया है। मैक्स्म्यूलर[3] कहता है :—

First what the veda really is, and, secondly, what importance it possesses, not only to the people of India, but to ourselves in Europe, and here again, not only to the student of Oriental languages, but to every student of history, religion or philosophy.

वेद चार हैं—ऋक्, यजुः, साम और अथर्व। ऋग्वेद गीतों का संग्रह है। यजुर्वेद कर्मकाण्ड परक है। सामवेद ज्ञेय प्रधान है तथा अथर्ववेद जादू-टोना से प्रभावित है। प्रत्येक वेद के चार भाग हैं, जिन्हें संहिता, ब्राह्मण,

---

१. The word Veda means literally "knowledge" that is sacred-knowledge. The Religion of the Veda P. 17

२. वैदिक साहित्य एवं संस्कृति। पृ० ६

३. The Vedas. P. 12

आरण्यक तथा उपनिषद् नामों में जाना जाता है। मन्त्रों या सूक्तों के संग्रह को संहिता कहते हैं। ब्राह्मणो में उपदेश एवं धार्मिक कर्त्तव्यों का विधान है। आरण्यकों में जीवन के रहस्य पर प्रकाश डाला गया है और उपनिषद आत्म-ज्ञान या ब्रह्मज्ञान से सम्बन्धित हैं। ये विभाग ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं सन्यास आश्रमों की वैज्ञानिक व्याख्या प्रस्तुत करते हैं।

वेदों में ऋग्वेद सर्व प्राचीन है। देव चर्चा ही इसका मुख्य विषय है। सभी देवता प्रकृति की शक्तियों के रूप में प्रतिष्ठित हैं। उनका चित्रण एक उच्चतर व्यक्तित्व के रूप में हुआ है। राधाकृष्णन[१] के शब्दों में मानव मस्तिष्क रूपी कारखाने में देवमाला के निर्माण की पद्धति ऋग्वेद में जैसी स्पष्ट देखी जाती है, वैसी अन्यत्र नहीं मिल सकती। वेद दार्शनिक ज्ञान के आदि श्रोत हैं। किसी भी विचारधारा की सही-सही व्याख्या के लिए ऋग्वेद के सूक्तों का अध्ययन आवश्यक है। ऋग्वेद के सूक्त[२] इस अंश में दार्शनिक हैं कि वे संसार के रहस्य की व्याख्या किसी अति मानवीय अन्तर्दृष्टि अथवा असाधारण दैवी प्रेरणा द्वारा नहीं, अपितु स्वतंत्र तर्क द्वारा करने का प्रयत्न करते हैं। प्राचीनकाल से ही सांख्य एक लोकप्रिय दर्शन के रूप में ज्ञात है।

वैदिक सूक्तों में हम प्रकृति के सौन्दर्य, महानता एवं उसकी भव्यता और कारुण्यमय स्वभाव के प्रति उत्कट अनुराग पाते हैं। इन सूक्तों में जगत् के मिथ्या होने के विचार का कहीं संकेत नहीं मिलता, जो सांख्य विचारधारा के अनुरूप है। वैदिक सूक्तों में बुद्धि का प्रकाश सर्वत्र एक-सा नहीं मिलता। उनमें विश्व के विविध विचारों का सामञ्जस्य दिखाई देता है। इनमें निहित सृष्टि विषयक अनेक उपाख्यानों को एक सामान्य विचार-धारा में पर्यवसित करने का श्रेय सांख्य को ही है।

ऋग्वेद के परवर्ती[3] भाग और उत्तरकालीन साहित्य में संसार की पहेली को खोलने के लिए अपेक्षाकृत अधिक गम्भीर प्रयास किए गए हैं। इस

---

१. The process of god-making in the factory of man's mind can not be seen so clearly any whereelse as in the Rg.-Veda.
Indian Philosophy vo I P. 73 (R K)

२. I P vo I P. 71 (R. K.)

३. The late tenth book also gives us the beginnings of the Philosophy of India. The Cambridge History of India vol. I P 107

संदर्भ में ऋ० १०/१२९ नासदीय सूक्त का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण है। ह्विटनी, ड्यूसन, ब्लूमफिल्ड, मैकडोनल, विन्टरनित्ज आदि पाश्चात्त्य[1] एवं भारतीय विद्वानों[2] ने इसके दार्शनिक महत्त्व को स्वीकार किया है।

प्रो० ए० बी० कीथ[3] कहते हैं—निश्चय ही इस सूक्त के प्रथम विन्दु का बाद के अधिकांश दर्शन में पुनरावर्तन हुआ है, किन्तु इसकी संशयालु आत्मा आज भी भारत की श्रेष्ठ दार्शनिक पद्धतियों में हाथ उठाए अलग खड़ी है। ऋ० (१०/१२१) हिरण्यगर्भ सूक्त में सृष्टि के विकास का वर्णन है। प्रारम्भ में हिरण्यगर्भ उत्पन्न हुआ, जो विश्व में व्याप्त हो गया। सृष्टि का यह उत्पादक एवं प्रथम उत्पत्ति भी थी। यही विश्व का आदि तत्त्व था। यहाँ सांख्य की प्रकृति को समझा जा सकता है। ऋ० १०/९० पुरुष सूक्त में वर्णित विराट पुरुष जगत का आदि कारण बनता है। इसे सांख्य की प्रकृति के रूप में पर्यवसित किया जा सकता है। इसी प्रकार ऋग्वेद में अन्यत्र भी सांख्य के अनेक पद एवं सिद्धान्त यत्र-तत्र बीज रूप में मिलते हैं।

---

१. (a) Proceedings of American Oriental Society. Vo XI P. 111 W. D. Whitney
   (b) The Religion of the Veda P. 237 M. Bloomfield.
   (c) A History of Sanskrit Literature. P. 116-117 A. A. Macdonell
   (d) A History of Indian Literature. Vo I PP. 90-91 M. Winternitz.
   (e) The Six System of Indian Philosophy PP. 49-50 Mascmuller.

२. (a) I. P. VoI PP. 101-102 R. K.
   (b) H. I. P. VoI PP. 24-25 Das Gaupta.
   (c) Out Lines of I. P. P. 42 M. Hiriyanna.
   (d) सांख्य सिद्धान्त पृ० ३५१-३६७ उदयवीर शास्त्री
   (e) Hymn of Creation. V. S. Agrawal

३. While much of its content is repeated in the later philosophy, its spirit of doubt is wholly alien to the classical philosophical systems of India. The Religion and Philospphy of Veda. and Upamisads. Vo II P. 435

मैकडोनल[1] ने ऋग्वेद में प्रतिपादित सृष्टि विज्ञान को दो रूपों में समझा है। प्रथमतः उनके अनुसार विश्व एक यांत्रिक उत्पत्ति है, दूसरे के अनुसार एक प्राकृतिक परिणाम।

दार्शनिक सूक्तों में और न देवाख्यानों में ही देवताओं को अनादि एवं अनन्त माना गया है। वैदिक दर्शन उन्हें सर्ग के पश्चात् उत्पन्न हुआ मानता है। इस प्रकार वैदिक सूक्तों में जगत की सत्ता को वास्तविक माना गया है, जिसे देखकर आदि कारण प्रकृति का अनुमान किया जा सकता है। जगत की वास्तविकता का विचार सांख्य की सृष्टि-विषयक धारणा से बहुत कुछ साम्य रखता है, परन्तु सांख्य की मूल प्रबृत्ति जिसके अनुसार यह संसार दुःखमय है और मनुष्य को इस दुःखमय जगत से छुटकारा दिलाने वाले उपाय को जानने की जिज्ञासा रखनी चाहिए वैदिक काल में नहीं दिखाई देती[2]। विकल्प में भौतिक विकास पर यहां विशेष बल दिया गया है।

ब्राह्मण :—

ब्राह्मण ग्रन्थों का मुख्य विषय यज्ञ है। अश्वमेध यज्ञ ब्राह्मण संस्कृति के चरमोत्कर्ष का संलक्षक है। यज्ञों के अन्दर प्रेरणा का लक्ष्य संसार के उत्तम वस्तुओं के प्रति प्रेम है। मनुष्य के कर्त्तव्य का भाव सबसे पहले ब्राह्मण ग्रन्थों से उदित होता है। सांख्य-विचारों को यहाँ बड़ी कठिनाई से ढूढ़ा जा सकता है। व्यावहारिक जगत् की सत्यता पर बल देने के कारण ब्राह्मण ग्रन्थों में सांख्य विचारों की संभावना की जा सकती है। दालमन[3] के अनुसार ब्राह्मण ग्रन्थों में सांख्य सिद्धान्तों को बीज रूप में देखा जा सकता है। शतपथ ब्राह्मण में पच्चीसवें तत्त्व आत्मा का निर्देश

१. The Cosmogonic mythology of R. V. fluctuates between two theories, the one regards the universe as the result of mechanical production, the other represents it as result of natural generation. Vedic Mythology. P. 11

२. In Vedic times, there had been no notion of the world being the seat of suffering and there was no eagerness for man to escape from the world–Some Fundamental Problems in Indian Phylosophy. P. 189

३. Samkhya System. P. 59

कई स्थलों पर हुआ है[१], जिसकी पुरुष के साथ तुलना सांख्य की जा सकती है। इसी प्रकार ब्राह्मण तथा आरण्यकों में सांख्य के पच्चीसवें तत्त्व पुरुष[२] का उल्लेख मिलता है। प्रो० ए० बी० कीथ[3] इससे सहमत नहीं हैं। जान्स्टन[४] ने शतपथ ब्राह्मण (१०।१।३।४) में दो विरोधी स्वभाव वाले तत्त्वों का उल्लेख माना है, जिसे सांख्य के दो तत्त्वों के रूप में समझा जा सकता है। अथर्ववेद[५] परिशिष्ट ऋषि तर्पण मंत्र में सांख्याचार्यों के नाम का उल्लेख मिलता है।

उपनिषद् :—

उपनिषद् वेद के अन्तिम भाग हैं। इसीलिए इन्हें वेदान्त की संज्ञा दी जाती है। उपनिषदों में ब्रह्म सिद्धान्त प्रधान है। ब्रह्म और आत्मा का समीकरण ही उपनिषद्-विचारों का मूल है। उपनिषदों का लक्ष्य सत्य की खोज करना है। उपनिषदें नींव के रूप में हैं, जिन पर सम्पूर्ण भारतीय-दर्शन का भव्य प्रासाद खड़ा है। हिन्दू[६] विचारधारा का एक भी ऐसा महत्त्वपूर्ण अंग नहीं है, जिसमें नास्तिक नामधारी बौद्धमत भी आता है, जिसका मूल उपनिषदों में न मिलता हो। सांख्य की प्राचीन परम्परा को स्थापित करने के लिए उपनिषदों में इसे ढूढ़ना अत्यन्त आवश्यक है। डॉ० रानाडे[७] ने उपनिषदों में सृष्टि विज्ञान को दो रूपों में समझा है।

---

१. शतपथ ब्राह्मण ९/१/१/४४, ९/३/३/१९, १०/१/२/८, १०/१/२/९

२. ऐतरेय आरण्यक १/१/२,४ १/२/२, शतपथ ब्रा १२/२/३/३
काठक संहिता ३३/८

३. Samkhya System. P. 58–59

४. A good startiny point is provided by the passage in Satpatha Brahman. X. 1. 3. 4. which divides the individual into five immortal parts and five mortal parts. Early Samkhya. P. 18

५. अथर्ववेद ४३/३। १–२५

६. There is no important form of Hindu Throught heterodox Buddism included which is not rooted in the Upanishads.
The Religion of the Veda. P. 51

७. We may thus proceed to divide the theories of Upanishdic cosmogony into two main groups : the impersonalistic and the personallistic. A Conarructive Survey of Upanishdic Philosophy. P. 75

सांख्य एवं उपनिषद् के आदान-प्रदान के सम्बन्ध में विविध संभावनाओं को उपस्थापित करते हुए लोकमान्य तिलक[१] ने सांख्य को वेदान्त (उपनिषद्) का ऋणी बताया है। कीथ[२] आदि विद्वानों का भी यही अभिमत है। जबकि वास्तविकता यह है कि सांख्य परम्परा उपनिषदों से प्राचीन है। प्रो० याकोवी[३] आदि कुछ विद्वान सांख्य का विकास प्राचीन उपनिषदों में नहीं मानते। उपनिषदों में बृहदारण्यक[४] एवं छान्दोग्य सबसे प्राचीन हैं। इनमें सांख्य दर्शन के मूल सिद्धान्तों का संकेत बीज रूप में मिलता है। यह अन्य बात है कि सांख्य की परवर्ती विकसित अवस्था की विशिष्टताएँ इनमें नहीं मिलती। कठ, प्रश्न[५], श्वेताश्वतर आदि परवर्ती उपनिषदों में सांख्य के पारिभाषिक पदों एवं सिद्धान्तों का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। इस सन्दर्भ में श्वेत० उप० का विशेष महत्व है। इसके विषय में चर्चा करते हुए राधाकृष्णन[६] कहते हैं कि सांख्य यहाँ कुछ परिवर्तित रूप में स्वीकृत है। उनके अनुसार श्वेत० उप० का निर्माण ऐसे काल में हुआ जब बहुत से दार्शनिक सिद्धान्त प्रस्फुटित हो रहे थे। ऐसा प्रतीत होता है कि इस उपनिषद् का आशय वेदान्त, सांख्य एवं योग दर्शनों का आस्तिकवादपरक समन्वय करना है। कीथ[७] ने इस उपनिषद् में सांख्य का स्पष्ट उल्लेख माना है। मैक्स्म्यूलर[८] इस विषय में संदिग्ध हैं।

---

१. गीता रहस्य पृ० १५६–१५७

२. Samkhya System P. 47–48 , O. & D. S. S. T. 11–41
S. S. I. P. 320

३. (a) सांख्य दर्शन की ऐतिहासिक परम्परा, पृ० १५
(b) Samkhya ideas are not found in the oldest Upanishads. Hindism and Buddhism Vo II P. 305 Charles Eliot

४. बृ० उ० १/४/३ १/२/५. २/४/१० ४/५/१२, ४/४/५
छा० उ० ४/१/४, ६/८/४, ६/३/३,४ ६/४/७

५. प्रश्न 4/8, १/४,५ कठ १/३/१०,११, २/३/१
श्वे० उ० ५/२, ५/४, ६/१३, १/८, १/९, १/६, ६/१०

६. I. P. Vol I P. 142

७. Samkhya System 11

८. No doubt there are expresions in this Upanishad which reminds us of tehcnical terms used at a later time in the Samkhya System of philosophy. But of Samkhya doetrine which I had formerly suspected in this Upanishad. S. B. E. Vo XV Introduction. P. 34

जान्स्टन[१] ने इस उपनिषद् में आए पद षोडशान्त्यं, शतर्धारम् आदि का विस्तृत व्याख्यान किया है तथा इन्हें सांख्यानुसार माना है।

उपनिषदों में आत्मज्ञान पर विशेष बल दिया गया है, जिससे इस संसार के दुःखों से छुटकारा मिल सके। आत्मनिरीक्षण सम्बन्धी उपनिषदों की सफलता अपूर्व है। उपनिषदों की शिक्षाओं में यह भाव कहीं नहीं मिलता कि जीवन एक भयानक दुःख स्वप्न हैं और यह जगत-विपत्तियों एवं दुःखों से परिपूर्ण है। इसलिए वार्थ[२] कहता है कि दुःख एवं क्लान्ति के भाव की अपेक्षा उप।नषदों में कल्पनात्मक साहस की मात्रा कहीं अधिक पायी जाती है।

प्राचीन वैदिक साहित्य तथा उपनिषदों के साथ सांख्य का सामञ्जस्य स्थापित हो जाने के बाद सांख्य की प्राचीनता एवं प्रामाणिकता स्वतः सिद्ध हो जाती है। सांख्य समग्र रूप में वैदिक साहित्य का प्रतिनिधित्व करता है। उसे किसी प्रकार भी श्रुति विरुद्ध नहीं कहा जा सकता। हाँ इतना अवश्य है और जैसा आचार्य पं० आद्या प्रसाद मिश्र[3] कहते हैं कि सांख्य दर्शन बहुत कुछ श्रुतियों से विकसित होने पर भी उनका भाष्य नहीं अपितु स्वतंत्र विकास है।

सांख्य दर्शन की सार्वभौमिकता :—

संस्कृत भाषा का दर्शन, साहित्य उसकी अन्य शाखाओं की तुलना में सर्वाधिक विशाल है। उसमें भी सांख्य दर्शन अत्यन्त प्राचीन होने से अत्यधिक महत्वपूर्ण है। प्राचीन वैदिक साहित्य तथा महाभारत आदि ग्रंथों में सांख्य के प्राचीन आचार्यो आसुरि, पञ्चशिखादि का संकेत मिलता है। इसी आधार पर वेवर[४] ने सांख्य को भारतीय दर्शनों में

---

१. Some Sankhya & Yoga Conceptions of the Svetasvatara Upnishad. J. R. A. S. 1930, PP. 855-878

२. The doctrines therefore appear to us to be from the first much more instict with the spirit of speculative daring than the sense of suffering and weariness. The Religions of India, P. 84

३ सांख्य दर्शन की ऐतिहासिक परम्परा, पृ० ३५

४. I am especially induced to regard the Sankhya as the oldest of existing systems. The History of Indian literature, P. 235

सबसे प्राचीन माना है। गार्वे[१] के अनुसार कपिल के ही सिद्धान्तों में सर्वप्रथम मानव मानस को पूर्ण स्वतंत्रता मिली, एवं उसकी शक्तियों का प्रथम प्रकाशन हुआ। अलवर्ट शेजर[२] कहता है—

The Samkhya doctrine is a wonderful achievement. Rarely human thought has a theoretical problem been so clearly recognised, rarely has a solution been undertaken and achieved with such clear judgement

महाभारत के शांति पर्व में सांख्य की महत्ता एवं लोकप्रियता पर प्रकाश डाला गया है—

ज्ञानं महद्यद्धि महत्सु राजन, वेदेषु सांख्येषु तथैव योगे।
यच्चापि दृष्टं विविधं पुराणे, सांख्यागतं तन्निखिलं नरेन्द्र ॥
यच्केतिहासेषु महत्सु दृष्ट यच्चार्थशास्त्रे नृपशिष्टजुष्टे।
ज्ञानं च लोके यदिहास्ति किञ्चित् सांख्यागतं तच्च महन्महात्मन्।

म. भा. १२।३०१।१०८,१०९

नास्ति सांख्य समं ज्ञानं नास्ति योग समं वलम् ॥

म. भा. १२।३१६।२

अधिकांश[३] विद्वान यहां तक मानते हैं कि सांख्य ही एक मात्र दर्शन था, कालान्तर में दृष्टि भेद और प्रस्थान भेद से अन्य दर्शनों का प्रादुर्भाव हुआ। डेविस[४] आदि विद्वानों की भी यही सम्मति है। यहाँ महाभारत,

---

१. In Kapil's doctrine, for the first time in the history of the world, the complete independence and freedom of the human mind, its full confidence in its own powers were exhibited. The Philosophy of Ancient India P. 30

२. Indian Thought and its Development. P. 73

३. Many scholars are of opinion that the Sankhya and the yoga represent the earliest systematic speculation of India. History of Indian Philosophy Vo. I, P. 78

४. The System of Kapil contains nearly all that India has produced in the department of pure philosophy.
Davies, Sankhyakarika P. 5
Indeed, to understand the Sankhya is to understand the basis of all these systems—N.V. Thadani. The Secret of the Sacred Books of the Hindus. P. 49

पुराण, बौद्ध, जैन, आयुर्वेद, ज्योतिष, साहित्य आदि ग्रंथों में सांख्य के स्वरूप को उपस्थापित किया जा रहा है।

महाभारत :—

महाभारत को पाँचवें वेद की संज्ञा दी जाती है। इसे आचरण एवं समाज-शास्त्र के विषय पर प्रामाणिक ग्रन्थ समझा जाता है। महाभारत के दार्शनिक व्याख्यान में सांख्य का महत्वपूर्ण स्थान है। शान्तिपर्व में कपिल-आसुरिसंवाद, वशिष्ठ-करालजनक संवाद, याज्ञवल्क्य-दैवराति जनकसंवादके रूप में तथा अन्यत्र भी सांख्य विचारों को उपस्थित किया गया है। दासगुप्त[१] ने तत्वों के आधार पर महाभारत में त्रिविध-सांख्य की कल्पना की है तथा २४ तत्व वाले सांख्य को मौलिक सांख्य कहा है। राधाकृष्णन[२] का मत है कि सांख्य के ही सिद्धांत कुछ परिवर्तित रूप में ही भारत में स्वीकृत हैं। इसमें संदेह नहीं कि सांख्य के विचार धीरे-धीरे इस काल में पक रहे थे। यद्यपि एक दर्शन-पद्धति के रूप में उनकी रचना अभी तक नहीं हुई थी। उनके अनुसार महाकाव्य के दर्शन का स्वरूप ईश्वरवादी है और उसमें जो कुछ सांख्य के अँश विद्यमान हैं, उन्हें ईश्वरवाद की ओर लगाया गया है। वेल्वल्कर[३] ने महाभारत में २५ तत्ववाले तथा २६ तत्व वाले द्विविध सांख्य की कल्पना की है। दालमन[४] का कहना है कि सांख्य के सिद्धान्त महाभारत में सर्वत्र व्याप्त हैं। लोकमान्य तिलक[५] के अनुसार महाभारत में व्यक्ताव्यक्त एवं क्षेत्र क्षेत्रज्ञ विचार सांख्य के अनुरूप हैं। हापकिंस[६] महाभारत में वर्णित छः प्रमुख सिद्धान्तों में सांख्य का महत्वपूर्ण स्थान माना है।

गीता :—

गीता हिन्दू चिन्तन की सर्वोत्तम कृति है। इसे उपनिषद् का नवनीत

---

१. History of Indian Philosophy Vo I P- 217
२. I. P. Vo I, P. 502
   I. P. Vo II, P. 252
३. B. C. V· PP. 176-148
४. Die Sankhya Philosophie (als) P. 1–19
५. गीता रहस्य, पृ० १२९–१५५, १७५, १६०-१६१
६. The Great Epic of India P. 81 FF

कहा जाता है। किसी ग्रन्थ[1] का मनुष्य के मन पर कितना अधिकार है, इसे उस ग्रंथ के महत्व की कसौटी समझा जाए तो कहना होगा कि गीता भारतीय विचारधारा में सबसे अधिक प्रभावशाली ग्रंथ है। सांख्य का मनोविज्ञान तथा सृष्टिक्रम गीता में स्वीकृत है, यद्यपि उसके अध्यात्मशास्त्र सम्बन्धी संकेतों को अमान्य ठहराया गया है। गार्वे[2] के अनुसार सांख्ययोग की शिक्षाएँ ही लगभग पूर्ण रूप में भगवद्गीता के दार्शनिक विचारों का आधार है। दासगुप्त[3] गीता में उल्लिखित सांख्य को कपिल का सांख्य नहीं मानते। उनके अनुसार गीता में पुरुष चिद्रूप नहीं है।

पुराण सृष्टि-विज्ञान सम्बन्धी विचारों का संलक्षक है, और सृष्टि विज्ञान तत्व ज्ञान की आधार शिला है। पुराणों में सर्ग प्रतिसर्ग वर्णन ही मुख्य है[4]। सांख्य के प्रति पुराण इतिहास की अपार श्रद्धा है। पुराणों में सांख्य एवं कपिल का विवेचन कई स्थलों पर हुआ है। देवी भागवत्[5] में सांख्य को परमज्ञान एवं सर्वाज्ञान नाशक कहा गया है।

मनुस्मृति एवं अर्थशास्त्र :—

स्मृतियों में मनुस्मृति का स्थान सर्वोपरि है। यह मूल रूप में एक धर्मशास्त्र है, जिसमें नैतिक नियमों का विधान है। इसने प्रथाओं एवं परम्पराओं को ऐसे समय में गौरव प्रदान किया जब उनका मूलोच्छेदन हो रहा था। काल ब्रुक[6] जैसे विद्वान मनुस्मृति को पुराण एवं महाभारत के दार्शनिक विवेचन का नेता मानते हैं। मनुस्मृति[7] में सांख्य के प्रकृति, महत्, इन्द्रिय

---

१. Yet if the hold which a work has on the mind of man is any clue to its importance, then the Gita is the most influential work in Indian Thought. I. P. Vo I, P. 519

२. I. P. Vo I, P. 527

३. H. I. P. Vo II, P.P. 471–473

४. सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च।
वंशानुचरितं चैव पुराणं पञ्चलक्षणम् ॥

५. कपिलं शास्त्रमाख्यातम् सर्वाज्ञाननाशनम्, दे० भा० ८/२/१४–२०

६. I. P. Vo I, P. 516

७. मनुस्मृति १/५–६३, २/८८–१००, १२/२४–३०, ४०, ५०, ८२, ९१, ९८, १०२, १०५, १११, ११८–१२०.

महाभूत, तन्मात्र, त्रिगुण एवं प्रमाण त्रय जीवन्मुक्त आदि का विवेचन मिलता है। कौटिल्य का अर्थ शास्त्र एक महत्वपूर्ण राजनीतिक ग्रंथ है, जिसके प्रारम्भ में ही सांख्य[1] योग एवं लोकायत को आन्वीक्षिकी कहा गया है।

चरक एवं सुश्रुत संहिता :—

चरकसंहिता में[2] सांख्य का पांडित्य तथा दर्शन के अर्थ में प्रयोग है। सांख्य की अष्ट प्रकृति एवं षोडश विकारों का विभाजन भी स्वीकृत है। आत्मा को निर्गुण, निष्क्रिय एवं निर्विकार कहा गया है। अग्निवेश[3] भगवान अत्रेय से पूछता है—"धातु भेद से कितने प्रकार के पुरुष होते हैं?"

अत्रेय ने उत्तर में तीन प्रकार के पुरुष का वर्णन किया है—(१) षड्धातु पुरुष (२) एकधातु पुरुष (३) चौबीस धातु वाला पुरुष। इनमें द्वितीय प्रकार का पुरुष ही सांख्य का पुरुष है, क्योंकि यह वैद्य के लिए निष्प्रयोजन है। दासगुप्त ने चरक के सांख्य को मौलिक एवं प्राचीन सिद्ध करने का विस्तृत प्रयास किया है[4]। यह इनकी अपूर्वता कही जा सकती है, जो इस आयुर्वेद ग्रन्थ में सांख्य विचारों को ढूँढ़ने का प्रयास किया। सुश्रुत संहिता[5] में, सांख्य की अष्ट प्रकृति षोड्श विकार, क्षेत्रज्ञ (पुरुष) का वर्णन किया गया है।

अहिर्बुध्न्यसंहिता एवं बृहत्संहिता :—

पाञ्चरात्र सम्प्रदाय की अहिर्बुध्न्य संहिता[6] में त्रिगुण तथा सांख्यीय प्रमेयों का उल्लेख है। षष्टितन्त्र तथा कपिल का भी आख्यान है। षष्ठि-तन्त्र को वैष्णव सांख्य कहा गया है तथा उसे प्राकृत एवं वैकृत दो मण्डलों में विभक्त किया गया है। बाराहमिहिर प्रणीत बृहत्संहिता के व्याख्याकार भट्टोत्पल[7] ने अपनी व्याख्या में २२–३० तक की कारिकाओं को उद्धृत किया है। इसके पूर्व भी कपिल पद आया है।

---

१. सांख्य योगा लोकायतं चेत्यान्वीक्षिकी कौटिल्यार्थशास्त्र, पृ० ११
२. O & D S S–T PP. 2-3
३. चरकसंहिता सूत्रस्थानम् पूर्वभाग १/५५
   ,, शारीरस्थानम् १/२, १५, १६
४. H. I. P. Vo I, 213–217
५. शारीरस्थानम् १/३, १/२२
६. अहिर्बुध्न्यसंहिता ११/५–८, १२/१८–३०
७. बृहत्संहिता, भाग १० खण्ड १
   कपिल;सांख्याचार्यो जगतः कारणं प्रधानमाह; सां० का० २२–३०

बौद्ध एवं जैन ग्रन्थ :—

बौद्ध ग्रन्थों में सांख्य की विशद् चर्चा है। गार्वे ने[१] ब्रह्म जाल सुत्त के एक अवतरण में बुद्ध को सांख्य से परिचित बताया है। जहाँ बेबर याकोबी, गार्वे सांख्य की प्राचीनता को स्वीकार करते हैं, वहाँ प्रो० ए० वी० कीथ[२] का मत इसके विपरीत है। इनके अनुसार त्रिगुण सिद्धान्त बौद्धग्रंथों में नहीं है, जो सांख्य की आधार शिला है। कारणता एवं निराशावाद के लिए भी सांख्य बौद्ध धर्म का ऋणी हैं। राधाकृष्णन[3] बर्नफ, बेबर, याकोवी आदि विद्वानों के वक्तव्यों के आधार पर निष्कर्ष रूप में यह कहना चाहते हैं कि यह संसार दुःखमय है और प्रकृति से विच्छेद होना ही मोक्ष है। इसी सिद्धान्त से बुद्ध को भी सुझाव मिला होगा तथा सांख्य की मानसिक प्रक्रिया के अनुसार उन्होंने स्कंध विषयक सिद्धान्त निश्चित किया होगा। सांख्य[४] के ग्रंथ जो हमें आज उपलब्ध हैं, वे बौद्ध धर्म के प्रादुर्भाव के पश्चात् के ही हैं और हो सकता है इन पर बौद्ध सिद्धान्तों का प्रभाव पड़ा हो, परन्तु सांख्य के विचार बुद्ध से प्राचीन हैं। दासगुप्त[५] के अनुसार सांख्य को बौद्ध धर्म का उपजीव्य प्रतिपादित करने वाले विचारों में कुछ सत्यता की सम्भावना की जा सकती है, परन्तु उपलब्ध सांख्य ग्रन्थ बौद्ध धर्म के पश्चात् के ही मिलते हैं। डॉ० रामचन्द्र पाण्डेय[६] ने बौद्ध-दर्शन को सांख्य का ऋणी सिद्ध किया है। उपर्युक्त आधारों पर कीथ का मत नितांत असंगत एवं निस्सार प्रतीत होता है। बुद्ध चरित के १२ वें अध्याय में अराड ने जो बुद्ध को उपदेश दिया है वह सांख्यानुसार है। उसमें[७] प्रकृति, महत्, इन्द्रियाँ, मन, तन्मात्र, महाभूत, क्षेत्रज्ञ, तम, मोह, महामोह, तामिस्र तथा अंधतामिस्र का विवेचन हुआ है, जो सांख्यकारिका के वर्णन से मिलता जुलता है। प्रो० ए० वी०[८] कीथ को यहाँ सांख्य का प्रभाव मान्य

---

१. Die Samkhya Philosophie P. 5
२. Samkhya System pp. 25-33
३. I. P. Vo I, pp. 472-473
४. I. P. Vo II, p. 251
५. H. I. P. Vo I, p. 78
६. Introduction to Yuptidipica p. 23 R. C. Pandey
७. बुद्धचरित, १२ अध्याय पृ० ९५-१०७
८. Samkhya System PP. 27-28

नहीं है, क्योंकि उक्त ग्रंथ से त्रिगुण विवेचन नहीं है, जो सांख्य का आधारभूत सिद्धान्त है। डॉ० अनिमा सेन गुप्ता[1] ने सर्वप्रथम इस ग्रंथ में सांख्य के द्वैतवाद को विविक्त माना है। बौद्ध धर्म के दूसरे ग्रंथ दीघ निकाय में संखा संखिया पधान पकति का प्रयोग भी निश्चित करता है कि बौद्धधर्म तथा दर्शन सांख्य से प्रभावित है। जैन ग्रंथ अनुयोग द्वार[2] सूत्र में, काविलं सट्ठियंतं, कणग सत्तरी, माठर आदि पदों का उल्लेख है। कल्पसूत्र में भी सठ्ठितंत्र का उल्लेख हुआ है। इससे कपिल एवं सांख्य ग्रंथों के अस्तित्व पर प्रकाश पड़ता है और सांख्य का पूर्ववर्तित्व सिद्ध होता है।

षड्दर्शन समुच्चयादि :—

षड् दर्शन[3] समुच्चय में राजशेखर सूरि ने १८ श्लोकों (४२-५९) में तथा आचार्य शंकर[4] ने सर्व सिद्धान्तसंग्रह के ४० श्लोकों में सांख्य सिद्धान्तों को उपस्थापित किया है। माधवाचार्य[5] ने सर्व दर्शन संग्रह में सांख्य सिद्धान्तों को संक्षेप में प्रस्तुत किया है। इन आचार्यों ने सांख्य-कारिका को सांख्य का आधार ग्रन्थ माना है। शंकर एवं राजशेखर सूरि ने आचार्य माठर की व्याख्या को तथा माधवाचार्य ने वाचस्पति मिश्र की मान्यता को अधिक संगत माना है।

अलबीरूनि के लेख आदि :—

अलबीरूनि[6] ने सांख्यकारिका के आधार पर सांख्यीय प्रमेयों का उल्लेख किया है। उन्होंने भौतिक सर्ग पर विशेष रूप में प्रकाश डाला है। उन्होंने सांख्य के सम्बन्ध में इस प्रकार लिखा है—The book Samkhya composed by Kapil on devine subjects. ए० एल० बाशम ने[7] सांख्यकारिका के ही आधार सांख्य दर्शन की संक्षिप्त रूप रेखा प्रस्तुत की है।

---

१. Asvaghosa's Buddhacarit may, perhaps betaken as a further development of the dualistic Samkhya. E. S. T. P. 121

२. अनुयोगद्वारसूत्र, ४१, कल्पसूत्र

३. षड्दर्शन समुच्चय, सांख्य भाग (४२–५९)

४. सर्वसिद्धान्त संग्रह, पृ० २८–३१

५. सर्वदर्शन संग्रह, पृ० ५२७–५५३

६. Alberunis India Vo I, P. 40–43, 6?, 64, 75, 81, 89, 92, 132

७. The Wonder that was India Vo I, pp. 324–325

साम्यवाद तथा अन्य :—

साम्यवाद का केन्द्रविन्दु मानव है। मानव मूल्य की सूक्ष्म वैज्ञानिक व्याख्या जो सांख्य ने प्रस्तुत की, और जिसके अनुसार मनुष्य स्वभावतः ज्ञान की खोज में प्रवृत्त होता है साम्यवाद से अधिक निकट है। मार्क्स ने जो धर्मविहीन, वर्गविहीन एवं ईश्वरविहीन समाज की कल्पना की है वह सांख्य के इस कथन—'मानषश्चैकविधः''[१] से अधिक मेल खाता है। अत्यन्त नास्तिक चार्वाक दर्शन भी जो भौतिक जगत को सब कुछ समझता है, सांख्य दर्शन से प्रभावित है क्योंकि सांख्य भोग एवं अपवर्ग द्विविध प्रयोजनों को सिद्ध करने वाला शास्त्र है, जिसमें तत्वाभ्यास में सर्वप्रथम जगत् के ज्ञान पर बल दिया गया है। संस्कृत साहित्य के महाकवि माघ[२] भी सांख्य से अपरिचित नहीं हैं। शिशुपालबध के प्रथम सर्ग में ही अनौपचारिक रूप से सांख्य की ओर संकेत किया गया है। इस प्रकार खंडन[3] या मण्डन में सर्वत्र सांख्य का उल्लेख हुआ है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि वेद, उपनिषद, महाभारत, पुराण, बौद्ध, जैनग्रन्थ, आयुर्वेद, ज्योतिष एवं सभी संस्कृत साहित्य किसी न किसी रूप में सांख्य के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं। सभी पुराण एवं स्मृतियाँ सांख्य तथा इसके आचार्यों के प्रति असीम श्रद्धा रखते हैं। सृष्टि एवं तत्वज्ञान विषयक प्राचीनतम् विचारधारा होने के नाते सभी आस्तिक एवं नास्तिक दर्शनों पर इसका प्रभाव पड़ना सम्भव एवं स्वाभाविक[४] है। इस प्रकार श्रुति एवं स्मृति सभी इसकी प्रशंसा से ओत-प्रोत हैं और धर्म-प्रधान भारतीय जन मानस पर इसकी अमिट छाप है।

---

१. सांख्यकारिका, ५३

२. शिशुपालवधम् १/३३

३. Since this is either supported or controverted by every philosophical system. Introduction P. 1 Tattvakaumidi by Ganganath Jha.

४. It (Samkhya) could not but influence all other Indian circles, whether in the pale of brahmanism or outside it.
Buddist Logic. Vo I, P. 18

सांख्य-द्रष्टा परमर्षि कपिल

वैदिक साहित्य, रामायण, महाभारत एवं पुराणों में परमर्षि कपिल का अनेक बार उल्लेख हुआ है। यथा—

दशानामेकं कपिलं समानं तं हिन्वन्ति क्रतवे पार्याय।
गर्भं माता सुधितं वक्षणास्व वेनन्तं तुषयन्ती विभर्ति ॥

(ऋ० १०।२७।१६)

सायण ने कपिल पद का अर्थ एक प्रसिद्ध ऋषि किया है—एकं मुख्यं कपिलं एतन्नामानं तं प्रसिद्धमृषिम्। श्वे० उ० में परमर्षि कपिल की ज्ञानवत्ता पर प्रकाश डाला गया है—

यो योनिं योनिमधितिष्ठत्येको विश्वानि रूपाणि योनीश्च सर्वाः।
ऋषिं प्रसूतं कपिलं यस्तमग्रे ज्ञानैर्विभर्ति जायमानं च पश्येत् ॥

(श्वे० उ० ५।२)

विश्वविश्रुत भगवद्गीता में कपिल को सिद्ध मुनि कहा गया है—

अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां देवर्षीणां च नारदः।
गन्धर्वाणां चित्ररथः सिद्धानां कपिलो मुनिः ॥

(गीता १०।२६)

महाभारत में कपिल को सांख्य का वक्ता कहा गया है—

सांख्यस्य वक्ता कपिलः परमर्षिः स उच्यते।
हिरण्यगर्भो योगस्य वेत्ता नान्यः पुरातनः ॥

(म० भा० १२।३५०।६५)

महाभारत में ही भीष्म ने कपिलादि सांख्याचार्यो को ईश्वर कहा है—

शृणु मे त्वमिदं सूक्ष्मं सांख्यानां विदितात्मनाम्।
विहितं यतिभिः सर्वैः कपिलादिभिरीश्वरैः ॥

(म० भा० १२।३०१।३)

महाभारत में कपिल को सगरपुत्र-प्रतप्ता के रूप में वर्णित किया गया है—महाराज सगर के साठ हजार पुत्रों ने अपने पिता के यज्ञीय अश्व को जब कपिल के आश्रम में बँधा हुआ देखा तो वे सब क्रुद्ध होकर कपिल का अनादर करते हुए घोड़े को अपने अधीन करने के लिए उनकी ओर दौड़े। इस पर मुनियों में श्रेष्ठ बासुदेव कपिलमुनि ने क्रुद्ध होकर अपने तेज से मन्द बुद्धि वाले उन सगर पुत्रों को एक ही साथ भस्म कर दिया[1]।

बाल्मीकि रामायण में भी यह प्रसंग आया है—बड़े तीक्ष्ण बेग वाले,

---

१. महाभारत, वनपर्व १०७/२९–३३।

महाबली और बड़े शरीर वाले सगर पुत्रों ने वहाँ सनातन बासुदेव कपिल को देखा और उनके समीप ही घोड़े को चरते हुए देखकर वे सब बड़े आनन्दित हुए। कपिल को घोड़ा चोर समझकर क्रोध से लाल-लाल नेत्र वाले खनित्र तथा लांगूल को धारण करने वाले, तरह-तरह के वृक्ष तथा पत्थरों को धारण किये हुए वे सगर पुत्र दौड़े और ठहर-ठहर ऐसा कहने लगे— हे दुर्बुद्धे! तू ने हमारा यज्ञीय अश्व हरा है, आये हुए तू हमको सगर पुत्र जान। उनके दुर्वचनों को सुनकर महान रोष से युक्त कपिल मुनि ने हुँकार किया। हे काकुत्स्थ ! उस अप्रमेय महात्मा कपिल के हुँकार से समस्त सगर पुत्र जल कर भस्म राशि बन गये[१]।

भागवत पुराण तथा गरुण पुराण में कपिल को भगवान विष्णु का पाँचवां अवतार कहा गया है—

पञ्चमः कपिलो नाम सिद्धेशः कालविप्लुतम्।
प्रोवाचासुरये सांख्यं तत्वग्रामविनिर्णयम्॥

॥ ग० पु० १।१।१८, भा० पु० १।३।१० ॥

जन्म के समय स्वयं देवाधिदेव ब्रह्मा जी माता देवहुति से कहते हैं—

एष मानवि ते गर्भं प्रविष्टः कैटभार्दनः।
अविद्या संशयग्रंथिं छित्त्वा गां विचरिष्यति॥
अयं सिद्धगणाधीशः सांख्याचार्यैः सुसम्मतः।
लोके कपिल इत्याख्यां गन्ता ते कीर्तिवर्धनः॥

(भा. पु. ३।२४।१८-१९)

पुराणों में अन्यत्र भी कपिल को विष्णु का रूप या अंश कहा गया है। सांख्यकारिका के सर्वप्राचीन व्याख्याकार आचार्य माठर ने ग्रंथ के प्रारम्भ में पुराण पुरुष कपिल को कर्दम ऋषि एवं माता देवहुति का पुत्र कहा है—

"इह हि भगवान्महर्षिः सांसिद्धिकधर्मज्ञानवैराग्यैश्वर्यसम्पन्नो भगवतः पुराण-पुरुषस्यावतारो जगदनुजिघृक्षया प्रजापतेः कर्दमस्य पुत्रः स्वायम्भुवस्य मनोर्दुहितरि देवहूत्यां कपिलो नाम बभूव।"

रामचरितमानसकार गोस्वामी तुलसीदास जी कपिल के सम्बन्ध में कहते हैं—

देवहूति पुनि तासु कुमारी। जो मुनि कर्दम कै प्रिय नारी॥
आदि-देव प्रभु दीन दयाला। जठर धरेउ जेहि कपिल कृपाला॥
सांख्यशास्त्र जिन्ह प्रगट बखाना। तत्वविचार निपुन भगवाना॥

(रामचरितमानस, बालकाण्ड १।४२)

---

१. रामायण, बालकाण्ड ४०/२५–३०

श्वे० ५/२ में आये पद कपिल का अर्थ शंकराचार्य ने हिरण्यगर्भ किया है—ऋषिं सर्वज्ञमित्यर्थः। कपिलं कनककपिलवर्ण-प्रसूतं स्वेनैवोत्पादितं "हिरण्यगर्भं जनयामास पूर्वम्" इत्यस्यैव जन्मश्रवणादन्यस्य चाश्रवणात्। पुनः सन्तोष का अनुभव न करते हुए कपिल का अर्थ विष्णु-अवतार कपिल किया है—

"कपिलर्षिः भगवतः सर्वभूतस्य वै किल।
विष्णोरंशो जगन्मोहनाशाय समुपागतः।
सांख्यानां कपिलो देवो रुद्राणामसि शंकरः॥"

पं० उदयवीर शास्त्री के अनुसार शंकराचार्य के मत से इस श्वे. उ० में सांख्यों का प्रसिद्ध कपिल ही उपादेय[१] है। पं० आद्याप्रसाद मिश्र[२] ने शास्त्री जी के विचारों से असहमति व्यक्त की है। उन्होंने स्वीकार किया है कि शंकराचार्य के किसी भी लेख से कपिल काल्पनिक नहीं सिद्ध होते। प्रो० ए. वी. कीथ[३], रानाडे[४] आदि विद्वानों ने कपिल का अर्थ शंकराचार्य के अनुसार हिरण्यगर्भ ही किया है। जो कुछ भी हो परन्तु परम्परा, कपिल को विष्णु-अवतार के रूप में सांख्य का प्रवर्तक मानती है।

परमर्षि कपिल ऐतिहासिक व्यक्ति नहीं हैं :—

कालब्रुक, याकोवी[५], मैक्स्म्यूलर, पुलिनबिहारी चक्रवर्ती[६] आदि विद्वान कपिल को ऐतिहासिक व्यक्ति मानने के पक्ष में नहीं हैं। प्रो० ए० वी० कीथ[७] कहते हैं कि कपिल पद हिरण्यगर्भ का पर्याय हैं और अग्नि, विष्णु तथा शिव के साथ कपिल की एकात्मकता का भी उल्लेख संस्कृतसाहित्य में मिलता है। इसलिए[८] कपिल को ऐतिहासिक व्यक्ति नहीं माना जा सकता। महामहोपाध्याय पं० गोपीनाथ कविराज का भी यही मत है—

---

१. सांख्य दर्शन का इतिहास पृ० १५–१६
२. सांख्य दर्शन की ऐतिहासिक परंपरा पृ० ५१
३. Samkhya System P. 9, 47
४. Kapil of the above passage is merely the equavalant of Hiranya-garbh. pp. 186–187
५. Samkhya & Yoga P. 2-3
६. O & D Ss T, P. 111
७. Samkhya System P. 47
८. More over, there is grave doubt to suspect his real existence at all. Samkhya System. P. 49

That Kapil the first teacher of Samkhya infact the first Enlightened Human being during the current cycle was not a historical personage in the usually accepted sense of the term, is without any doubt.[१]

डॉ० हरदत्त शर्मा[२] कहते हैं कि कपिल के ऐतिहासिक व्यक्ति होने में कोई सबल प्रमाण नहीं है। पं० उदयवीर शास्त्री[3] ने कपिल की ऐतिहासिकता में सन्देह प्रकट करने वाले विद्वानों की भर्त्सना की है। राधाकृष्णन[४] ने स्वीकार किया है कि कपिल नामक एक ऐतिहासिक व्यक्ति रहा है, जो सांख्य विचारधारा के प्रति उत्तरदायी है।

वेद, उपनिषद्, रामायण, महाभारत, बौद्ध, जैनादि साहित्य के साक्ष्यों पर किसी भी प्रकार से कपिल की सत्ता एवं उनके सांख्यज्ञान को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। ऋग्वेद १०।२७।१६ के आधार पर कपिल का आर्षत्व तथा श्वे० उ० ५/२ के आधार पर आर्षत्व के साथ उनकी ज्ञानवत्ता प्रमाणित होती है। सांख्यकारिका की ६९वीं कारिका के इस कथन 'पुरुषार्थ ज्ञानमिदं गुह्यं परमर्षिणा समाख्यातम्' के आधार पर कपिल का द्रष्टृत्वं भी सिद्ध होता है। इस प्रकार परमर्षि कपिल सांख्य के द्रष्टा हैं। वे सांख्य-शास्त्र के प्रणेता या आचार्य नहीं हैं। जहाँ तक उनके ऐतिहासिक व्यक्तित्व की खोज का प्रश्न है, इस सम्बन्ध में कोई ठोस प्रमाण नहीं है। क्योंकि वैदिक साहित्य में आए ऋषियों के नाम किसी व्यक्तिविशेष को सम्बोधित नहीं करते।

परमर्षि कपिल का काल :—

आचार्यों ने रामायण, महाभारत तथा पुराणों में वर्णित सगरोपाख्यान तथा कपिलमुनि के पिता कर्दम एवं माता देवहूति के आधार पर उनके काल का निर्धारण करने का प्रयास किया है[५]। अ० स० में कपिल को त्रेता युग के

---

१. Introduction to Jaimangala. pp. 2-3

२. Tattva Kaumudi by Ganganatha Jha of the Introduction by H. D. Sharma P. 14

३. सांख्यदर्शन का इतिहास पृ० २१

४. I. P. Vo II, P. 254

५. सांख्यदर्शन का इतिहास, पृ० ४२-६९
सांख्य दर्शन की ऐतिहासिक परम्परा पृ० ६८-७१

आरम्भ में अवतीर्ण माना गया है[1]। इस प्रकार समस्त प्राचीन उद्धरणों एवं अन्य तथ्यों के आधार पर परमर्षि कपिल का समय अत्यन्त प्राचीन सिद्ध होता है। कालीपद भट्टाचार्य[2] ने कपिल से लेकर ईश्वरकृष्ण तक की कुछ छब्बीस आचार्यों की गणना करके तथा प्रत्येक के लिए मोटे तौर पर तीसवर्ष का समय देकर कपिल को ई० पू० सप्तम शतक के पूर्व का बताया है। भट्टाचार्य के अनुसार किसी भी प्रकार से कपिल का समय आठवीं शताब्दी पूर्व के बाद का नहीं हो सकता। पं० आद्याप्रसाद मिश्र[3] ने भट्टाचार्य के विचारों का खंडन किया है। वास्तव में सांख्याचार्यों की जो संख्या भट्टाचार्य ने निर्धारित की है, वह कपिल एवं ईश्वरकृष्ण के बीच बहुत कम है तथा जो प्रत्येक के बीच तीस वर्ष का व्यवधान माना हैं वह भी काल्पनिक है।

हमारी दृष्टि यहाँ कुछ भिन्न है। हमारी यह मान्यता है कि आसुरि, पञ्चशिखसांख्याचार्यों से सम्बन्धित ७०वीं कारिका प्रक्षिप्त है। ७१वीं कारिकागत शिष्यपरम्परया का अर्थ आसुरिपञ्चशिखादि सांख्याचार्य नहीं, अपितु उसका संगत अर्थ गुरुशिष्यसंवाद या मौखिक रूप से है। इस प्रकार पौराणिकसाक्ष्यों के आधार पर कपिल की सर्वज्ञता भले ही प्रमाणित हो, परन्तु उनके काल का सही निर्धारण नहीं हो सकता क्योंकि वे एक वैदिकऋषि हैं।

षष्टितंत्र कोई ग्रंथविशेष नहीं अपितु यह सांख्य का पर्याय है—

सांख्यकारिका मूल में कपिल की किसी कृति का उल्लेख नहीं है। परन्तु प्रायः सभी टीकाकार[4], बादरायण[5] व्यास, शंकराचार्य[6] वाचस्पतिमिश्र[7]

---

१. अहिर्बुध्न्यसंहिता ११।५१-५६

२. In this way to the age of Kapil can not be placed later than the 8th Century B. C. I. H. Q. VIII 1932, Some problems of Samkhya Philosophy and Samkhya Literature. P. 510–514

३. सांख्य दर्शन की ऐतिहासिक परम्परा पृ० ७१

४. युक्ति दीपिका प्रारम्भ के तृतीय तथा चतुर्दश श्लोक, माठरवृत्ति, गौड़पाद-भाष्य १७ का० की व्याख्या तथा जयमंगला का० ५
उपलब्ध ७० वीं० तथा ७२ वीं कारिका

५. ब्रह्मसूत्र २।१।१

६. स्मृति तंत्राख्या परमर्षि प्रणीता शांकरभाष्य २।१।१

७. सा स्मृति तंत्राख्या परमर्षिणा कपिलेनादि विदुषा प्रणीता भामती २।१।१

भास्कराचार्य[1] आदि विद्वान् एक स्वर से यह मानते हैं कि षष्टितंत्र नामक एक कपिल की कृति थी। पाञ्चरात्र संप्रदाय की प्रसिद्ध कृति अहिर्बुघ्न्य संहिता[2] के आधार पर भी षष्टितंत्र का अस्तित्व सिद्ध होता है, वहाँ इसे प्राकृत तथा वैकृत दो मण्डलों में विभक्त किया गया है। उपलब्ध सांख्यकारिका में भी दो कारिकाएँ (७० तथा ७२) भी तंत्र तथा षष्टितंत्र पर प्रकाश डालती हैं। यद्यपि ये दोनों कारिकाएँ प्रक्षिप्त हैं। आचार्यो ने तंत्र एवं षष्टितंत्र को एकार्थक मानकर षष्टितंत्र के अस्तित्व को स्वीकार किया है[3]।

सांख्यविरोधी नास्तिकसंप्रदायों के प्राचीनग्रन्थों में भी षष्टितंत्र का उल्लेख हुआ है। कल्पसूत्र[4] नामक जैनग्रंथ के प्रथम प्रकरण में महावीर-स्वामी को 'सट्ठितंत्र विसारए संखाणे' कहा गया है। कस्तूरचन्द लालवानी ने इसका अर्थ इस प्रकार किया है—

He will also learn the Sasthitantra (of Kapil) the sci-nce of Numbers.

इसी प्रकार जैनसम्प्रदाय के दूसरे सुप्रसिद्ध ग्रंथ अनुयोगद्वार सूत्र[5] में कपिल और षष्टितंत्र का विवरण प्राप्त होता है। इस प्रकार परम्परा यह मानती ही है कि कपिलकृत एक षष्टितंत्र ग्रंथ था जो अब लुप्त हो गया है।

सांख्यकारिका की ६९वीं कारिका में 'समाख्यातम्' पद आया है, जिसका अर्थ मौखिक उच्चारण करना हो सकता है। इस आधार पर कपिल किसी ग्रंथ के कर्ता नहीं हो सकते। पं० उदयवीर शास्त्री[6] का कथन है कि कपिल का उपदेश ग्रंथ रूप में है। अपने मत के समर्थन में उन्होंने चार सबल तर्क उपस्थित किया है। पं० आद्याप्रसाद मिश्र[7] ने शास्त्री जी के

---

१. ततः कपिल महर्षि प्रणीत षष्टितंत्राख्य स्मृतेरनवकाशो त्रिविषयत्वम् भास्कराचार्य ब्रह्मसूत्र २।१।१

२. अहिर्बुध्न्यसंहिता १२ वाँ अध्याय

३. जयमंगला की भूमिका पृ० २, ३ सांख्यदर्शन की ऐतिहासिक परम्परा पृ० ७३ तथा सां० दर्शन का इति० पृ० ७९-८०

४. कल्पसूत्र पृ० ८

५. अनुयोगद्वारसूत्र ४१

६. सांख्य दर्शन का इतिहास पृ० ८३

७. सांख्य दर्शन की ऐतिहासिक परम्परा पृ० ७८

विचारों का खण्डन करते हुए कहा—शास्त्री जी का यह कथन उचित नहीं है कि उपदेश का आधार ग्रंथ ही होता है। ग्रंथ लिखकर उसका उपदेश दिया जाता है और बिना ग्रंथ के भी उपदेश दिया जा सकता है। अनेक उपदेशक ऐसे हैं और वे ही सर्वोच्च उपदेशक हैं जो स्वानुभूत तथ्यों या बातों का ही उपदेश करते हैं। ग्रंथ का आश्रय लेते ही नहीं। इस प्रकार "ऋषयो मंत्रद्रष्टार:" से कपिल सांख्य के द्रष्टा हो सकते हैं, परन्तु वे किसी ग्रंथ के कर्ता नहीं हो सकते।

अब यह प्रश्न विचारणीय है कि आखिर षष्टितंत्र क्या है। तंत्र का अर्थ सिद्धान्त या विज्ञान हो सकता कोई ग्रंथ नहीं। डॉ० रामचन्द्र पाण्डेय कहते हैं—

The word tantra does not always mean a text. It stands therefore fora system of sciencc and not for a book.[१]

रिचार्डगार्वे[२] का मत है कि ६० पदार्थों से युक्त होने के कारण सांख्य को ही षष्टितंत्र कहा जाता है। प्रो० हिरियन्ना, गोपीनाथ कविराज, ए. बी. कीथ, एन. बी. थडानी, डॉ० रामशंकरभट्टाचार्य का भी यही मत है। जयमंगला में इस ओर स्पष्ट संकेत किया गया है। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि षष्टितंत्र कोई ग्रंथविशेष नहीं है बल्कि यह सांख्य का पर्याय है। इस प्रकार कपिल सांख्य एवं षष्टितंत्र में अविनाभाव सम्बन्ध है। यद्यपि वे कौन-कौन से साठ पदार्थ सांख्य को मान्य हैं, इसका स्पष्टीकरण अद्यावधि नहीं हो पाया है, जब कि वाचस्पति मिश्र, नारायणतीर्थ[३], अहिर्बुध्न्य संहिताकार

---

१. Introduction to Yuktidipica, P. 21 R. C. Pandey

२. Die Samkhya Philosophie. pp. 58–59
J O R Madras III 1929 pp. 107–112
Sastitantra and Varsaganya Hiriyanna.
Samkhya System pp. 72–78
सांख्यतत्त्वकौमुदी ज्योतिष्मती ३६८–३६९
The Secret of the Sacred books of the Hindus. pp. 24–28
षष्टि तंत्रमाख्यं षष्टि खण्डं कृतमिति जयमंगला ७० वीं कारिका

३. सांख्य चन्द्रिका तथा तत्त्वकौमुदी ७२ कारिका की व्याख्या
अहिर्बुध्न्यसंहिता १२ वाँ अध्याय

इस दिशा में काफी प्रयत्नशील रहे है। इस सम्बन्ध में कीथ का यह विचार अधिक संगत है कि सांख्यकारिका[१] के पूर्व सांख्य व्यवस्थित दर्शन के रूप में न आ सका था।

आसुरि पञ्चशिखादि सांख्याचार्य ऐतिहासिक व्यक्ति नहीं हैं :—

शतपथब्राह्मण में आसुरि का उल्लेख है[२]। महाभारत में कपिलआसुरि संवाद भी हैं[३]। आचार्यमाठर[४] तथा जयमंगलाकार ने इसे उद्धृत किया है। पं० उदयबीर शास्त्री शतपथब्राह्मण में आये आसुरि को सांख्याचार्य आसुरि मानते हैं[५]। डॉ० राधाकृष्णन[६] इस विषय में संदिग्ध हैं। रिचार्ड गार्वे[७] पञ्चशिख को ऐतिहासिक व्यक्ति मानते हैं एवं प्रो० ए० बी० कीथ[८] आसुरि को ऐतिहासिक व्यक्ति नहीं मानते। महाभारत में ही आसुरि[९] के शिष्य पञ्चशिख का उल्लेख है। महाभारत, युक्तिदीपिका तथा अन्य श्रोतों के आधार पर पं० उदयबीर शास्त्री ने आसुरि, पञ्चशिख,[१०] धर्मध्वज, वशिष्ठ आदि ४२ आचार्यों की सूची प्रस्तुत की है। पं० आद्याप्रसाद मिश्र[११] ने इन आचार्यों के जीवनवृत्त पर प्रकाश डाला है। परमर्षि कपिल के सांख्य-द्रष्टा सिद्ध हो जाने पर सांख्यकी गुरु-शिष्य परम्परा को किसी भी प्रकार से ऐतिहासिक नहीं कहा जा सकता। इतना अवश्य है कि इससे सांख्य की अविच्छिन्न परम्परा पर प्रकाश पड़ता है। इस प्रकार अत्यन्त प्राचीनकाल से ही गुरु-शिष्य संवाद सांख्य विचारधारा में अनुस्यूत है।

---

१. Samkhya System, pp. 83–86

२. श० ब्रा० १/५/२/२६, २/१/४/२७

३. म० भा० १२/३२४–३२६

४. माठरवृत्ति प्रारम्भ में तथा जयमंगला ७० वीं कारिका पर व्याख्या

५. सांख्य दर्शन का इतिहास पृ० ४७५

६. I. P. Vo II, 254

७. ,, ,, 25।

८. Samkhya System P. 49

९. 12/218/10

१०. सांख्यदर्शन का इतिहास पृ० ४७४–५३६

११. सांख्यदर्शन की ऐतिहासिक परम्परा पृ० ११४–१८९

सांख्य साहित्य

सांख्यदर्शन पर उपलब्ध मूल ग्रंथ तीन हैं—

(१) ईश्वरकृष्ण कृत सांख्यकारिका

(२) तत्त्वसमास

(३) सांख्यप्रवचन सूत्र या सांख्यसूत्र

सांख्यकारिका :—

ईश्वरकृष्ण कृत सांख्यकारिका सांख्य का सर्व प्राचीन प्रामाणिक ग्रन्थ है। प्रो० ए०बी० कीथ, लोकमान्य तिलक, डा० राधाकृष्णन, प्रो० हिरियन्ना, दासगुप्त आदि विद्वानों का यही मत है[1]। इसमें मात्र सत्तर श्लोक हैं, जिनमें सांख्य के सैद्धान्तिक पक्ष का संक्षिप्त परन्तु अत्यन्त स्पष्ट सारगर्भित निश्चयात्मक वर्णन है। विभिन्न संप्रदाय के मौलिकग्रंथों में सांख्य-सिद्धान्तों के उल्लेख में सबसे अधिक इसी ग्रंथ का आश्रय लिया गया है। प्रो० हिरियन्ना[2] ने इसे भारत के सम्पूर्ण दार्शनिक साहित्य का रत्न कहा है। जैनग्रंथ के अनुयोगद्वारसूत्र में कनकसत्तरी का उल्लेख है, जिसे हिरण्य-सप्तति या सांख्यसप्तति कहा जा सकता है। पं० उदयबीर शास्त्री[3] गोपीनाथ कविराज ने इसे सांख्यकारिका से अभिन्न माना है। डाँ० बेल्वल्कर[4] मत इसके विपरीत है।

---

१. It is admittedly by far the most brilliant account of the system and its claim to be the oldest escposition of the doctrine in systematic form.

Samkhya System P. 83 A. B. Kieth

गीता रहस्य–पृ० १६१

A Source book in Indian Philosophy. P. 425

I. P. Vo II P. 254

Out lines of Indian Philosophy. 269

Indian Thought and its Development. P. 67

२. It has been described as "the pearl of the whole scholastic literature of India." Outlines of Indian Philosophy. P- 269

३. सांख्य दर्शन का इतिहास पृ० ४५४

४. B C. V. P. 176–177

सांख्यकारिका का रचनाकाल अभी तक विवादास्पद बना हुआ है। प्रो० ए० बी० कीथ, डा० राधाकृष्णन, हिरियन्ना, दासगुप्त, वेल्वल्कर, उदयबीर शास्त्री तथा आद्याप्रसाद ने इसका समय निर्धारित करने का प्रयत्न किया है[1]। परन्तु कोई भी निश्चयात्मक तिथि अद्यावधि निर्धारित नहीं हो पायी है। इतना अवश्य है कि यह ग्रंथ जैनग्रन्थ के अनुयोगद्वारसूत्र तथा ब्रह्मसूत्र से प्राचीन है और इसे ई० पू० प्रथम शताब्दी की रचना कहा जा सकता है। प्रो० हिरियन्ना[2] ने ईश्वरकृष्ण को जहाँ कालिदास के समकालीन माना है, वहीं टी० जी० माइणकर[3] ने ईश्वरकृष्ण को कालिदास से अभिन्न कहा है। लोकमान्य तिलक[4] पुलिनबिहारी चक्रवर्ती, उदयबीर शास्त्री आदि विद्वानों ने इसे नितान्त असंगत कहा है। सांख्यकारिका में कालिदास की उपमा प्रधान शैली का प्रयोग अवश्य हुआ है। इस आधार पर उन्हें कालिदास के समसामयिक कहा जा सकता है, परन्तु किसी प्रकार से दोनों व्यक्ति एक नहीं हो सकते।

सांख्यकारिका में केवल सत्तर (७०) कारिकायें हैं :—

सांख्यकारिका की टीकाओं में माठरवृत्ति में ७३ तथा गौड़पादभाष्य में ६९ कारिकाओं का संकेत है। यद्यपि गौड़पाद ने कारिकाओं की संख्या सत्तर स्वीकार की है। ईश्वरकृष्ण के स्वकीय साक्ष्य तथा परमार्थ के साक्ष्य, जिसने सांख्यकारिका की संस्कृत टीका का चीनी भाषा में रूपान्तर किया था, के आधार पर कारिकाओं की संख्या सत्तर ही सिद्ध होती है।

वाचस्पति मिश्र, जयमंगलाकार एवं नारायणतीर्थ के आधार पर यह संख्या सत्तर (७०) के स्थान पर ७२ हो जाती है। वर्तमान समय में यही संख्या मानकर सांख्य का पठन-पाठन प्रचलित है।

सांख्यकारिका को मात्र ७० कारिकाओं का ग्रंथ सिद्ध करने के लिए विद्वानों ने बहुत प्रयास किया है। लोकमान्य तिलक[5] ने ६९ वीं कारिका

---

१. 4th C. A. D. Keith, 3rd C. A. D. R. K., 2nd C. A. D. Das-Gupta, C. A. D. Garbe, 5th Century Hiriyanna. प्रथम शताब्दी पूर्व आद्या प्रसाद मिश्र तथा पं० उदयवीर शास्त्री

२. Outlines of I. P. 269

३. S. K. T. G. Mainker P. 16–17

४. गीता रहस्य १९७ टिप्पणी
सांख्य दर्शन का इतिहास पृ० ४४५ O & D. so T 145 ff

५. गीता रहस्य पृ० १७०

तक सांख्य सिद्धान्तों की समाप्ति मानी है तथा ६१ वीं कारिका के गौड़पाद-भाष्य को दो कारिकाओं का भाष्य निश्चित किया है। उनकी दृष्टि में लुप्त कारिका का स्वरूप इस प्रकार है—

कारणमीश्वरमेके ब्रुवते कालं परे स्वभावं वा।
प्रजाः कथं निर्गुणतो व्यक्तः कालः स्वभावश्च ॥

डॉ० हरदत्त शर्मा[1] ने तिलक जी के इस अभिनव चिन्तन की बड़ी प्रशंसा की है। एस० सूर्यनारायण शास्त्री[2] तथा पं० उदयबीर शास्त्री[3] ने तिलक जी की मान्यता का विरोध किया है। वैसे भी तिलक जी की इस अभिनव कल्पना को अणुमात्र भी विद्वानों का समर्थन नहीं मिला है। गौड़-पाद भाष्य ही नहीं; माठरवृत्ति में भी इस प्रकार का व्याख्यान है और यदि कारिका लुप्त हो गई तो फिर उनका भाष्य कैसे बचा रहा?—यह बात संगत नहीं प्रतीत होती। परमार्थ-कृत चीनी अनुवाद के संस्कृत-रूपान्तर-कार अय्यास्वामी शास्त्री[4] का मत है कि ६३वीं कारिका चीनी अनुवाद न होने से तथा ७२वीं कारिका के किसी मेधावी की उक्ति होने से (इह मेधावी कश्चिदार्यम्) इसे प्रक्षिप्त मान लेने पर कारिकाओं की संख्या ठीक सत्तर हो जाती है। यहाँ शास्त्री जी ने जो ६३ वीं कारिका के सम्बन्ध में कहा है वह उचित नहीं प्रतीत होता, क्योंकि इसी कारिका में "ज्ञान" से कैवल्य प्राप्त होने की बात कही गई है जो यहीं सांख्य का मूल सिद्धान्त हैं।

पं० उदयबीर शास्त्री[5] के अनुसार इन चार (६९–७२) कारिकाओं का परस्पर आर्थिक सामञ्जस्य इतना संघटित एवं संतुलित है कि उनमें से एक पद भी हटाया जाना अनर्थ का हेतु हो सकता है। आचार्य पं० आद्याप्रसाद मिश्र[6] का विचार है कि न तो अन्तिम तीन कारिकाएँ प्रक्षिप्त ही हैं और न कोई कारिका बीच से ही खंडित हुई है। उनकी दृष्टि में ६९वीं कारिका सिद्धांतपरक होने से, ७०वीं प्राचीन आचार्य परम्परा का निर्देश करने से तथा ७१ वीं ग्रंथकार ईश्वरकृष्ण का संकेत करने से आवश्यक है। ७२ कारिका

---

१. गंगानाथ झा पूना संस्करण संस्कृत भाग पृ० ७३–७४ टिप्पणी
२ Samkhyakarika P. 120
३ सांख्य दर्शन का इतिहास पृ० १२८
४. सुवर्ण सप्ततिशास्त्र पृ० भू० ४३, ९१
५. सांख्य दर्शन का इतिहास पृ० १३१
६. सांख्य दर्शन की ऐतिहासिक परम्परा पृ० २०२

तो अत्यधिक आवश्यक है, क्योंकि यह सर्वप्रथम कपिल द्वारा उपदिष्ट मूल शास्त्र के आधार पर ग्रंथ की रचना का कथन करके इसकी पूर्व प्रतिपादित प्रामाणिकता को सुदृढ़ करती है। विद्वानों[1] का मत है कि यह "सप्तति" पद का अर्थ ठीक ठीक सत्तर ही कहना उचित नहीं है। ७२ कारिकाओं से युक्त ग्रन्थ भी सप्तति कहा जा सकता है। इस सन्बन्ध में तिलक, शर्मा, विल्सन, अय्यास्वामीशास्त्री आदि ने भूल की है।

हमारी दृष्टि यहाँ कुछ भिन्न है। आचार्य गौड़पाद[2] ने ६९वीं कारिका तक भाष्य लिख कर ग्रन्थ की समाप्ति कर दी है तथा अन्त में कारिकाओं की सत्तर संख्या का निर्देश किया है—

"सांख्यं कपिल मुनिना प्रोक्तं संसारविमुक्तिकारणं हि।
यत्रैताः सप्ततिरार्या भाष्यं चात्र गौडपादकृतम् ॥"

माठरवृत्ति गौड़पादभाष्य से प्राचीन है, जिसका अपने भाष्य में उन्होंने बहुत अधिक उपयोग किया है। इसीलिए कुछ विद्वान गौड़पाद भाष्य को माठरवृत्ति की छाया मात्र समझते हैं। उपलब्ध ७० वीं कारिका पर भाष्य न होने से बहुत अधिक संभावना की जा सकती है कि उनकी दृष्टि में यह कारिका मूल ग्रंथ का भाग नहीं हैं। गौड़पाद यद्यपि यह स्वीकार करते हैं कि ग्रन्थ की पूर्णता में मात्र एक कारिका की आवश्यकता है, जिसे ७०वीं कारिका की संज्ञा दी जा सकती हैं। किन्तु वे कपिल, आसुरि, पञ्चशिखादि (उपलब्ध ७०वीं कारिका) से संबंधित कारिका से संतुष्ट नहीं हैं। वास्तव में यह कारिका महाभारत के कपिल, आसुरि, पञ्चशिखादि से संबंधित उपाख्यानों पर आधारित है। इसी प्रकार ७२ वीं कारिका, जो षष्टितंत्र से सम्बन्धित है, भी ग्रन्थ का भाग नहीं है क्योंकि यह पहले ही सिद्ध किया जा चुका है कि षष्टितन्त्र कोई ग्रन्थ विशेष नहीं है। आख्यायिका और परवाद का संकेत भी इसकी प्रामाणिकता में संदेह उत्पन्न करता है तथा इससे कपिल के आर्षत्व पर सीधा प्रहार होता है। वी० वी० सोवानी[3], ए० वी० कीथ[4], विल्सन, लोकमान्यतिलक,

१. सां० द० की ऐति० परम्परा पृ० २०३–२०५
सांख्य दर्शन का इतिहास पृ० १३९–१४१

२. गौडपादभाष्य (६९वीं कारिका) पृ० ११२

३. The Karika is perhaps a later interpolation.
A Critical study of The Samkhya System. P. 8

४. Samkhya System P. 76

अय्यास्वामी शास्त्री की दृष्टि में भी यह कारिका ईश्वरकृष्ण द्वारा विरचित नहीं है। प्रचलित ७१वीं कारिका जिसमें ग्रन्थकार ईश्वरकृष्ण का नाम है, वही गौड़पाद की दृष्टि में ७०वीं कारिका है। इससे मैं भी सहमत हूँ। इस प्रकार तंत्र तथा षष्टितंत्र से संबंधित ७०वीं तथा ७२वीं दो कारिकाएँ प्रक्षिप्त हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि कपिल को सांख्यशास्त्र का प्रणेता, आचार्य या षष्टितंत्र कर्ता सिद्ध करने के लिए इस प्रकार का जोड़-घटाव करना पड़ा, जो मूल ग्रंथ का भाग न होकर व्याख्याकारों की लेखनी का चमत्कार है।

●

सांख्यकारिका के टीकाकार

आचार्य माठर :—

सांख्यकारिका की उपलब्ध टीकाओं में माठरवृत्ति महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। इस व्याख्या के साथ रचयिता के स्थान पर आचार्य माठर का नाम सम्बद्ध है। यह आचार्य किस काल में हुआ, इसका आज तक असंदिग्ध निर्णय नहीं हो पाया है। आधुनिक इतिहासविदों ने चीन के इतिहास के आधार पर इस बात का निर्णय किया है कि ५४६ ई० में परमार्थ नामक एक भारतीय विद्वान ब्राह्मण आर्य साहित्य के अनेक ग्रन्थों को लेकर चीन गया और उन सब ग्रंथों का उसने चीनी भाषा में अनुवाद किया। परमार्थ द्वारा ले जाए उन ग्रंथों में ईश्वरकृष्ण की सांख्यकारिका और उसकी एक व्याख्या भी थी, जिसका चीनी अनुवाद आज भी उपलब्ध है। बेल्वल्कर ने उस व्याख्या का चीनी अनुवाद की मूलभूत संस्कृत माठरवृत्ति के साथ तुलना करके इस बात का निर्णय दिया है कि परमार्थ ने अपने साथ सांख्यकारिका की जिस व्याख्या को ले गया था, वह माठरवृत्ति है। पं० उदयवीर शास्त्री[1] का भी यही मत है। अय्यास्वामी शास्त्री जिन्होंने इस ग्रंथ का चीनी भाषा से संस्कृत में रूपान्तर किया है। उनके अनुसार यह माठरवृत्ति जैनग्रंथ अनुयोगद्वारसूत्र ४१ में उल्लिखित सांख्यग्रंथ "माठर" एवं गुणरत्नसूरि द्वारा हरिभद्रसूरि के षड्दर्शनसमुच्चय को

---

१. सांख्य दर्शन का इतिहास पृ० ४२३-४२४

अपनी टीका उद्धृत "माठरभाष्य" से भिन्न[1] है। संभवतः यही माठर-भाष्य चीनी अनुवाद का मूल आधार हो।

पं० उदयवीर शास्त्री ने माठरभाष्य तथा माठरवृत्ति को एक ही माना है। उन्होंने माठरवृत्ति[2] एवं चीनीअनुवाद भी पारस्परिक असमानताओं के कारणों पर भी प्रकाश डाला है। शास्त्री जी के अनुसार माठरवृत्ति ही चीनी अनुवाद का मूल आधार है। हम शास्त्रीजी के इस बात से सहमत हैं। शास्त्री जी का यह कथन भी सत्य है कि उपलब्ध माठरवृत्ति में कुछ अंश बाद में जोड़े गये हैं या प्रक्षिप्त[3] हैं। ब्रह्मसूत्रकार वादरायण व्यास ने सांख्य के खंडन में माठरवृत्ति का ही आश्रय लिया है। यह हमारा मत है। यहाँ कुछ मुख्य अंश उद्धृत हैं—

"सन्निधिसत्तामात्रेण चुम्बक इव लोहस्य प्रवृत्ति कारणम्" अतः प्रधानस्य जडस्य प्रवृत्ति हेतुरयमस्तीति सिद्धिः (का० २)। स्वतन्त्रं सर्वोत्पत्तिकारणत्वात् (का० १०)। यथा क्षीरं दधिभावेन परिणमति। यथा सलिलमेकं हिमवद् हिमभावेन परिणमति—। (का० १६) प्रधाने हि सत्व-रजस्तमसामवस्थानाद् बहुत्व संभवः (का० १६)। अपि चोक्तं षष्टितन्त्रे— "पुरुषधिष्ठितं प्रधानं प्रवर्तते" (का० १७)। एष प्रकृतिकृत इति (का० ५६)। यथा तृणोदकं गवाभक्षितं पीतं च क्षीरभावेन परिणमति (का०५७)।

माठरवृत्ति का समय कुछ बाद में जोड़े गए अंशो के आधार पर, अय्यास्वामी[4] शास्त्री ने १००० ई० के अनन्तर माना है। जान्स्टन[5] तथा महामहोपाध्याय उमेश मिश्र[5] ने उपलब्ध माठरवृत्ति की प्राचीनता में संदेह प्रकट किया है। जैनग्रंथ अनुयोगद्वार सूत्र के आधार पर आचार्य माठर का काल ईसा की प्रथम शताब्दी के पूर्व स्थिर होता है। हमारी दृष्टि में आचार्यमाठर या तो बौद्ध हैं या बौद्ध धर्म और दर्शन से अत्यधिक

---

१. सांख्य दर्शन की ऐतिहासिक परम्परा पृ० २३७

२. सां० दर्शन का इतिहास पृ० ४५६

३. ,, ,, पृ० ४५२-४५३

४. It is clear therefore that M. V. was written in a period later than C. A. D. 1000 Introduction suvarn saptalishastra P. 31

५. Eearly Samkhya P. 11
सांख्ययोग दर्शन पृ० १४

प्रभावित हैं। आचार्य माठर[1] ने पुरुष को परमात्मा मानते हुए भोक्ता कहा है। परवर्ती सभी आचार्यों ने प्रायः सभी महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों के विवेचन में माठरवृत्ति का ही आश्रय लिया है।

युक्तिदीपिकाकार :--

युक्तिदीपिका माठरवृत्ति से अर्वाचीन तथा अन्य टीकाओं से प्राचीन है। टीकाकार का नाम अज्ञात है। डॉ० रामचन्द्र पाण्डेय[2] एवं उदयवीर शास्त्री[3] के अनुसार इस ग्रंथ का रचयिता राजा है। युक्तिदीपिका[4] में प्रकृति एवं महत् के बीच एक और सूक्ष्मतत्व का निर्देश मिलता है। युक्तिदीपिकाकार ने ३९ वीं[5] कारिकागत "प्रभूत" पद तथा ४८ वीं[6] कारिकागत "दशविधमहामोह" पद का सर्वथा नवीन अर्थ किया है। पं० उदयवीर शास्त्री ने इनका समय ४५० ई० के आस-पास रखा है। पं० आद्याप्रसाद मिश्र के अनुसार उनका समय पञ्चम शताब्दी के आस-पास है। सांख्यकारिका की टीकाओं में युक्तिदीपिका का वैशिष्ट्य उल्लेखनीय है।

इसमें सर्वत्र प्राचीन सांख्य एवं यत्र-तत्र अन्य दार्शनिक सम्प्रदायों के भी ऐसे आचार्यों के विचार एवं मत उद्धृत है, जिनके विषय में अत्यल्प जानकारी थी। इन आचार्यों के मतों एवं सिद्धान्तों से हम सांख्यदर्शन के विविध विकास की लम्बी धारा के साक्षात्कार में समर्थ होते हैं।

आचार्य गौड़पाद :--

सांख्यकारिका के तीसरे प्राचीन व्याख्याकार गौड़पाद हैं। एकमात्र इन्हीं की टीका "भाष्य" नाम से है। गौड़पादभाष्य में माठरवृत्ति का

---

१. एवमिदं व्यक्ताव्यक्तं दृष्ट्वा साधयामोऽस्त्यसौ परमात्मा पुरुषो यस्येदं भोक्तु र्व्यक्ता व्यक्तं भोग्यमिति माठरवृत्ति का० १७

२. Therefore I am inclined to believe that he author of Yukti dipika was Raja Introduction. P. 14

३. सांख्य दर्शन का इतिहास पृ० ४७३

४ केचिदाहुः प्रधानादनिर्देश्य स्वरूपं तत्त्वान्तरमुत्पद्यते। ततो महानिति। रामचन्द्र पाण्डेय—युक्ति दीपिका पृ० ९१

५. प्रभूतास्तूद्भिज्जाः स्वेदजाश्च का० ३९

६. दशविधो महामोहः मातृ पितृ पुत्र भ्रातृ स्वसृ पत्नी दुहितृ गुरु मित्रोपकारि लक्षणे दशविधे कुटुम्बे यो यं ममेत्यभिनिवेशः। सां० का० ४८

बहुत अधिक उपयोग हुआ है। इसी कारण उदयबीर शास्त्री ने भाष्य को माठरवृत्ति की छाया मात्र कहा[1] है। गौड़पाद शंकराचार्य के दादा गुरु हैं। यद्यपि पं० उदयवीर शास्त्री इससे सहमत नहीं हैं। शास्त्री जी ने जो तीन तर्क उपस्थित किये हैं उन्हें अकाट्य एवं निश्चयात्मक नहीं कहा जा सकता[2]। शास्त्री के अनुसार इनका समय ५५० ई० के आस-पास है। पं० आद्याप्रसाद मिश्र ने इनका समय ६५० के आस-पास निर्धारित किया है। इनकी ५२ वीं[3] कारिका के लिंग और भाव के अन्योन्याश्रय सम्बन्ध की व्याख्या सर्वथा नवीन है, जिसे वाचस्पति मिश्र ने भी अपनाया है। गौड़पाद-भाष्य पर टी० जी० माइणकर का एक अंग्रेजी अनुवाद भी उपलब्ध है। जनार्दनशास्त्री और अन्य विद्वानों ने इसकी हिन्दी टीका भी की है। गौड़पाद में पुरुषैकत्व तथा पुरुषबहुत्व दोनों का संकेत है।

जयमंगलाकार :—

जयमंगलाकार, गौड़पाद से अर्वाचीन तथा वाचस्पति मिश्र से प्राचीन हैं। वाचस्पति मिश्र ने तत्वकौमुदी में जयमंगला का कई स्थलों में उपयोग किया है। उदयबीर शास्त्री के अनुसार इसका रचयिता शंकर है जो प्रस्थानत्रयी के भाष्यकार शंकराचार्य से भिन्न है[4]। ११ वीं कारिका की व्याख्या में सर्वप्रथम जयमंगलाकार ने ही पुरुष का अनेकत्व वर्णित किया है। उनका प्रमेय विषयक विभाजन भी मौलिक है। षष्टितंत्र के विषय में भी उन्होंने सर्वप्रथम प्रकाश डाला है। उदयवीर शास्त्री ने इनका समय ६५० के आस-पास रखा है। आद्याप्रसाद मिश्र ने इन्हें ७०० ई० के वाद का मान्य है।

आचार्य वाचस्पतिमिश्र :—

सांख्यकारिका के टीकाकारों में आचार्य वाचस्पति मिश्र का अत्यन्त गौरवपूर्ण स्थान है। उनकी पांडित्यपूर्ण व्याख्या 'सांख्यतत्वकौमुदी' नाम से विख्यात है। आप के पांडित्य के प्रति सारा विद्वत्समाज नतमस्तक है।

---

१. सां० दर्शन का इतिहास पृ० ४०६

२. सां० दर्शन की ऐतिहासिक परम्परा पृ० २६६

३. अनादित्वात्च सर्गस्य बीजाङ्कुरवदन्योन्याश्रयो न दोषाय।

का० ५२ पर गौड़पादभाष्य

४. सां० दर्शन का इतिहास पृ० ३६४-३८५

तथा सर्व तंत्र स्वतंत्र की उपाधि से विभूषित किया जाता है। समस्त भारतीय दर्शनों में जैसी अप्रतिहत गति वाचस्पति मिश्र की थी, वैसी किसी भी प्राचीन या अर्वाचीन आचार्य की नहीं। उन्होंने समस्तदर्शनों के मूर्धन्य ग्रंथों पर साधिकार प्रामाणिक टीकाएँ लिखी हैं। वाचस्पति मिश्र के प्रायः सभी ग्रन्थ न्यायशास्त्र से प्रभावित हैं। 'सांख्यतत्वकौमुदी' में भी उनका यह वैशिष्ट्य पर्याप्त अंश में विद्यमान है। इसीलिए डाँ० उमेशमिश्र ने इस टीका को विद्वत्तापूर्ण मानते हुए भी सांख्य दर्शन के रहस्य का उद्घाटन में असफल कहा है[१]। यहाँ हम कुछ और कहने का साहस कर सकते हैं। सांख्यतत्वकौमुदी सांख्यकारिका की सबसे प्रामाणिक टीका मानी जाती है। प्रायः इसी आधार पर सांख्य का पठन-पाठन भी प्रचलित है। हमारी दृष्टि से इस ग्रन्थ में वाचस्पति मिश्र ने प्रायः सभी महत्वपूर्ण सिद्धान्तों के विवेचन में सांख्यकारिकाकार ईश्वरकृष्ण की मूल भावना को स्पर्श तक नहीं किया है। सांख्य दर्शन में परम्परागत चली आ रही अनेक असंगतियों के निराकरण में उनका कोई योगदान नहीं रहा है। इसलिए वाचस्पति मिश्र की सांख्यनिष्ठा के प्रति हमें संदेह है और उनका सारा प्रयास विद्वत्समाज के लिए खेदजनक है। वाचस्पति मिश्र का समय विद्वानों ने ८४१ ई० निर्धारित किया है, जबकि मैकडोनेल[२] ने उनका समय एकादश शताब्दी माना है।

वाचस्पतिमिश्र की तत्वकौमुदी पर संस्कृत में अनेक आचार्यों ने टीकाएँ लिखी है, जिनमें शिवनाराथण शास्त्री (सारबोधिनी), कृष्णबल्लभाचार्य (किरणावली), वंशीधरमिश्र (तत्त्व विभाकर), बलराम उदासीन (विद्वत्तोषिणी), कृष्णनाथ न्याय पञ्चानन (आवरण वारिणी), हरेराम शुक्ल (सुषमा) रमेशचन्द्र तीर्थ (गुणमयी) पञ्चानन भट्टाचार्य (पूर्णिमा) मुख्य हैं। डा० गंगानाथ झा ने इसका अंग्रेजी में अनुवाद किया है। आचार्य आद्याप्रसाद मिश्र (प्रभा) डाँ० रामशंकर भट्टाचार्य (ज्योतिष्मति) डाँ० गजानन शास्त्री मुसलगांवकर (तत्व प्रकाशिका) इसके मुख्य हिन्दी व्याख्याकार हैं।

नारायणतीर्थ :—

सांख्यकारिका के छठें टीकाकार नारायण तीर्थ है, जो वाचस्पति मिश्र से पर्याप्त अर्वाचीन है। इनकी टीका 'सांख्य चंद्रिका' नाम से

---

१. सां० योग दर्शन, पृ० १५
२. A History of Sanskrit literature, P. 334

प्रसिद्ध है। प्राय: मुख्य स्थलों पर इन्होंने वाचस्पति मिश्र का ही अनुसरण किया है। छठीं[1] तथा आठवीं कारिका की व्याख्या उनकी मौलिकता का प्रमाण है, जिस ओर किसी भी प्राचीन व्याख्याकार का ध्यान नहीं रहा है। पं० आद्याप्रसाद मिश्र ने उनका समय १७वीं शताब्दी बताया है।

अन्य आचार्य :—

उपर्युक्त व्याख्याकारों के अतिरिक्त मुडुम्व नरसिंह स्वामी ने "सांख्य-तरुवसन्त" नामक टीका लिखी है। सूर्यनारायण शास्त्री ने अपने ग्रन्थ में इसका अधिक उल्लेख किया है। वीसवीं के शताब्दी के व्याख्याकार हरि-हारानन्द आरण्यक ने सांख्यकारिका की एक सरल सांख्ययोग वंगला टीका लिखी है उनका दूसरा ग्रन्थ सांख्य तत्वालोक है[2]।

अन्य उपलब्ध ग्रन्थ—

सांख्यसंग्रह, सांख्ययोगकोश, सांख्यतत्वप्रदीप, सांख्यसार, सांख्यसूत्र वैदिक वृत्ति आदि सांख्य पर अन्य उपलब्ध ग्रन्थ हैं। आस्टर ए० सोलोमन[3] द्वारा तीन अन्य ग्रन्थों का निर्देश मिलता है, जिसमें सांख्यवृत्ति और सांख्यसप्ततिवृत्ति दो अज्ञात लेखकों की रचनाएँ हैं, जो गुजरात यूनिवर्सिटी अहमदाबाद से प्रकाशित है। मुद्रित संस्करण त्रुटिपूर्ण हैं।

तत्वसमास :—

सांख्य का दूसरा उल्लेखनीय ग्रन्थ तत्वसमास है, जो अपने नाम के अनुसार बहुत ही संक्षिप्त है। मैक्समूलर[4] ने इसे सांख्य की प्राचीनतम कृति कहा है। लेकिन अब इस मत को सामान्यत: स्वीकार नहीं किया जाता। इसके वर्णन का प्रकार भी इसकी अर्वाचीनता का द्योतक है। महाभारत तथा पौराणिक साहित्य का भी इस पर प्रभाव है। उदयबीर शास्त्री ने इसे कपिलकृत[5] माना है। इनकी संख्या कम से कम २२ तथा अधिक से अधिक २५ है। कहीं-कहीं २७ सूत्रों का भी उल्लेख मिलता है।

---

१. तथा चेन्द्रिय योग्यस्य सर्वस्यापेक्षितस्यानपेक्षितस्य च दृष्टात् प्रत्यक्षादेव सिद्धिः। तेन पृथिव्यादीनाम् प्रत्यक्षादेव सिद्धिरितिभावः। सां० चन्द्रिका पृ० १०

२. सां० दर्शन की ऐतिहासिक परम्परा पृ० २९९

३. A Classical Samkhya P. 281

४. If then I venturc to call the tattva samas the oldest rccord that has reached us of the Samkhya Philosophy.
The six system of India Phllosophy. P. 242

५. सां० दर्शन का इतिहास पृ० ३१६

तत्त्वसमास सूत्र के व्याख्याकार :—

तत्त्वसमास की छः व्याख्याएँ उपलब्ध हैं। इनमें कुछ लेखकों का नाम अज्ञात है। (१) सांख्यतत्त्व विवेचन (षिमानन्द) (२) तत्त्वयाथार्थ्य दीपन (भावागणेश) (३) सर्वोपकारिणी (अज्ञात कर्तृक) (४) सांख्यसूत्रविवरण (अज्ञात कर्तृक) ५) तत्त्वसमाससूत्र वृत्ति या क्रमदीपिका (अज्ञात कर्तृक) (६) कापिल सूत्र विवरण (अज्ञात कर्तृक)। तत्त्व समास की टीकाओं में 'क्रमदीपिका' सबसे प्राचीन है।[1]

सांख्यसूत्र :—

सांख्यदर्शन के प्रमुख आधार ग्रंथों में सांख्यसूत्र सबसे बाद का ग्रंथ है। यह चौदहवीं शताब्दी के बाद की रचना मानी जाती है[2]। इसमें छः अध्याय हैं, प्रथम तीन में सांख्यसिद्धान्तों का विवेचन है। चतुर्थ अध्याय में आख्यायिका तथा अन्तिम दो अध्यायों में परबादों का वर्णन है। पं० उदयबीर शास्त्री ने इसे कपिलकृत मूल षष्टितंत्र माना है तथा इसकी प्राचीनता को सिद्ध करने के लिए विस्तृत कष्टसाध्य प्रयास किया है[3]। अपनी इस अभिनव कल्पना की स्थापना में उन्होंने इसे अर्वाचीन सिद्ध करने वाले विद्वानों-लोकमान्यतिलक, कीथ, मेक्समूलर, पं० गोपीनाथ कविराज आदि के लिए अशोभनीय शब्दों का प्रयोग किया है। भगीरथ प्रयास के बाद भी अपने को असहाय अनुभव करते हुए वे कहते हैं–"आज तक के साहित्य में किसी विद्वान ने यह नहीं लिखा है कि ये सूत्र कपिल के बनाए हुए हैं।[4] सांख्यसूत्र की प्राचीनता के जिन तर्कों एवं आधारों को शास्त्री जी ने अपने समर्थन में लिया है, उन्हें अकाट्य एवं सबल नहीं कहा जा सकता। मैक्समूलर के अनुसार सर्वप्रथम Fitz Edward Hall ने इन सूत्रों को उद्धृत किया है। वाचस्पति मिश्र तथा माधवाचार्य भी इन सूत्रों से अपरिचित प्रतीत होते हैं, साथ ही साथ इन सूत्रों में वैशेषिक, न्याय तथा अन्य पद्धतियों का उल्लेख होने के

---

१. सांख्यदर्शन की ऐतिहासिक परम्परा पृ० ३४८-३४९

२. Now It is admitted on all sides that the Samkhya Sutra is a very late or rather a modern production and it does not rank with genuine Philosophical Sutras J A O S 31 1911 P. 9 The Date of Philosophical Sutras of Brahmans, Yacobi.

३. सांख्य दर्शन का इतिहास पृ० १०४-१७३

४. सांख्य दर्शन का इतिहास-द्वितीय एवं तृतीय अध्याय

कारण इन्हें किसी प्रकार से प्राचीन नहीं कहा जा सकता[1]। आख्यायिका और परवाद का वर्णन भी इसकी प्राचीनता का बाधक है। बहुत कुछ यह सम्भावना की जा सकती है एवं जिसे मैक्समूलर, कीथ[2] आदि विद्वान मानते हैं कि ये सूत्र सांख्यकारिका एवं उसकी टीकाओं पर आश्रित हैं।

सांख्यसूत्रों के व्याख्याकार

अनिरुद्ध :—

सांख्य प्रवचन सूत्र की प्राचीनतम उपलब्ध टीका अनिरुद्धकृत सांख्यसूत्र वृत्ति है। डॉ० रिचार्ड गार्वे ने विज्ञानभिक्षुकृत सांख्यप्रवचन भाष्य से आठ स्थलों की सूची दी है जिनके आधार पर विज्ञान भिक्षु की अपेक्षा अनिरुद्ध की प्राचीनता सिद्ध होती है। अनिरुद्ध का समय १६वीं शताब्दी के पूर्व माना गया है, जब कि पं० उदयबीर शास्त्री के अनुसार इनका समय खीष्ट एकादश शतक का प्रारम्भ है।

विज्ञानभिक्षु :—

सांख्यप्रवचनसूत्रों के दूसरे व्याख्याकार विज्ञान भिक्षु हैं। इन्हें १६वीं शताब्दी का आचार्य माना जाता है। इनके ग्रंथ का नाम सांख्यप्रवचन-भाष्य है। सृष्टि सामान्य के विषय में विज्ञानभिक्षु का विचार मौलिक है तथा बाद के ग्रंथों में इसका अधिकांशतः प्रयोग मिलता है—

प्रकृतेः क्षोभात् प्रकृतिपुरुषसंयोगस्तस्मात् सृष्टिरितिसिद्धान्तः[3]।

अन्य व्याख्याकार :—

सांख्यसूत्रों के तीसरे व्याख्याकार महादेव वेदान्ती हैं, जिन्होंने सांख्य-सूत्र वृत्तिसार नामक टीका लिखी है। ये १७वीं शताब्दी के आचार्य हैं। चतुर्थ व्याख्याकार नागेश भट्ट हैं, जिनकी कृति का नाम लघु सांख्यवृत्ति है। अन्तिम व्याख्याकार विश्वेश्वरदत्त मिश्र[4] हैं, जिन्होंने सांख्यतरंग नामक ग्रंथ लिखा है।

---

१. The Six Systems of Indian Philosophy P. 90, 219–222
R. C. Pandey Yuktidipica Introduction 13-14

२. Samkhya system pp. 112–113
Samkhya philosophie p. 68–70

३. सांख्य प्रवचन भाष्य ५/१०१ की अवतरणिका

४. सांख्य कारिका व्रजमोहन चतुर्वेदी पृ० ३८

सांख्यदर्शन के पाश्चात्य व्याख्याकार :—

पाश्चात्य विद्वानों ने सांख्यदर्शन पर बहुत प्रशंसनीय कार्य किया है। पक्षपात बिहीन दृष्टि से उन्होंने जिस तरह सांख्य के सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त किये हैं, उससे सांख्य दर्शन की समस्याओं के समाधान में बहुत कुछ सहायता मिलती है। पाश्चात्य व्याख्याकारों का मन्तव्य बिल्कुल स्पष्ट एवं प्रभावशाली है। रिचार्ड गार्वे ने इस शाखा का विशेष अध्ययन किया है तथा इसकी प्राचीनता एवं प्रामाणिकता में उनका पूर्ण विश्वास है। रिचार्ड गार्वे के बाद दूसरा महत्त्वपूर्ण कार्य प्रो० ए० वी० कीथ का है। कीथ सांख्य की अर्वाचीनता के पक्षपाती हैं। इनके निष्कर्षों एवं विचारों से सांख्यदर्शन के कुछ महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों पर नूतन प्रकाश पड़ता है। इन विद्वानों के अतिरिक्त दालमन, ओल्ट्रामेयर, याकोवी, वैलेन्टाइन, मैक्स्मूलर फैंकलिनएडगर्टन, हुबर, कालब्रुक, विलसन तथा एफ० ई० हाल आदि पाश्चात्य विद्वानों का प्रयास अति प्रशंसनीय है।

समकालीन भारतीय व्याख्याकार :—

पाश्चात्त्य विद्वानों की तुलना में समकालीन भारतीय विद्वानों का कार्य संतोषजनक नहीं है। सांख्य दर्शन में अनेक असंगतियाँ चिरकाल से चली आ रही हैं, जिनकी ओर आचार्यों का ध्यान अवश्य गया होगा। परन्तु इनका निराकरण एवं समाधान उन लोगों ने क्यों नहीं ढूढ़ा ? यह बात समझ में नहीं आती। ऐसी सम्भावना की जाती है कि भारतीय विद्वान सांख्य को एक विशिष्ट सम्प्रदाय मानकर चले हैं तथा परमर्षि कपिल को तत्त्व द्रष्टा न मानकर सांख्य शास्त्र-प्रणेता या आचार्य के रूप में मान्यता दी है। हमारी दृष्टि में भारतीय विद्वानों में आचार्य पं० आद्या प्रसाद मिश्र एवं डॉ० राम शंकर भट्टाचार्य का कार्य अति प्रशंसनीय है। इनके अतिरिक्त मैं पं० उदय-बीर शास्त्री के अथक प्रयास की प्रशंसा किये बिना नहीं रह सकता, जिन्होंने कठिन अध्यवसाय के साथ 'सांख्यदर्शन का इतिहास' लिखा है। सांख्य दर्शन के अन्य व्याख्याकारों में प्रो० हिरियन्ना, राधाकृष्णन्, दासगुप्त, गंगा-नाथ झा, हरदत्त शर्मा लोकमान्य तिलक, महामहोपाध्याय पं० गोपीनाथ कविराज, सूर्यनारायण शास्त्री, नन्दलाल सिन्हा, टी० जी० माइणकर, सी० के० रजा, गजाननशास्त्री मुसलगावकर, डॉ० अनिमासेन गुप्त, अय्या स्वामी शास्त्री, चन्द्रधर शर्मा तथा व्रजमोहन चतुर्वेदी आदि का सांख्य के विकास क्रम में अमूल्य योगदान रहा है।

द्वितीय अध्याय

सांख्य सिद्धान्त

सांख्य-दर्शन :—

सांख्य[1] शब्द की निष्पत्ति "संख्या" शब्द के आगे अण् प्रत्यय जोड़ने से होती है और संख्या शब्द की व्युत्पत्ति सम् + चक्षिञ् धातु→ख्याञ् दर्शने + टाप है, जिसके अनुसार इसका अर्थ "सम्यक्ख्याति" अर्थात् साधु दर्शन या सत्यज्ञान है। गणनार्थक संख्या शब्द से भी "सांख्य" शब्द की निष्पत्ति मानी जाती है। महाभारत में साङ्ख्य के विषय में आये हुए एक श्लोक में ये दोनों[2] ही प्रकार के भाव प्रकट किए गए हैं—

"संख्या प्रकुर्वते चैव प्रकृतिं च प्रचक्षते।
तत्त्वानि च चतुर्विंशत तेन साङ्ख्या प्रकीर्तिता: ॥" म०भा०१२।३१।४२

गीता[3] में आया हुआ "गुणसंख्यान" तथा "सांख्ये कृतान्त" पद सांख्य में गुण विचार एवं तर्क की प्रधानता का सूचक है। आचार्यशंकर[4] सांख्य को "गुण विचार" तथा "गुण विलक्षण पुरुष विचार" का वाचक मानते हैं। कौटिल्य[5] ने सांख्य को "आन्वीक्षिकी" कहा है। महाभाष्य[6] में संख्या=गणना से सांख्य की व्युत्पन्न किया गया है। अमरकोष[7] में संख्या

---

१. सांख्य दर्शन की ऐतिहासिक परम्परा, पृ० ४

२. The word "Samkhya" means relating to numbers as well as rational discriminative. N. V. Thadani, The Secret of the Sacred books of the Hindus, P. 24

३. गी० १८।१३, १९

४. गी० १३।१२ शांकर भाष्य

५. सांख्यं योगो लोकायतं चेत्यान्वीक्षिकी। अर्थशास्त्र पृ० ११

६. महाभाष्य २।२।२४

७. चित्तभोगो मनस्कारश्चर्चा सङ्ख्या विचारणा। अमरकोष १।५।२

का अर्थ निरीक्षण, चर्चा या विचार है। रिचार्डगार्बे[1], शेजर आदि विद्वानों ने सांख्य से 'गणना' अर्थ लिया है।

प्रो० एस०[2] सूर्य नारायण शास्त्री का मत है कि सांख्य की व्युत्पत्ति सामान्य ज्ञान अथवा तत्त्व गणना से सम्बद्ध विशिष्ट ज्ञान के वाचक "संख्या" शब्द से बताई जाती है। परन्तु दोनों में कौन सा समीचीन है, इस बात का निर्णय करने के लिए कोई साधन नहीं है। इसीलिए उन्होंने एक और अर्थ किया है, जो महाभारत १२।३०६।४२–४३ पर आधारित है। प्रो० हिरियन्ना[3] के अनुसार "सांख्य" का अर्थ 'मनन' है, जिसका तात्पर्य यह है कि ज्ञान के द्वारा दर्शन के परमतत्त्व का साक्षात् किया जाय। दालमन[4] का विचार है कि इस दर्शन का विशेष उद्देश्य विश्व की मीमांसा करके उसके तत्त्वों की संख्या निर्धारित करना तथा ब्रह्म से उसका विकास-क्रम बताना है। डॉ० राधाकृष्णन्[5] कहना चाहते हैं कि इस दर्शन का नाम सांख्य इसलिए हुआ क्योंकि यह सैद्धान्तिक अनुसंधान के द्वारा अपने परिणामों पर पहुँचता है। एडगर्टन[6] के अनुसार इसका अर्थ तर्क, मनन, है। एलिएड[7] का कहना है कि सांख्य शब्द उनके लिए प्रयुक्त है, जो प्रकृति पुरुष विवेक से मोक्ष चाहते हैं।

---

१. Die Samkhya Philosophie, P. 189–191
Classical Samkhya, P. 3
Indian Thought and its Development. P. 67

२. It has been said to be a variant of "Samkhya" meaning either wisdom in general or that knowledge which consists in ennumerating the categories. There seems to be no means of deciding finally between the two suggestions, however which comes from Mahabharata is both interesting and plausible.
Samkhya Karika, P. 9

३. The Essentials of Indian Philosophy, P. 106

४. Samkhya System, P. 55

५. I. P. Vo II, P. 249

६. The Beginnings of I. P.' P. 36

७. Classical Samkhya, P. 2

प्रो० याकोवी[१], एडगर्टन, राधाकृष्णन्, हाल आदि विद्वान् "सांख्य" का अर्थ "गणना" उचित नहीं मानते, क्योंकि अन्य दर्शनों में भी गणनाक्रम पर विशेष बल दिया गया है। पं० उदयवीर शास्त्री[२] के अनुसार इस शास्त्र में सांख्य-तत्त्व-ज्ञान को मोक्ष का साधन मानकर मूलभूत सिद्धान्त के रूप में स्वीकार किया गया है और इसी आधार पर तत्वों का विवेचन किया गया है। इसी कारण इस दर्शन का नाम "सांख्य" हुआ। शास्त्रीजी ने उन विद्वानों के विचारों का खंडन किया है, जिन्होंने "सांख्य" शब्द से गणना अर्थ लिया है। अन्त में उन्होंने कहा है कि "सांख्य" पद का मूल ज्ञानार्थक "संख्या" पद है, गणनावाचक नहीं। यदि ऐसा मान लिया जाय तो इस शास्त्र के द्वारा मोक्ष के साधनभूत ज्ञान के प्रतिपादन की मुख्य भावना का महत्व कुछ नहीं रहता। इस प्रकार सांख्य का अर्थ आध्यात्मिक अनुशासन परीक्षण, निरीक्षण, ज्ञान, तर्क, मनन, ध्यान, विचार, विश्लेषण आदि सिद्ध होता है।

हमारी दृष्टि यहाँ कुछ अधिक स्पष्ट एवं निश्चयात्मक है। हमारे मत से "सांख्य" का अर्थ सम्यक् ज्ञान है जो सांख्यकारिका से प्रमाणित है—सम्यग्ज्ञानाधिगमात् ...... (का० ६७)। अब यदि कोई प्रश्न करे कि किसका सम्यक् ज्ञान? तो इसका उत्तर है—तत्त्वों का सम्यक् ज्ञान एवंतत्त्वाभ्यासाद्—(का० ६४)। तत्त्व क्या है? इसका उत्तर कारिकाकार देते हैं—व्यक्ताव्यक्तज्ञ विज्ञानात् (का० २)। इस प्रकार सांख्य का अर्थ 'व्यक्त', 'अव्यक्त' तथा 'ज्ञ' का सम्यक् ज्ञान है। इसे ही तत्त्वज्ञान कहा जाता है। इन्हीं तत्त्वों के सम्यक् ज्ञान से विशुद्धज्ञान की उत्पत्ति होती है, और उस विशुद्ध ज्ञान से 'कैवल्य' प्राप्त होता है। इसलिए सांख्य को मूलतः 'व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानवादी' कहा जा सकता है। व्यक्त, अव्यक्त और ज्ञ के स्वरूप को आगे स्पष्ट किया जायेगा। इस प्रकार सांख्य कोई विशिष्ट सम्प्रदाय नहीं है, अपितु दुःख त्रय से सदा के लिए छुटकारा दिलाने वाला साधन, उपाय (ज्ञान) है और परमर्षि कपिल इस (सांख्यज्ञान) के द्रष्टा हैं। ज्ञान से कैवल्य की प्राप्ति होती है—इस सत्य का साक्षात्कार कपिल ने

१. The Beginnings of Indian Philosophy, P. 35-37
I. P. Vo II, P. 249
Samkhyasar, P. 5
O & D. S. S. T., P. 3

२. सांख्य सिद्धान्त, पृ० १९-२०

किया तथा इसे शास्त्रबद्ध करने का श्रेय ईश्वरकृष्ण को है। इस दृष्टि से सांख्यकारिका ही सांख्यशास्त्र है, जिसे मोक्षशास्त्र कहा जा सकता है। परमर्षि कपिल तत्त्वज्ञ हैं और ईश्वरकृष्ण आचार्य। इस प्रकार परमर्षि कपिल को साख्य-द्रष्टा तथा ईश्वरकृष्ण को सांख्य-शास्त्र-प्रणेता कहा जा सकता है—यह हमारी मान्यता है, जो परम्परागत आचार्यों के विचारों से सर्वथा भिन्न है।

प्रकृति-स्वरूप :—

प्रकृति विश्व का आदि कारण है[1]। जो कुछ हमारे चारो तरफ विविधताओं से युक्त जगत दृष्टिगोचर हो रहा है, इन सबका कारण प्रकृति है। यह तत्वों का ऐसा सम्मिश्रण है, जो सदा परिवर्तित होता रहता है। कार्य-कारण भाव के सिद्धान्त से यह परिणाम निकलता है कि इस आनुभविक विश्व का परम एवं अन्तिम आधार प्रकृति है। यह आदि कारण है, जिसका अन्य कोई कारण नहीं। जगत को प्रकृति का परिणाम कहा गया है और प्रकृति को जगत का कारण। यह सत्ता की प्रारंभिक इकाई है, जिससे जीवन की भिन्न-भिन्न व्यवस्थाएँ निकलती हैं[2]। प्रकृति का कोई कारण नहीं है। यदि मूल प्रकृति का भी कारण कल्पित किया जाय तो उसके कारण का भी कारण कल्पित करना पड़ेगा। इस प्रकार अनवस्था प्रसंग आ जाएगा, जो किसी को मान्य नहीं है।

गुणवती[3] होने के कारण यह समस्त भौतिक एवं मानसिक परिवर्तनों का आधार है। प्रकृति एक है तथापि उसका स्वरूप वैविध्यपूर्ण है। विश्व का एकत्व प्रकट है। अतएव प्रकृतिरूप में एकही कारण का निर्देश मिलता है। दिक्काल की सत्ता भी प्रकृति के अन्दर समाहित है। यह कभी उत्पन्न नहीं होती अतएव विनष्ट भी नहीं हो सकती। प्रकृति की सत्ता उसके महदादि कार्यों से सिद्ध होती है। यह आपत्ति कि प्रकृति प्रत्यक्षगम्य नहीं है, अधिक महत्व की नहीं है। कितने ही ऐसे पदार्थ हैं, जिन्हें यथार्थ माना जाता है किन्तु वे प्रत्यक्षज्ञान के विषय नहीं बनते। प्रकृति की सूक्ष्मता इसे प्रत्यक्ष के अयोग्य बनाती है[4]। इसके अन्दर समस्त व्यवस्थित

---

१. सां० का० ३

२. I. P. Vo II, P. 260

३. सां० का० ६०

४. सां० का० ८

अस्तित्व उपलक्षित हैं। सांख्य प्रतिपादित प्रकृति कोई भौतिक द्रव्य नहीं है और न कोई चेतना सम्पन्न सत्ता अपितु यह समस्त प्रमेय विषयक जीवन का आधार है[१]। प्रकृति एक है और सर्वव्यापी है, जो अपने अन्दर सब वस्तुओं की संभाव्यताओं को धारण करती है। मानसिक और भौतिक दोनों ही प्रपञ्चों की पृष्ठभूमि प्रकृति है। प्रकृति[२] ही नाना जीवों के आश्रय से बंधन, मोक्ष तथा संसरण को प्राप्त होती है। मानव सृष्टि प्रकृति की सर्वोत्कृष्ट रचना है। मनुष्य को मुक्त होने के लिए प्रकृति निःस्वार्थ रूप से उसकी सहायता करती है। मुक्त हो जाने पर फिर उसके प्रति उसका व्यापार बन्द हो जाता है। जैसा कि हम देखेंगे जीवात्मा के विषयोपभोग एवं कैवल्य की चरितार्थता के निमित्त ही प्रकृति जगत् के रूप में अपने को परिणत करती है[३]।

प्रकृति को सर्व व्यापक होते हुए नित्य गतिशील इस आधार पर माना गया है कि यदि किसी समय उसकी गति रुक गयी तो दुबारा उसमें गति उत्पन्न करने की व्याख्या करना असंभव हो जायेगी। यह न्यूटन के प्रथम-गति के नियम से मिलता-जुलता है, जिसके अनुसार कोई भी गतिमान या स्थिर पिण्ड तब तक वैसा ही बना रहेगा, जबतक कोई बाहरी शक्ति उसमें बाधा न दे[४]। इस दर्शन में कोई बाहरी शक्ति नहीं है, जो प्रकृति की गति को बाधित कर सके। प्रकृति एक संघात मात्र नहींहै बल्कि ऐसे अवयवों की व्यवस्थाबद्ध एकता है, जिसमें से एक का सम्पूर्ण के अन्दर अपना विशिष्ट स्थान और कार्य है। विश्लेषण प्रक्रिया से यह पता चलता है कि भौतिक-जगत् के कारण के खोज की एक सीमा है। क्योंकि यदि हम और पीछे चले तो हमें प्रकृति के आलावा और कुछ नहीं मिलता। इसलिए प्रकृति को परम अव्यक्त अर्थात् वह प्रथम कारण जिसका अस्तित्व निरुपाधिक और आवश्यक है, कहा गया है। सांख्य के प्रकृति की धारणा इस बात से बहुत उन्नत है कि उसे शरीर की तरह एक स्वतः विकासशील सत्ता मान लिया गया है। ऐसी सत्ता को किसी बाहरी व्यवस्थापक की जरूरत नहीं है। प्रकृति[५] सर्वशक्तिमान है और उसके अन्दर सभी आकृतियों की संभावना मौजूद रहती है।

---

१. I. P. Vo II P. 262

२. सां० का० ६२

३. सां० का० ५६

४. Out Lines of I. P., P. 273

५. सां० का० ४२

वह कोई भी रूप ग्रहण कर सकती है। यह जगत् कार्य-कारणों का संतान या प्रवाह है। अतः इस शृंखला का मूल कारण होना आवश्यक है, जो प्रकृति है, जितने भी कर्म परिणाम हैं, जो भी सुख या दुःख हैं। सभी प्रकृति या उसके विकारों से संबंधित हैं।

अव्यक्त स्वरूप :—

प्राणी जिस योनि में जाता है, उसकी प्रवृति वैसी ही हो जाती है। इस प्रकार प्रकृति शरीर तथा अव्यक्त स्वभाव का वाचक है। सांख्यकारिका में प्रकृति को गुणवती तथा अव्यक्त को त्रिगुणात्मक कहा गया है। यद्यपि तत्त्वतः दोनों में अभेद हैं, जिस प्रकार प्रकृति की सत्ता उसके महदादि कार्यों से सिद्ध की गयी है उसी प्रकार अव्यक्त की सत्ता व्यक्त के आधार पर सिद्ध होती है। महदादि तेइस (२३) कार्य सदैव मिश्रित रूप में ही देखे जाते हैं। इस प्रकार विभिन्न शरीरों में महदादि कार्यों की अभिव्यक्ति ही व्यक्त है। व्यक्त अनित्य हैं। कार्यसत् व्यक्त अनेक हैं किन्तु कार्य मात्र तेइस। सांख्यकारिका में इनकी पृथक्-पृथक् सत्ता पर विचार हुआ है। व्यक्त कार्य है तथा अव्यक्त कारण।यहाँ कारण और कार्य के सम्बन्ध को भी समझ लेना आवश्यक है। कारण कार्य से सूक्ष्म है तथा कार्य कारण गुणों से युक्त है। व्यक्त त्रिगुणात्मक है। इसलिए अविवेक्यादि धर्मों से युक्त है। विश्व में त्रिगुण से भिन्न का भी अभाव है। अर्थात् जितने भी प्राणी हैं सभी की प्रवृत्ति त्रिगुणात्मक है। कारण अव्यक्त है और कार्य व्यक्त। कार्य कारण के गुणों से युक्त होता है। चूँकि व्यक्त त्रिगुणात्मक है अतएव उसके कारण अव्यक्त का भी त्रिगुणात्मक होना सिद्ध होता है[1]।

अव्यक्त की सिद्धि :—

व्यक्त के आधार पर अव्यक्त की सत्ता सिद्ध की गयी है। इसकी सिद्धि में कारिकाकार ने पाँच सबल हेतुओं को उपस्थापित किया है—

प्रथम हेतु है—भेदानां परिमाणात् :—

व्यक्त कारण से उत्पन्न होता है। इसलिए अनित्य है। व्यक्त को सावयव तथा अव्यापि भी कहा गया है भिन्न-भिन्न शरीरों में इनकी अभिव्यक्ति भिन्न-भिन्न हुआ करती है। यही भिन्नता ही भेद रूप है। मनुष्य की वृत्तियाँ तिर्यक् या दैव जातियों में नहीं आ सकती। इसका कारण उनकी मूल प्रवृत्ति या अव्यक्त है।

१. सांख्य कारिका १४

द्वितीय हेतु है—भेदानां समन्वयात् :—

हम अपने दैनिक अनुभवों में प्राणी विशेष के क्रिया कलापों से परिचित रहते हैं। उनके आचरण एवं व्यवहार से पता लगा लेते हैं कि यह प्राणी किस जाति का है ? इस प्रकार समन्वय या एकजातीयता के आधार पर अव्यक्त की सत्ता सिद्ध होती है।

तृतीय हेतु है—भेदानां शक्तितः प्रवृत्तेश्च :—

व्यक्त को सक्रिय कहा गया है। जीवात्मा की करण प्रकृति शरीर-व्यवस्थानुरूप सदैव सक्रिय रहती हैं। उनकी यह सक्रियता जिस शक्ति विशेष से सञ्चालित होती है, वही अव्यक्त है। साँप-नेवले में स्वतः विरोध क्यों रहता है ? देव और तिर्यक् जातियाँ भोग में ही क्यों लिप्त रहती हैं ? मनुष्य ज्ञान की खोज में क्यों प्रवृत्त होता है ? इन सबका कारण उनकी प्रकृति विशेष स्वभाव या अव्यक्त है।

चतुर्थ हेतु है—कारणकार्यविभागात् :—

कारण अव्यक्त है तथा कार्य व्यक्त। व्यक्त कारण से उत्पन्न होता है। वह शरीर भेद से परिवर्तित होता रहता है। अव्यक्त का कोई कारण नहीं है। यही कारण रूप अव्यक्त तथा कार्य रूप व्यक्त का विभाग है। इस प्रकार सर्वव्यापक एकत्व की व्याख्या के लिए अव्यक्त की सत्ता सिद्ध होती है।

पञ्चम एवं अन्तिम हेतु है—अविभागाद्वैश्वरूप्यस्य :—

सृष्टि की विविधता ही वैश्वरूप है। अव्यक्त तथा व्यक्त में कारण के आधार पर भेद अवश्य है, परन्तु सार्वभौम रूप में दोनों में अभेद है। क्योंकि व्यक्त तथा अव्यक्त दोनों त्रिगुणात्मक है। सम्पूर्ण जगत भी त्रिगुण के अतिरिक्त कुछ नहीं है। इस प्रकार जगत का नानात्व, जिसका आधार त्रिगुण है, एकत्व रूप अव्यक्त की सत्ता को लक्षित करता है।

उपर्युक्त पाँच सबल हेतुओं के बल पर कारिकाकार ने अव्यक्त की सत्ता सिद्ध की है। प्रकृति की सत्ता सिद्ध करने के बाद अव्यक्त की सत्ता को इस लिये सिद्ध किया गया है कि सभी प्राणी अपने विशिष्ट स्वभाव के अनुरूप ही जगत् में व्यवहार करते हुए दृष्टिगोचर होते हैं। शरीरानुकूल प्राणी स्वतः अपने अभीष्ट की प्राप्ति के लिए प्रवृत्त होते हैं। उनकी क्रियोन्मुखता में ईश्वरादि कोई प्रेरक तत्त्व नहीं है। उपर्युक्त सिद्धान्त की स्थापना से हम

इस वैज्ञानिक तथ्य पर पहुँचते हैं कि प्रत्येक पदार्थ का एक विशेष गुण है, जिसमें किसी भी प्रक्रिया विशेष से मौलिक परिवर्तन नहीं हो सकता।

अव्यक्त की सत्ता सिद्ध हो जाने के बाद अब यह प्रश्न होता है कि अव्यक्त तो एक है, इससे सृष्टि की विविधता की व्याख्या कैसे सम्भव हो सकती है? इसके उत्तर में सांख्य कहता है कि सम्पूर्ण नानात्व का आधार त्रिगुण है। ये तीन गुण सदैव मिश्रित रूप से सृष्टि में व्याप्त हैं। एक गुण के उत्कट होने पर शेष दो गुण अभिभूत हो जाते हैं, परन्तु वे एक दूसरे के आश्रय एवं सहचारी रूप में परिणाम उत्पन्न करने में सहायक बने रहते हैं। यह परिणाम जल की तरह होता[1] है। जैसे जल जिस बर्तन में रखा जाता है, उसी आकार का हो जाता है, वैसे ही जीवात्मा जिस शरीर-विशेष को धारण करता है, उसी के अनुरूप उसकी प्रवृत्ति हो जाती है। इसी प्रकार देवयोनि में जाने पर सत्वप्रधान, मानवयोनि में रजस्प्रधान तथा तिर्यक्योनि में तमस्प्रधान प्रवृत्ति हो जाती हैं। इस प्रकार अव्यक्त से नाना रूपों में सलिलवत् परिणाम होता है।

प्रधान :—

मानवसृष्टि रजस् प्रधान है। बुद्धि की विशिष्टता होने के कारण मनुष्य स्वतः ज्ञान की खोज में प्रवृत्त होता है। फिर भी यह ज्ञान लाखों में किसी एक व्यक्तिविशेष को ही उत्पन्न होता है। सांख्यकारिका में प्रधान-पद उस मनुष्य से सम्बन्धित है, जिसे कैवल्य को प्राप्त करना है या जिसे ज्ञान उत्पन्न होना है।[2]

उपर्युक्त समस्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि प्रकृति, अव्यक्त तथा प्रधान, तीनों तत्त्वतः अभिन्न हैं। परन्तु प्रत्येक पद का अपना विशिष्ट रहस्य है और बिना इस रहस्य के सम्यक्बोध के सांख्यकारिका को सही रूप में नहीं समझा जा सकता। स्वयं ईश्वरकृष्ण ने प्रत्येक के रहस्य विशेष पर प्रकाश डाला है। प्रकृति प्राणियों के शरीर का वाचक है तो अव्यक्त उनकी मूल प्रवृत्ति का परिचायक है। 'प्रधान' उस मनुष्य से सम्बन्धित है, जिसे कैवल्य प्राप्त करना है।

---

१. सां० का० १५, १६

२. सां० का० ११, २१, ५७, ६८

वैदिक साहित्य में प्रकृति :—

वैदिक साहित्य में जगत् के उद्गम एवं विकास सम्बन्धी समस्याओं की ओर इंगित किया गया है। प्रत्येक परिवर्तनशील पदार्थ के आदि आधार को जल के रूप में स्वीकृत किया गया[1] है। इसी को मौलिक तत्त्व माना गया है, जिससे इस नानाविध जगत् की सृष्टि हुई। आधुनिक आधिभौतिक वैज्ञानिक इसी आधार पर अपना यह निर्णय देते हैं कि जहाँ जल है, वहाँ जीवन अवश्य है। ऋ० १।८२।६ में जगत् के उत्पत्तिहीन आदि कारण का संकेत है। ऋ० १०।८१।४ में यह प्रश्न होता है कि कौन काष्ठ था? कौन वृक्ष था? जिससे द्यावा पृथ्वी का विकास हुआ। ऋ० १।८९।१० में अदिति को विश्व का उपादान कारण माना गया है। द्युलोक अन्तरिक्ष माता, पिता, सम्पूर्णदेव, सम्पूर्णप्रजा और जो कुछ उत्पन्न हो चुका है, आगे उत्पन्न होने को है, वह सब अदिति है। उपर्युक्त उद्धरणों से सांख्य की प्रकृति का संकेत मिलता है। पुरुषसूक्त ऋ० १०।९० हिरण्यगर्भसूक्त ऋ० १०।१२१ से भी जगत् के आदि कारण पर प्रकाश पड़ता है। ब्राह्मणों में प्रजापति का वर्णन भी इसी ओर प्रकाश डालता है। उपनिषदों में ब्रह्म या आत्मा को ही जगत् का आदि एवं अन्तिम तत्त्व माना गया है। बृ० उ० २।१।२०, श्वे० उ० ४।५, क० उ० २।३।१ में जगत् के मूल कारण का संकेत है। डॉ० अनिमा सेन गुप्त[2] ने छान्दोग्य उपनिषद् के छठे अध्याय में सांख्य की प्रकृति के स्वरूप को ढूढ़ने का प्रयास किया है।

महाभारत पुराणादि में प्रकृति :—

महाभारत, गीता एवं पुराणादि में प्रकृति, प्रधान तथा अव्यक्त एकार्थक हैं। मूल सांख्य में कैवल्य के लिए किसी साधना या संयम पर विशेष बल नहीं दिया गया है, जब कि महाभारत एवं पुराणों में तपस्या एक प्रमुख साधन है, साथ ही साथ इन ग्रन्थों में मनुष्य के अतिरिक्त अन्य प्राणियों में भी ज्ञान का उत्पन्न होना संगत माना गया है, जबकि सांख्य की दृष्टि में इसका अधिकारी मनुष्य मात्र है। इसीलिए इन ग्रन्थों में प्रकृति, प्रधान या

---

१. While attempts are made to present the process of creation as the evolution of being from nonbeing, first in the shape of waters, Cambridge History of India Vo I P. 107

२. Chhandogya Upnishad Samkhya point of view A. S. Gupta.

अव्यक्त एक ही अर्थ के बोधक हैं। सांख्यकारिका में इन पदों का अपना विशिष्ट रहस्य है। गीता, महाभारत एवं पुराणों में प्रकृति के लिए अव्यक्त, माया, ब्रह्म, अक्षर, नित्य, प्रधान, जड़, गुणसाम्य, तम, क्षेत्र आदि शब्द प्रयुक्त हुए हैं।

व्याख्याकारों की दृष्टि में प्रकृति-स्वरूप :—

सर्व प्राचीन व्याख्याकार आचार्य[१] माठर ने प्रकृति को ब्रह्म का पर्याय कहा है। गौड़पाद ने भी इसे स्वीकार किया है। आचार्य माठर[२] ने प्रकृति को सत्वरजः तमस् की साम्यावस्था कहा है, जिसे सभी व्याख्याकार मानते हैं। आचार्य माठर ने ही प्रकृति को सृष्टि कर्त्री[3] कहा है, जिससे सभी व्याख्याकार सहमत है। १५वीं[४] कारिका की व्याख्या में उन्होंने प्रकृति की सत्ता उसके महदादि कार्यों के आधार पर सिद्ध की है तथा उससे महदादि की उत्पत्ति एवं प्रलयकाल में क्रमानुसार स्व स्व कारण में विलीन होने की बात कही है। परवर्ती किसी व्याख्याकार ने आचार्य माठर की इस मान्यता को चुनौती देने का साहस नहीं किया है। माठरकृत प्रकृति विषयक विचार ही जिसके[५] अनुसार सृष्टिकाल में प्रकृति से सृष्टि का विकास होता है तथा प्रलयकाल में सभी प्राणी उसी में विलीन हो जाते हैं, सांख्य का एक मूल सिद्धान्त बन गया है। हमारी दृष्टि में व्याख्याकारों के मान्यताओं में निम्नलिखित असंगतियाँ हैं—

---

१. माठरवृत्ति, गौड़पाद भाष्य, का० २२

२. माठरवृत्ति, गौड़पाद भाष्य, का० १६, ३७
जयमंगला, का० ६०
सां० त० कौ०, का० २
सांख्य चन्द्रिका, का० ११
सांख्य सूत्र १।६१

३. माठर वृत्ति का० ५६

४. इत्थं त्रयोलोकाः प्रलयकाले प्रधानेऽविभक्ताः, का० १५

५. Creation is the unfolding of the different effects from the original Prakriti and destruction is the disolution of them into to the original Prakriti.
A source book in Indian Philosophy, P. 425

प्रथम बात तो यह है कि महदादि कार्य सांख्य में सत् है उनकी उत्पत्ति एवं विनाश की व्याख्या संगत नहीं प्रतीत होती।

द्वितीय दोष यह है कि आठवीं कारिका में प्रकृति की सत्ता सिद्ध की जा चुकी है, पुनः उसकी सत्ता को सिद्ध करना उचित नहीं प्रतीत होता।

तृतीय दोष यह है कि सांख्य में कहीं भी प्रकृति को सृष्टिकर्त्री के रूप में वर्णित नहीं किया गया है, उक्त कारिका से केवल यही भाव पल्लवित होता है कि प्रकृति जगत् का उपादान कारण है।

चतुर्थ दोष या असंगति यह है कि 'अविभाग' पद का अर्थ प्रलय नहीं हो सकता। इसे कोई भी विचारवान संगत नहीं मान सकता।

आचार्य माठर के विचारों की समीक्षा :—

अब यह प्रश्न उठता है कि आचार्य माठर ने अपनी व्याख्या का आधार कहां से लिया है। इस विषय में हमें कुछ कहना है। हमारे मत से आचार्य माठर ने उपनिषदों से अपना आधार चुना है। उपनिषदों में आत्मा या ब्रह्म ही जगत् का मूल है। सभी प्राणी उसी से उत्पन्न होकर प्रलयकाल में विलीन हो जाते हैं[१]। उपनिषदों[२] में आत्मा को सृष्टि कर्त्री के रूप में भी चित्रित किया गया है। आचार्य माठर प्रकृति को ब्रह्म का पर्याय मानते हैं। उपर्युक्त आधारों पर हमारी भावना और दृढ़ हो जाती है कि आचार्य माठर का मन्तव्य उपनिषदों पर आधारित है। उपनिषदों में मोक्ष का साधन भूत "आत्मज्ञान" पर विशेष बल दिया गया हैं, जो सांख्य विचारधारा के अनुरूप है। परन्तु उपनिषदों की सृष्टि एवं प्रलय के विधान की व्याख्या सांख्य को मान्य नहीं है।

सत्कार्यवाद : —

सत्कार्यवाद सांख्य का एक महत्वपूर्ण सिद्धांत है। यह वह आधार है, जिस पर सांख्य के सृष्टिविषयक विचारधारा का सम्पूर्ण भवन खड़ा है। इसकी महत्ता को देखते हुए कारिकाकार ने इसकी स्थापना में पूरी नवीं कारिका लगायी है तथा पाँच सबल हेतुओं को उपस्थापित किया है[3]। 'सत्कार्य'

---

१. छा० उ० ६।९।२, ६।१०।१,२
   मु० उ० १।१।७, २।१।५

२. एतरेयोपनिषद १।१।१,२

३. सां० का० ९

पद दो शब्दों से मिलकर बना है--सत् और कार्य। सत् का अर्थ है-जो विद्यमान (अस्तीति सत्) हो तथा कार्य से तात्पर्य है महदादि (महत् अहंकार मन सहित एकादशइन्द्रियाँ शब्दादि पञ्चतन्मात्र, पृथिव्यादि पञ्च महाभूत) तेइस कार्य, जो प्रकृति के स्वरूप तथा विरूप हैं। इस प्रकार सत्कार्य का अर्थ है--महदादि तेइस कार्यों की विद्यमानता। ये त्रिकालावाधित हैं। जिन हेतुओं को इसकी स्थापना में उपस्थित किया गया है, उनमें--

प्रथम हेतु है-असदकरणात् :—

अर्थात् असत् की सत्ता न होने से। यदि महदादि कार्य सत् नहीं है, तो उन्हें कभी सत् नहीं बनाया जा सकता। जो असत्[1] है वह कभी विद्यमान नहीं हो सकता। और जो सत् है उसका कभी अभाव नहीं हो सकता। इस प्रकार जो है, वह हमेशा रहेगा। और जो नहीं है वह कभी नहीं हो सकता। हम इस आनुभविक जगत् को, जो महदादि कार्यों का समष्टि रूप ही है, भाव रूप में देखते हैं। अतएव महदादि कार्य सत् हैं। यह विचार द्रव्य की अविनाशिता के सिद्धान्त से मेल खाता है, जिसके अनुसार द्रव्य की न तो उत्पत्ति होती है और न विनाश।

द्वितीय हेतु है-उपादानग्रहणात् :—

अर्थात् कारण के ग्रहण से। कार्य महदादि तेइस है—कार्य प्रकृति। यह कारण प्रकृति कार्य को उत्पन्न नहीं करती, अपितु वह कार्य से सूक्ष्म है, तथा कार्य कारण गुणों से युक्त हैं। सांख्य का यह कारण-कार्य सम्बन्ध अन्य भारतीय दर्शनों में वर्णित कार्य कारण सम्बन्ध से भिन्न है तथा इस ओर गम्भीरता से विचार करना चाहिये। प्रकृति जो इस आनुभविक जगत् का मूल कारण है, उसकी सता उसके महदादि कार्यों से सिद्ध होती है। यदि महदादि कार्य सत् नहीं होंगे तो फिर प्रकृति के अनुमान में लिङ्ग बनने वाले किसी अन्य तत्त्व की खोज करनी पड़ेगी, जिसे एक निरर्थक प्रयास कहा जायगा। इसलिये महदादि कार्य सत् हैं। इससे हम इस वैज्ञानिक तथ्य पर पहुँचते हैं कि प्रत्येक कार्य-अपने उपादान कारण की ओर संकेत करते हैं। इसी आधार पर अग्नि की ज्वालाएँ ऊपर उठती हैं तथा जल की गति सर्वत्र नीचे की ओर होती है। इसी आधार पर पृथ्वी आदि ग्रह अपने उपादान कारण सूर्य का चक्कर लगाते हैं।

---

१. नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः॥ गी० २।१६॥

तृतीय हेतु है—सर्वसम्भवाभावात् :—

अर्थात् सभी का सभी से न होने से। विशेष कार्य विशेष कारण का विकार या कार्य है। महत् प्रकृति का, अहंकार महत् का, मन सहित एकादश इन्द्रियाँ तथा शब्दादि पञ्चतन्मात्र अहंकार का तथा पृथिव्यादि पञ्चमहाभूत तन्मात्रों के विकार या कार्य है। यह कारण-कार्य की शृंखला इस बात का प्रमाण है कि महदादि कार्य सत् हैं। भौतिक जगत् में इस व्यवस्था का पूर्ण निर्वाह देखने को मिलता है।

चतुर्थ हेतु है—शक्तस्य शक्यकारणात् :—

शक्त में शक्य के होने से। प्रत्येक कार्य की एक निर्धारित क्षमता है। महत् निश्चय ही कर सकता है अहंकार अभिमान तथा मन केवल संकल्प ही कर सकता है। चक्षु आदि ज्ञानेन्द्रियाँ रूपादि अपने विषय के आलोचन में तथा हस्तादि कर्मेन्द्रियाँ अपने अपने विषय को ग्रहण करने में प्रवृत्त होती हैं। पञ्च तन्मात्र अविशेष होने के कारण निरुप भोग रूप हैं, वे गृहीत विषय है एवं पृथिव्यादि पञ्चमहाभूत शान्त, घोर तथा मूढ़ रूप होते हैं। यह प्रत्येक कार्य का निश्चित सामर्थ्य होना इस बात का प्रमाण है कि महदादि को सत् होना चाहिए। इन महदादि कार्यों का सामर्थ्य शरीरानुकूल देव, मानुष, तिर्यक योनियों में अपने अपने कार्यों को ही सम्पादित करता है, भले ही उनका मूल्यांकन शारीरिक संगठन के अनुसार भिन्न-भिन्न हो। भौतिक-जगत् में भी प्रत्येक पदार्थ का एक विशेष गुण है, जिसका कभी अपलाप नहीं होता। अग्नि की दाहकता तथा जल की शीतलता इस बात का प्रमाण है। यदि ऐसा न हो तो अग्नि शीतलता का तथा जल दाहकता का कार्य करता। ऐसी स्थिति में सारा विज्ञान शिथिल हो जायगा तथा सारे तर्कों को ताक पर रख देना होगा। यह विचार उर्जा के संरक्षण सिद्धांत से मिलता जुलता है, जिसके अनुसार उर्जा की न तो उत्पत्ति होती है और न विनाश।

पाचवाँ और अन्तिम हेतु है—कारणभावात् :—

कारण का अभाव न होने से या कारण प्रकृति का भाव होने से। यह आधार दूसरे हेतु का पूरक है। कारण प्रकृति है, जो सूक्ष्म है। सूक्ष्म होने से उसकी उपलब्धि नहीं होती, परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि उसका अभाव है। इस जगत् में ऐसी बहुत सी चीजें हैं, जो अदृश्य हैं एवं हमारे अनुभव में नहीं आती। परन्तु उनकी सत्ता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। आशय

यह है कि महदादि कार्य इसलिये भी सत् हैं क्योंकि उनके कारण प्रकृति की सत्ता है। प्रकृति भाव रूप है।

उपर्युक्त आधारों पर यह सिद्ध होता है कि प्रकृति के महदादि तेइस कार्य भूत, भविष्य तथा वर्तमान तीनों काल में विद्यमान रहते हैं। उनकी न तो उत्पत्ति होती है और न विनाश। सांख्य के इस महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त का श्रुति या स्मृति में कहीं भी स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता। गीता में केवल इस ओर संकेत भर किये गये हैं। इसी आधार पर डॉ० अनिमासेन गुप्त[1] इस सिद्धांत का सर्वप्रथम दर्शन गीता में करती हैं। प्राचीन वैदिक साहित्य में भी इस ओर संकेत मिलता है।

जीवात्मा पूर्व शरीर को त्यागकर जब नया शरीर धारण करता है तो उसमें भी ये महदादि कार्य समष्टि रूप में विद्यमान रहते हैं। इस प्रकार सांख्य रूप परिवर्तन की कल्पना को स्वीकार करता है, परन्तु सत्ता के सम्पूर्ण विनाश की कल्पना इसे मान्य नहीं है। सांख्य का यह सिद्धान्त आधुनिक विज्ञान से अधिक साम्य रखता है। सत्कार्यवाद के प्रतिष्ठित हो जाने के बाद सृष्टि के बाद प्रलय, प्रलय के बाद सृष्टि के विधान की व्याख्या निष्प्रयोजन सिद्ध हो जाती है।

व्यक्त स्वरूप :—

महदादि तेइस कार्य हैं। ये प्रकृति में सदा विद्यमान रहते हैं। जीवात्मा अनेक हैं। इस प्रकार महदादि कार्यों की विभिन्न शरीरों में अभिव्यक्ति ही व्यक्त है। समष्टि रूप में व्यक्त से जगत् का बोध होता है। जीवात्मा पूर्व शरीर का त्यागकर जब नया शरीर धारण करता है, तो उसके पूर्व जन्म के संस्कार नये शरीर के निर्माण में कारण बनते हैं। इसीलिए व्यक्त[2] को हेतुमद् कहा गया है। कारण से उत्पन्न होने के कारण व्यक्त अनित्य एवं अव्यापि होता है। व्यक्त एवं कार्य के भेद को एक उदाहरण द्वारा समझा जा सकता है। जैसे एक मिट्टी से विभिन्न प्रकार के बर्तन बनते हैं। स्वर्ण से नाना प्रकार के आभूषण बनते हैं, परन्तु मूल रूप से दोनों मृत्तिका एवं सुवर्ण

१. An other important contribution of the Gita to the classical Samkhya is the laying down of the principle of Satkaryavad. It is the Gita that emphathically, declares for the first time, E. S. T. P. 91

२. सां० का० १०

रूप ही रहते हैं और भी जैसे H_2O मिलकर पानी बनता है। यह जल स्थान भेद से विभिन्न प्रकार का होता है तथा विभिन्न उपायों से उसके स्वाद एवं रूप में भी परिवर्तन किया जा सकता है। यद्यपि उसके विभिन्न रूप हैं परन्तु वह मौलिक रूप में H_2O का ही मिश्रण है। यही व्यक्त तथा कार्य में भेद है।

व्याख्याकारों की दृष्टि में सत्कार्यवाद :—

आचार्य माठर ने सत्कार्य का अर्थ उत्पत्ति के पूर्व कार्य का कारण में सत् होना या विद्यमान होना किया है। सिद्धान्त की स्थापना के पूर्व उन्होंने वैशेषिक, बौद्ध, जैन दर्शनों में वर्णित कारण कार्य सम्बन्ध की भी समीक्षा की है। सांख्य के सत्कार्यवाद की स्थापना के सन्दर्भ में उनका कहना यह है कि महदादि[१] उत्पत्ति के पूर्व अपने कारण प्रकृति में सत् (विद्यमान) हैं। अपने तर्कों एवं मन्तव्यों की पुष्टि के लिए उन्होंने तिल-तैल, दुग्ध-दधि मृत्तिका-घट आदि लौकिक दृष्टांतों को भी उपस्थित किया है। आचार्य गौड़पाद ने माठर का ही अनुसरण किया है। वाचस्पति मिश्र तथा अन्य व्याख्याकारों ने इस सिद्धान्त की स्थापना में सांख्य प्रतिपादित कार्यरूप महदादि का जरा भी ध्यान नहीं रखा है, अपितु कारण-कार्य सम्बन्ध की चर्चा स्वतन्त्र रूप में की है। वाचस्पति मिश्र[२] कहते हैं—कारिका के अन्त में आये हुए सत् कार्यम् (कार्य सत् है)—इस वाक्यांश में कारण व्यापार के पूर्व भी इन शब्दों को जोड़ देना चाहिए, ऐसा करने पर नैयायिक शिष्य हमारे पर सिद्ध साधन का दोष नहीं दे सकते। प्रो० ए० बी० कीथ[३] का सुझाव है कि इन पाँच युक्तियों को मुख्य रूप से तीन हेतुओं में ही समझा जा सकता है। जॉन डेविस[४] का मत है कि इस कारिका का उद्देश्य कार्य से कारण की सत्ता को प्रतिपादित करना है न कि कारण सत्ता के आधार पर कार्य सत्ता को स्थापित करना। गम्भीरता से विचार करने पर आचार्यों के मन्तव्यों में निम्नलिखित असंगतियाँ दिखाई देती हैं।

---

१. तस्मादनुमीयते प्रधाने प्रागुत्पत्तेर्महदादिकमस्त्येव। माठरवृत्ति

२. सां० त० कौ०, का० ९

३. Samkhya System, PP. 89–90

४. The object of the stanza is to establish the existence of cause from its effects and not of effects from the existence of cause. Samkhya Karika, P. 18

प्रथम असंगति तो यह है कि 'सत्' का अर्थ उत्पत्ति के पूर्व कारण में सत् कभी नहीं हो सकता। स्वयं आचार्य माठर[१] एवं गौड़पाद ने सत् का अर्थ 'नित्य' किया है। पुनः नित्यवस्तु की उत्पत्ति क्यों और कैसे ?

दूसरी असंगति यह है कि इस सिद्धान्त की स्थापना में बौद्ध, जैन, वैशेषिक दर्शनों में वर्णित कारण-कार्य-सम्बन्ध को उपस्थित करना संगत नहीं प्रतीत होता, क्योंकि अन्य दर्शनों में सांख्यीय प्रमेय ज्यों के त्यों मान्य नहीं हैं। वाचस्पति मिश्र के कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि वे सांख्य के सत्कार्यवाद की स्थापना में उतना प्रयत्नशील नहीं है, जितना न्याय के कारण-कार्य-सम्बन्ध की व्याख्या में।

तीसरी असंगति यह है कि सांख्य में कारण क्या है ?, कार्य क्या हैं ? एवं कारिकाकार के कथन का यहाँ उद्देश्य क्या है ? इस ओर व्याख्याकारों का तनिक भी ध्यान नहीं गया है। आचार्यों ने अपने तर्कों एवं निर्वचनों के समर्थन में जो दूध-दधि, तंतु-पट, तिल-तेल आदि लौकिक दृष्टांतों को उपस्थापित किया है, उससे सांख्य शास्त्र की छबि धूमिल होती है। ऐसा प्रतीत होता है कि आचार्यों की दृष्टि में दूध-दधि, तिल-तेल आदि लौकिक-घटना चक्रों की व्याख्या करना ही सांख्य शास्त्र का उद्देश्य है और हो सकता है उनके अनुसार इन्हीं के सम्यक् ज्ञान से कैवल्य की प्राप्ति सम्भव हो। व्याख्याकारों का ईदृश प्रयास सांख्य के साथ अन्याय कहा जा सकता है।

अन्तिम असंगति यह है कि आचार्यों ने भाव का अर्थ 'स्वभाव' किया है। कारण के स्वभाव का कार्य होता है—इस कथन से कोई ठोस परिणाम नहीं निकलता, जो सत्कार्यवाद की स्थापना में सहायक हो।

अब यह प्रश्न उठता है कि आचार्य माठर ने सत् का अर्थ उत्पत्ति के पूर्व कारण में सत् क्यों किया ? इसका समाधान ढूढ़ने का हमने प्रयास किया है। हमारा विचार यह है कि आचार्य माठर[२] ने कार्य और व्यक्त को एक मान लिया है। जबकि कार्य सत् है, व्यक्त अनित्य। कार्य महदादि तेइस हैं और

---

१. सतः (नित्यस्य) माठरवृत्ति, का० ६०
सतो नित्यस्य, गौड़पाद भाष्य, का० ६०

२. यत्र व्यक्तं बुद्ध्यहङ्कारेन्द्रियतन्मात्रभूतभेदात्त्रयोविंशतिकम् माठरवृत्ति, का० २
तत्रत्रयोविंशतिकम् व्यक्तम्, माठरवृत्ति, का० ४
अनेकं बहुविधं त्रयोविंशति प्रकारकम्, माठरवृत्ति का० १०

व्यक्त अनेक। आचार्य माठर की इसी भूल की तरफ आचार्यों का ध्यान न जाना खेद जनक है।

त्रिगुण :—

सांख्य का त्रिगुण सिद्धान्त अत्यन्त प्राचीन है। वैदिक साहित्य में सांख्य के अन्य सिद्धान्तों एवं तत्त्वों की भाँति किसी न किसी रूप में इसका भी संकेत प्राप्त होता है। अथर्ववेद[१] १०।८।४३ में त्रिगुण की ओर संकेत किया गया है। दालमन[२] भी इसे स्वीकार करते हैं। उपनिषदों[३] में त्रिवृत्करण का सिद्धान्त मान्य है। छान्दोग्य एवं श्वे० उ० में इस ओर संकेत किये गये हैं। हिन्दू चिन्तन की सर्वोत्तम कृति गीता[४] में त्रिगुण सिद्धान्त की विशद व्याख्या की गयी है। गीता में गुणों का स्वरूप मुख्य रूप से मनोवैज्ञानिक है।

गुण तीन हैं—सत्व, रजस् और तमस्। इनमें से सत्व कार्य क्षम चेतना-मय अभिव्यक्ति की ओर प्रवृत्त होता है तथा मनुष्य में सुख उत्पन्न करता है। इसे ऊपर उठने योग्य अर्थात् हल्का बताया गया है। दूसरा गुण रजस् है, जो समस्त क्रियाओं का आदि स्रोत है और दुःख को उत्पन्न करता है। यह हमें एक उत्तेजनामय सुख तथा सतत् उद्यम के जीवन की ओर ले जाता है। तीसरा गुण तमस् है, जो क्रियाशीलता में बाधा पहुँचाता है तथा उदासीनता और निरुत्साह उत्पन्न करता है। यह अज्ञान तथा आलस्य की ओर ले जाता है। सत्व, रजस् और तमस् के कार्य क्रमशः प्रकाशन (अभि-व्यक्ति) प्रवृत्ति (क्रियाशीलता) और नियमन (अवरोध) हैं। तीनों गुण कभी पृथक् नहीं होते। वे एक दूसरे को पुष्ट करते हैं तथा एक दूसरे के साथ घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध हैं। ये मिलकर दीपक की तरह किसी कार्य की सिद्धि करते हैं[५]। ये गुण प्रत्यक्ष के विषय नहीं हैं परन्तु इनके कार्यों द्वारा इनके अस्तित्व का अनुमान होता है।

---

१. त्रिभिर्गुणैरावृत्तम् अ० वे० १०।८।४३

२. Samkhya System, P. 59

३. छा० उ० ६।३।३, ४, ६।४।७, श्वे० उ० ५।४

४. गी० १४।५–२०, १७।१–३

५. प्रीत्यप्रीतिविषादात्मकाः प्रकाशप्रवृत्तिनियमार्थाः।
अन्योन्याभिभवाश्रयजननमिथुनवृत्तयश्च गुणाः॥
सत्वं लघुप्रकाशकमिष्टमुपष्टम्भकं चलं च रजः।
गुरु वरणकमेव तमः प्रदीपवच्चार्थतो वृत्तिः॥ सां० का० १२, १३

तीनों गुण सत्व, रजस् तथा तमस् क्रमशः सूक्ष्मता, गति तथा स्थूलता के द्योतक हैं। सत्व उस स्वरूप का द्योतक है, जिसको हमें प्राप्त करना है। तमस् उन बाधाओं का द्योतक है, जो उक्त उद्देश्य की प्राप्ति के मार्ग में आती है। इसी प्रकार रजस् उस शक्ति का द्योतक है, जिसके द्वारा बाधाओं पर विजय प्राप्त की जा सकती है। जहाँ सत्व और तमस् क्रमशः विध्यात्मक सत् तथा निपेधात्मक असत् के अनुरूप है, रजस् उन दोनों के मध्य संघर्ष का द्योतक[1] है। गुणों के नानाविध प्रतिक्रिया के कारण ही जगत् में विचित्रता पायी जाती है। जिस विशेष घटना में जो गुण सर्वोपरि होता है वह उसमें अभिव्यक्त होता है। यद्यपि अन्य गुण भी अनुपस्थित नहीं रहते। कार्य रूप जगत् में तीनों गुण एक ही साथ भाग लेते हैं तो भी वे कभी एकीभूत नहीं होते। पारस्परिक प्रभाव अथवा सामीप्य के कारण उनके अन्दर परिवर्तन होता है, उनमें से कोई भी अपनी शक्ति को नहीं खोता। ये तीन[2] गुण ही प्रकृति के सार तत्त्व हैं। भौतिक जड़ पदार्थों में तमस्गुण की प्रधानता है और सत्व तथा रजस् गौण हैं। गतिमान पदार्थों में रजस्गुण प्रधान है, इसी प्रकार सत्व के लिए भी। देवयोनियाँ सत्वप्रधान, मनुष्य रजस् प्रधान तथा पश्वादि तमस् प्रधान प्राणी हैं। राधाकृष्णन्[3] के मत में गुणों की इस प्रकार की कल्पना का आदि स्रोत निःसंदेह मनोवैज्ञानिक है क्योंकि इनके अन्दर जो भेंद किये गये हैं, वे भावना के भिन्न-भिन्न प्रकारों के आधार पर हैं। उपनिषद् आदि ग्रंथों में इनका प्रयोग इसी रूप में हुआ है। वी० एन० सील[4] ने इन गुणों के वैज्ञानिक स्वरूप का विशद् विवेचन किया है तथा तमस् और रजस् की व्याख्या में द्रव्य और उर्जा के संरक्षण सिद्धान्त को उपस्थित किया है। उन्होंने स्वीकार किया है कि इन तीनों गुणों की परस्पर संयुक्तता के लिए कोई लौकिक उपमान नहीं है। प्रो० ए० वी० कीथ[5] ने त्रिगुण सिद्धान्त को सांख्यों की सबसे महत्त्वपूर्ण देन कहा है। प्रो० शेर वास्की[6] का कहना है कि बौद्धों ने त्रिगुण को धर्म के रूप में समझा है।

---

१. I. P. Vo II, P. 264

२. C. H. I. Vo III, P. 42

३. I. P. Vo. II, P. 263

४. Positive Sciences of the Ancient Hindus, P. 4, 7, 12

५. संस्कृत साहित्य का इतिहास (मंगलदेव शास्त्री) पृ० ६१५

६. The Central conception of Buddhism and the Meaning of the word Dharm.

जर्मन विद्वान ओल्ट्रामेयर[1] का मत है कि सांख्य में त्रिगुण विवेचन बहुत बाद की घटना है। सांख्य में त्रिगुण सिद्धान्त अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। अतः किसी भी स्तर पर गुण की स्थिति को न मानने वाला उक्त विचार संगत नहीं है।

गुण की परिभाषा :—

दासगुप्त[2] ने गुण का तीन अर्थ किया है—धर्म, रस्सी तथा गौण। प्रो० हिरियन्ना[3] गुण का अर्थ रस्सी नहीं मानते। उनके अनुसार ये गुण प्रकृति के घटक हैं। विज्ञान भिक्षु के अनुसार पुरुष को बाँधने के कारण गुण पाश स्वरूप हैं। तिलक जी[4] के अनुसार पुरुष को छोड़ने और पकड़ने की बात को लेकर सांख्यों ने अनेक दार्शनिक प्रश्नों को उठाया है और उनका उचित समाधान भी किया है। छोड़ना इत्यादि प्रकृति के ही धर्म हो सकते हैं, क्योंकि पुरुष तो निष्क्रिय है। अतः त्रिगुण को पाश के अर्थ में माना जा सकता है। दासगुप्त का यह विचार कि गुण किसी न किसी रूप में परिवर्तनशील होने से गौण है, संगत नहीं प्रतीत होता। गुण का धर्म या विशेषण अर्थ अधिक व्यवहृत है। परन्तु सांख्य के परिप्रेक्ष्य में गुण का संगत अर्थ क्या है—अद्यावधि यह स्पष्ट नहीं हो पाया है। हमारी दृष्टि में त्रिगुण का तात्पर्य प्राणियों की मनोवृत्ति या स्वभाव से है।

गुण भेद :—

गुणों के विषय में विज्ञानभिक्षु[5] का मत बिल्कुल भिन्न हैं, जो इनकी सूक्ष्म सत्ताएँ तथा व्यक्तिगत पदार्थों की विविधता के अनुसार संख्या में अनन्त मानते हैं। यद्यपि गुणों की अभिव्यक्तियाँ असंख्य हैं, तो भी कुछ सामान्य लक्षणों जैसे लघुता आदि को धारण करने से इनका तीन प्रकार से वर्गीकरण है। दासगुप्त ने विज्ञानभिक्षु को इस सिद्धान्त का प्रवर्तक माना है। उन्होंने स्पष्ट कहा है कि गुणों के स्वरूप के विषय में जहाँ वाचस्पतिमिश्र तथा गौड़पाद मौन हैं, विज्ञान भिक्षु ने सफलता पूर्वक अपनी

---

१. Samkhya System. P. 27 fn

२. H. I. P. Vo. I PP. 243–244

३. Out Lines of Indian Philosophy, P. 271

४. गीता रहस्य, पृष्ठ १७५

५. सा० प्र० भा० १।१२७, १।१२८

लेखनी चलाई है। चूँकि विज्ञानभिक्षु के पूर्व किसी अन्य ग्रंथ में गुणों का निरूपण नहीं मिलता। यह संभव लगता हैं कि इससे पूर्व इस विषय पर कोई विचार मंथन नहीं हुआ था। भिक्षु की व्याख्या इतनी स्पष्ट है कि उसमें गुणों की पूर्ववर्ती समस्त दार्शनिक कृतियों में उपलब्ध स्वरूप और प्रक्रिया का सार अनुस्यूत है। इसलिए गुणों के स्वरूप के विवेचन में मैंने भिक्षु के निर्वचन को ही मान्य माना है।[1]

दासगुप्त के इस विचार को अतिशयोक्तिपूर्ण कहा जा सकता है। गुणों को द्रव्य या वस्तु के रूप में मानने के लिए वाचस्पतिमिश्र आदि मौन नहीं है। प्राय: सभी टीकाकार तथा सांख्य के अध्येता इस तथ्य से पूर्ण परिचित हैं कि सांख्य में गुण तथा द्रव्य में अभेद है। गुण प्रकृति स्वरूप होने के कारण द्रव्य स्वरूप है। इस प्रकार सुस्पष्ट है कि गुणों को द्रव्य के रूप में मानकर विज्ञानभिक्षु ने कोई अपूर्व कार्य नहीं किया है, जैसा कि दासगुप्त प्रभृति विद्वान मानते हैं। गुणों की संख्या तीन ही स्वीकार की गयी है—"गुणैस्त्रिभिः त्रिगुणात्मकं, गुणत्रयसमन्वितः, त्रयोगुणः, त्रीनेतान्, गुणान्, त्रयो एते, एते त्रयः" आदि प्रयोग इनकी तीन संख्या के ही प्रतिपादक हैं। तत्त्व समास में भी त्रैगुण्यम् पद का ही प्रयोग हुआ है। प्रो० हिरियन्ना[2] ने गुणों (अनन्तता) के इस प्रकार के विवेचन को बहुत बाद का माना है। डॉ० अनिमासेन गुप्त[3] ने दासगुप्त का अनुसरण किया है। अन्य आधारों पर भी गुणों की संख्या तीन ही अधिक समीचीन है। श्रुतियों में त्रिगुण का ही प्रतिपादन हुआ है। गुणों की अनन्तता आगम विरुद्ध है। गुणों को एक मानने से अभिभव एवं मिथुन का प्रश्न ही नहीं उठता। दो मानने में सृष्टि की विविधता की व्याख्या नहीं हो सकती। एक के अभिभूत होने पर एक ही प्रकार की सृष्टि संभव है। तीन मानने में प्रयत्न लाघव एवं सृष्टि के विविध होने का व्याख्यान भी संभव है। तीन से अधिक मानने में अनवस्था या प्रयासाधिक्य की संभावना है[4]। गुणों की

१. Bhikshu's interpretation suits exceedingly well all that is known of the manifestations and the working of the gunas in all early documents. I have therefore accepted the interpretation of Bhikshu. H. I. P., PP. 222-224

२. Out Lines of I. P. P. 272

३. E. S. T. P. 19

४. Out Lines of I. P. P. 272

अनेक संख्या मानने वाला बिचार अवांछनीय एवं अप्रामाणिक है। तिलक[1] भी अनेक प्रमाणों के आधार पर प्रकृति स्वरूप गुणों को त्रिसंख्यक ही मानते हैं। इस प्रकार प्रकृति के रूप में गुणों को तीन मानने वाला मत ही निगमागम समर्थित है। अतएव प्रामाणिक है।

सांख्य द्वारा प्रस्तुत सृष्टि की व्याख्या अत्यन्त प्राचीनकाल से स्वीकृत है। पुराणों में ब्रह्मा, विष्णु एवं शिव की कल्पना क्रमः रजस् सत्व एवं तमस् गुणों का परिणाम है। विष्णु जगत् का पालक है, जगत् को प्रकाश में लाता है। अतएव वह सत्व प्रधान है। ब्रह्मा को परिवर्तन या गति का प्रतिनिधित्व करने के कारण रजस् रूप कहा गया है, जिसका कार्य प्राणियों को उत्पन्न करना है। इसी प्रकार विश्व का संहार करने के कारण रुद्र को तमस्गुण का प्रतिनिधि देवता माना गया है। गीता[2] में "गुणसंख्याने तथा सांख्ये कृतान्ते" पद का उल्लेख त्रिगुण की महत्ता का प्रतिपादक है।

पुरुष-स्वरूप :—

आत्म विषयक गवेषणा अत्यन्त प्राचीन है। ऐसा प्रतीत होता है कि आत्मा और परमात्मा को जानने की उत्कट अभिलाषा मनुष्य जाति के अनिवार्य आवश्यकताओं का विषय रही है। अनेक परिवर्तनों के बावजूद यह जिज्ञासा भारत ही नहीं अपितु समस्त विश्व के दार्शनिकों के समक्ष चिरकाल से ही अत्यन्त महत्त्वपूर्ण समस्या रही है[3]। प्राचीन वैदिक[4] साहित्य में एक स्थायी तत्त्व का निर्देश मिलता है। मैक्स्म्यूलर[5] कहता है

---

१. गीता रहस्य, पृ० १९१–१९४

२. गीता १८/१३, १९

३. Every system of Philosophy is an attempt to articulate this eternal vision through the zeitgeist or spiritual environment of the time in which the Philosopher happens to live. The Nature of the self. Int. P. 1

४. The self in Indian Philosophy. P. 25

५. Whatever the age when the collection of our Rigveda Samhita was finished, it was before that age that the conviction had been formed that there is a but One. One Being, neither male, nor female, a Being raised high above all the conditions and limitations of personality and of human nature.

The S. S. I. P. P. 51

"ऋग्वेद संहिता के संग्रह की समाप्ति का चाहे जो भी काल रहा हो, उस काल से पहले इस विचार के विश्वास की जड़ जम गयी थी कि एक ही अद्वितीय सत्ता है, जो न पुरुष है और न स्त्री। एक ऐसी सत्ता जो दैहिक एवं मानुषिक प्रकृति की सब अवस्थाओं और बंधनों से उन्मुक्त है और बहुत ऊँची श्रेणी की है। हिन्दू[१] परम्परा में कभी भी इस उच्चतम सत्ता के विषय में संदेह नहीं किया गया है। सांख्य दर्शन में इसे ही पुरुष कहा गया है। पुरुष का अस्तित्व स्वयंसिद्ध है। हमारे[२] दैनिक अनुभवों के तह में एक ऐसा तत्त्व विद्यमान है जो अरूप और अनाम होते हुए भी सपूर्ण विश्व को प्रकाशित करता है, वही पुरुष है। प्रत्येक[३] शरीरधारी के अन्दर यह विद्यमान है और इसके यथार्थ स्वरूप को जानने के लिए अपने से बाहर जाने की आवश्यकता नहीं है। हमारे व्यक्तित्व के अन्दर इसकी कल्पना इस रूप में की गई है कि यह एक ऐसा तत्त्व है, जो हमारी समस्त मानसिक क्रियाओं को जिनका उद्गम हमारे भौतिक संघटन द्वारा हुआ है, प्रकाशित करता है। यह प्रकृतिरूपी नाटक के उन पात्रों में सम्मिलित नहीं है, जिनका यह साक्षी रूप से द्रष्टा है। पुरुष जिसकी विद्यमानता में प्रकृति की कला का अस्तित्व है, कभी रंगमंच पर नहीं आता। यद्यपि समस्त अनुभव उसी की ओर संकेत करते हैं। पुरुष[४] ज्ञान स्वरूप है, चैतन्य उसका गुण नहीं अपितु स्वरूप है।

पुरुष[५] के ज्ञान का प्रकाश सदा बना रहता है। यह वह प्रकाश है, जिसके द्वारा हम देखते हैं कि प्रकृति नाम की एक वस्तु है। प्रमेय पदार्थों को प्रकाशित करने के लिए इसे अन्य किसी पदार्थ पर निर्भर रहने की आवश्यकता नहीं है। प्रकृति[६] तथा उसके विकार स्वतः अभिव्यक्त नहीं होते, बल्कि वे व्यक्त होने के लिए पुरुष के प्रकाश पर निर्भर रहते हैं। चैतन्य का भौतिक माध्यम तो है परन्तु इसके भौतिक स्वरूप की व्याख्या नहीं हो सकती। इसके नाम से हम सब भली-भाँति परिचित हैं, परन्तु

---

१. The Hindu never doubted the reality of the one supreme universal spirit Hindu view of Life, P. 25

२. H. I. P. Vo I PP. 238-239

३. Samkhya sar P. 2

४. Int. to I. P. P. 268

५. ,, ,, P. 269

६. सां० का० २१

इसका मानसिक चित्र हमारे मस्तिष्क पर कभी नहीं वनता, जैसा कि अन्य वस्तुओं का बनता है। पुरुष केवल चैतन्य स्वरूप है, आनन्द रूप नहीं। क्योंकि आनन्दानुभूति सुख सत्त्व गुण के कारण होती है, जिसका सम्बन्ध प्रकृति से है। चैतन्य के साथ आनन्द का योग पुरुष के सम्बन्ध में द्वैत प्रविष्ट कर देगा[1]। पुरुष का सदा प्रकाश स्वरूप रूप परिवर्तित नहीं होता। यह सुषुप्ति, जागृति तथा स्वप्नावस्था में विद्यमान रहता है[2]। यदि यह परिवर्तन के अधीन हो जाय तो ज्ञान असंभव हो जायेगा।

चैतन्य स्वरूप होने के नाते विकासात्मक श्रृंखला के पदार्थों में चेतनता लाने में यह सहायक होता है। यह विचार एवं संवेदना के समस्त क्षेत्र को प्रकाशित करता है, यद्यपि यह न कारण है और न कार्य[3]। पुरुष शरीर इन्द्रिय तथा बुद्धि से भिन्न है। यह सांसारिक विषय नहीं है। यह स्वयंभू, नित्य एवं सर्वव्यापी सत्ता है, जो सभी विषयों से अछूता और राग-द्वेष से रहित है। यह बंधन-मोक्ष[4] की परम्परा से परे नित्य एवं अविनाशी है। पुरुष गति के अयोग्य है और शरीर प्राप्त होने पर कहीं नहीं जाता।

यह परिमित आकार का नहीं है क्योंकि उस अवस्था में वह हिस्सों से मिलकर बना हुआ होता तथा विनश्वर भी हो सकता है। समस्त गुणों से रहित होने के कारण इसे अगुण कहते हैं[5]। इसका न आदि है और न अन्त। यह इन्द्रियातीत है और मन बुद्धि के क्षेत्र से परे है। पुरुष आदर्श विषयी से भी वंचित है और विशुद्ध चैतन्य भावमें विद्यमान रहता है। यह अणु आकार का भी नहीं है। यह देशकाल कारण कार्य की श्रृंखला से परे है, जो इस आनुभविक जगत् का ताना-बाना बुनते हैं[6]।

पुरुष की नित्यता[7] न केवल स्थायित्व में है बल्कि अखण्डता एवं पूर्णता में भी है। चैतन्य स्वरूप होने से यह व्यावहारिक अर्थों में कुछ नहीं जानता क्योंकि व्यावहारिक बोध शारीरिक सीमाओं के द्वारा ही संभव है।

---

१. सां० सूत्र ५/६६,६७

२. सां० सूत्र १४५-१४८

३. सां० का० ३

४. सां० का० ६२

५. सां० का० ११

६. I. P. Vo II P. 280

७. सां० का० १९

इससे पुरुष बिल्कुल अछूता है। पुरुष[१] प्रकृति घटकों से सम्बद्ध नहीं है, वह अकेला उदासीन तथा निष्क्रिय द्रष्टा है। बिना किसी विकार के, बिना किसी परिवर्तन के निश्चल रहने वाला यह निरन्तर विद्यमान तत्त्व है, जो प्रत्येक जीवात्मा में समान रूप से व्याप्त है। सांख्य की पुरुष विषयक कल्पना का आधार इस तथ्य से है कि चैतन्य गति, ताप तथा विद्युत की भाँति शक्ति का एक रूप नहीं है। पुरुष के अस्तित्व के सम्बन्ध में कहा गया है कि उसका अस्तित्व मानसिक अवस्थाओं की अविच्छिन्न गनि से ऊपर तथा उससे पृथक है। इस प्रकार पुरुष न तो अनुभवगम्य है और न इहलौकिक तत्त्व विज्ञान के क्षेत्र में आता है। यदि हम पुरुष को उस सबसे पृथक् कर दे, अनुभूत पदार्थों के गुण को भी उससे हटा दे तो ऐसी प्रत्येक सामग्री जिसके द्वारा हम इसके निश्चित स्वरूप को लक्षित कर सके, हमारे वश के बाहर हो जायेगा।[२]

पुरुष सदा से स्वतंत्र है। वह न इच्छा करता है, न द्वेष करता है न आज्ञा-पालन करता है न किसी को प्रवृत्त करता है और न रोकता है। वस्तुतः प्रत्येक प्राणी के अन्दर जिसमें जीवन है यह तत्त्व (पुरुष) विद्यमान है। सांख्य का पुरुष विषयक विचार उपनिषदों की आत्मविषयक अवधारणा से अधिक साम्य रखता है, परन्तु दोनों का समीकरण नहीं किया जा सकता। उपनिषदों में आत्मा, जगत् का कारण प्रेरक एवं नियन्ता रूप में वर्णित है। आत्मा को आनन्द रूप मानते हुए उसे ब्रह्म कहा गया है। पुरुष आत्मा की अपेक्षा अधिक शुद्ध है। आत्मा निर्गुण (निर्गताः गुणाः यस्मात्) है तो पुरुष अगुण (न सन्ति गुणाः यस्मिन्) है। आत्मा अधिष्ठाता है जबकि पुरुष अधिष्ठान रूप है। पुरुष की सत्ता शब्द प्रमाण से सिद्ध होती है। अगुण, निष्क्रिय, निराकार होने के कारण प्रत्यक्ष की परिधि से तो बाहर है ही अनुमान से भी उसकी सत्ता का बोध नहीं हो सकता, क्योंकि उसके अनुमान में लिङ्ग बनने वाले किसी गुण धर्म की न तो सत्ता है और न ही उसकी प्राप्ति ही।

प्राचीन वैदिक[3] साहित्य में पुरुष तत्त्व का संकेत मिलता है। ऋ० १।१६४।३७ में "न वा जानामि याद इव इदमस्मि" पद आया है।

---

१. बृ० उ० ४/३/१५

२. I. P. Vo II P. 320

३. The most striking conception even as early as Rigveda is that there is only one reality or Essence—
H. of Dharmshastra Vo. V part II, P. 1623

कुछ विद्वान[1] इसे आत्म विषयक प्रथम जिज्ञासा मानते है, जिसे उपनिषदों के चिन्तन का प्रारम्भ कहा जा सकता है। उपनिषदों में यह सिद्धान्त पूर्ण रूप से विकसित है। वास्तव में सांख्यकारिका में पुरुष स्वरूप का विवेचन जैसा विशुद्ध रूपमें मिलता है, वैसा अन्यत्र कहीं देखने को नहीं मिलता। यद्यपि पुरुष को सर्वत्र निर्गुण, निराकार, सर्वप्रकाशक तत्त्व स्वीकार किया गया है। गीता में पुरुष को अक्षर, अनादि, अव्यक्त, आत्मा, कवि, पुराण, निष्क्रिय, निर्गुण, ब्रह्म, पुरुष, क्षेत्रज्ञ, उत्तमपुरुष, द्रष्टा, भोक्ता, महेश्वर, देही आदि पदों से संबोधित किया गया है। महाभारत एवं पुराणों में पुरुष को स्वच्छ, शुद्ध, निष्कल, विभु तथा प्रकृति से परे कहा गया है। महाभारत में इसे हंस, कूटस्थ और अक्षर कहा गया है। पुरुष के प्रकाश स्वरूप तथा उसके निर्विकारिता बिषयक महाभारत पुराणों का विवेचन उपनिषदों के आत्म सिद्धान्त पर आधारित है। परन्तु महाभारत पुराणादि ग्रंथों में भक्ति-भावना का प्राधान्य होने से उन्हें लोकप्रिय बनाने के लिए ग्रन्थकारों ने अन्य पदों को अपनी ओर से जोड़ दिया है, जिससे पुरुष विषयक विचारों को समझना अत्यन्त जटिल हो गया है।

सांख्य में ईश्वरवाद :—

कुछ विशिष्ट तार्किक स्वभाव वाले व्यक्तियों को छोड़कर प्राय: प्रत्येक संप्रदाय में विश्व की व्याख्या के लिए एक पूर्ण ईश्वर की कल्पना स्वीकार की गयी है[2]। भारतीय दर्शन में विशेष कर आस्तिक दर्शनों में इस दिशा में काफी प्रगति दिखाई देती है। सांख्य दर्शन में ईश्वर के स्वरूप को सिद्धांतत:

---

१. This is, perhaps, the earliest instance of a man's reflection upon his own self. This casual reflection of the Vedas can be taken as the starting point of the serious and strenuous meditation of the Upnishads on the nature of the Self. The Nature of Consciousness in Hindu Philosophy, P. 22

२. Every attempt at solving the problem of the ultimate basis of existence from a religious point of view has come to admit an Absolute or God. Hindu view of Life, P. 30
Almost all Hindus had an inner conciousness that God is one though called by various names. History of Dharm Shastra. Vo. V. Part II P. 1623

निर्विवाद रूप में स्वीकार किया गया है। यद्यपि ईश्वरकृष्ण-कृत सांख्य-कारिका, जो सांख्य का सर्व प्राचीन प्रामाणिक ग्रन्थ है, में कहीं भी "ईश्वर" के स्वरूप का उल्लेख किया नहीं है। परन्तु आचार्य माठर, जो सांख्यकारिका के सर्वप्राचीन व्याख्याकार हैं, परमात्मा से भली-भांति परिचित हैं। उन्होंने पुरुष[1] को ही परमात्मा कहा है, जो मन, बुद्धि, इन्द्रियादि से पृथक् है। सांख्य में पुरुष को अगुण, अपरिणामी, उदासीन, चैतन्य स्वरूप कहा गया है। ये पद परमात्मा के अतिरिक्त अन्य किसी को लक्षित नहीं करते। प्राचीन वैदिक साहित्य तथा उपनिषदों में भी एक चैतन्य सत्ता का इसी रूप में वर्णन किया है। गीता में पुरुष को अक्षर बतलाते हुए पुरुषोत्तम कहा गया है[2]। महाभारत[3] में निर्गुण संगहीन पुरुष को परमात्मा कहा गया है। इसप्रकार सांख्य का पुरुष ही परमात्मा है। सांख्य का ईश्वर घट-घट वासी, सर्वप्रकाशक तत्त्व है, परन्तु वह जगत-नियन्ता सृष्टि पालक, संहारकर्ता और सर्वज्ञ नहीं है क्योंकि इस प्रकार के ईश्वर को विकृत होने से किसी प्रकार भी बचाया नहीं जा सकता। इस विषय में पहले ही बहुत कुछ कहा जा चुका है।

अवतारवाद :—

परम्परा यह मानती है कि ईश्वर धर्म की रक्षा हेतु इस पृथ्वी पर अवतरित होता है। इस विषय में गीता[4] एक सबल प्रमाण है। हमारी यह मान्यता (सांख्य के सन्दर्भ में) है कि ईश्वर कभी देहधारी प्राणी के रूप में अवतरित नहीं होता। ऐश्वर्य की पराकाष्ठा के साथ उत्पन्न हुआ जीवात्मा विशेष ही ईश्वर नाम से अभिहित होता है। राम, कृष्ण, परशुराम आदि

---

१ एवं शरीरेन्द्रियबुद्ध्यादिभिः क्षीरनीरवदेकीभूतोऽपि तद्व्यतिरिक्तोऽस्ति परमात्मा पुरुषोऽपि। माठरवृत्ति १७ वीं कारिका की अवतरणिका।

२. उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः॥ गीता १५/१६॥

३. आत्मा क्षेत्रज्ञ इत्युक्तः संयुक्तः प्राकृतैर्गुणैः।
तैरेव तु विनिर्मुक्तः परमात्मेत्युदाहृतः॥ म० भा० १२।१८७।२३

४. यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे॥ गीता ४।७,८॥

विभूतियां परमात्मा नहीं थी बल्कि ऐश्वर्य रूप ज्ञान[1] समृद्धि, सम्पत्ति, यश, बल और पराक्रम की पराकाष्ठा से युक्त थी। ईश्वरवाद का जयघोष, अवतार-वाद की कल्पना ब्राह्मणवादी व्यवस्था में बौदों की प्रतिक्रिया का परिणाम है। दर्शन में इस परम्परा का निर्वाह दार्शनिक चिन्तन के ह्रास का द्योतक है, परन्तु भारतीय एवं पाश्चात्य दर्शन दोनों में ईश्वरवाद और अनीश्वर-वाद को लेकर बहुत खीचातानी हुई है। वास्तविक बात तो यह है कि ईश्वर की सत्ता अवश्य है, परन्तु वह अनुभवगम्य नहीं हैं। उसकी सत्ता वेद से सिद्ध होती है। वह वाद-विवाद एवं तर्क का विषय नहीं बन सकता। इस प्रकार सांख्य का पुरुष ही परमात्मा, परमपुरुष, ईश्वर, गाड, अल्लाह के रूप में सर्वत्र वर्णित है। ओल्डेनवर्ग[2] ने स्वीकार किया है कि महाभारत में वर्णित २५वाँ तत्त्व पुरुष, आत्मा और परमात्मा दोनों का बोधक है। यह बात अवश्य है कि सांख्य में परमात्मा का जितना विशुद्ध रूप प्रस्तुत किया गया है, उतना अन्यत्र कहीं नहीं मिल सकता। साथ ही साथ यह बात भी सत्य है कि सांख्य का पुरुष या परमात्मा उपासना का विषय नहीं बन सकता। वह सर्वज्ञ कर्मफलदाता और नियन्ता भी नहीं हो सकता।

ईश्वरवाद का विकास :—

सांख्य विचार धारा वैदिक काल में ही विकसित है, जिसका संकेत प्राचीन वैदिक संहिताओं में मिलता है। नाना देवताओं में विश्वास प्राचीन वैदिक धर्म का एक विशिष्ट लक्षण था, जो धीरे-धीरे अपना आकर्षण खो बैठा और पुरानी कल्पनाओं से ऊबकर वैदिक युगीन मानव ने प्राकृतिक घटनाओं के कारणों की नहीं, बल्कि उनके प्रथम या आदि कारण की खोज की। अब वह अनुभूत तथ्यों एवं घटनाओं का कारण नाना देवों को मानने से संतुष्ट न रह सका और उस एक ईश्वर को पाने के लिए प्रयत्नशील हो गया, जो उन सबके ऊपर शासन कर रहा हो और उन्हें नियंत्रण में रखता है। इसप्रकार ईश्वर की धारणा जो व्यक्त रूप में दिखाई देने लगी, उसे पहले के युग की विचारधारा में अव्यक्त रूप में विद्यमान माना जा सकता है।

---

१. ज्ञानं समृद्धिः सम्पत्तिर्यशश्चैव बलं भगः।
तेन शक्तिर्भगवती भगरूपा च सा सदा।
तयाययुक्तः सदा आत्मा भगवांस्न कथ्यते ॥ दे० भा० ९।२।११-१२

२. The twenty fifth principle includes the double notion of the individual purusas and the cosmic purusa.
Classical Samkhya, P. 28

उपनिषदों में जो सांख्य विचारधारा दिखाई देती है वह बहुत कुछ ईश्वरवाद से प्रभावित है। सांख्य का प्रकृतिवाद यद्यपि उपनिषदों के लिए अज्ञात नहीं है तथापि उनके मुख्य तात्पर्य से दूर हटा हुआ है। उनमें प्रकृति की धारणा की अपेक्षा ईश्वर की धारणा को ग्रहण किया गया है। उपनिषदों में सांख्यीय पारिभाषिक शब्दों का अनेकशः उल्लेख है, परन्तु वहाँ सांख्यीय विचारों को ईश्वरवाद की सेवा में समर्पित रूप में देखा जा सकता है।

महाभारत, गीता एवं पुराणों में मौलिक सांख्य की परम्परा सेश्वर ही ज्ञात होती है। वैदिक साहित्य में कर्म और ज्ञान द्विविध आदर्शों का ही प्रतिपादन हुआ है परन्तु वाद के स्मृति साहित्य में इन दों आदर्शों के साथ-साथ उपासना का विशेष महत्व है क्योंकि महाभारत पुराणादि भक्ति-प्रधान साहित्य हैं। यह पहले ही व्यक्त किया जा चुका है कि सांख्य का पुरुष उपासना का विषय नहीं बन सकता। अतएव वह जनसामान्य के बोध का विषय नहीं हो सकता। समय एवं परिस्थितियों को देखते हुए। साहित्य को लोकप्रिय बनाने के लिए आकृति विहीन पुरुष को व्यक्ति रूप ईश्वर में प्रतिष्ठित किया गया। सर्वव्यापक को एक नियत स्थान दे दिया गया। नित्य सत्ता को एक भौतिक इकाई में प्रतिष्ठित कर दिया गया। इसलिए लोकमान्य तिलक[१], राधाकृष्णन् का मत है कि महाभारत एवं पुराणों में मौलिक सांख्य की कल्पना नहीं की जा सकती। महाभारत[२] में ईश्वर छब्बीसवें तत्त्व के रूप में वर्णित है, परन्तु तत्त्वतः पुरुष और ईश्वर में अभेद है।

लोकमान्य तिलक[३] सांख्य को निरीश्वरवादी ही मानते हैं। प्रो० ए०वी० कीथ[४], दासगुप्त, अनिमासेन गुप्त, प्रो० हिरियन्ना, ए०के० मजूमदार

---

१. I. P. Vo II P. 252
   गीता रहस्य, १६१

२ म० भा०, १२।३१८।७७-८०

३. गीता रहस्य, पृ० १७०

४. Samkhya System, PP. 73-75
   H. I. P. Vo I, P. 217
   Out Lines of I. P. PP. 281-283
   Samkhya conception of personality, P. 14
   E. S. T. PP. 46-47

आदि विद्वान सांख्य को ईश्वरवादी तथा निरीश्वरवादी दोनों रूप में स्वीकार करते हैं। प्रायः ईश्वरवाद के प्रमाण में विज्ञानभिक्षु को उपस्थित करते हैं। परन्तु यह ध्यातव्य है कि विज्ञानभिक्षुका कोई अलग सांख्य नहीं है। उन्होंने मूल में ही सांख्य को सेश्वर सिद्ध करने का प्रयास किया है। कुछ प्राचीन एवं अर्वाचीन विद्वानों ने यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि कपिल का ईश्वर को न मानने का कोई इरादा नहीं था। उनका अभिप्राय केवल यह बताना था कि तर्क से ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध करना असम्भव है, लेकिन यह दर्शन युगीन सांख्य की प्रवृत्ति के विरुद्ध प्रतीत होता है। विज्ञान भिक्षु सांख्य में ईश्वर के लिए स्थान बनाने को बहुत उत्सुक है, लेकिन बाद के सूत्र ग्रंथ तक में उन्हें बहुत अल्प समर्थन प्राप्त होता है। उदयबीर शास्त्री[1] ईश्वरकृष्ण को निरीश्वरवादी नहीं मानते। उनका कहना यह है कि ईश्वरकृष्ण ईश्वर को सृष्टि का उपादान कारण नहीं मानते परन्तु इससे वे निरीश्वरवादी नहीं कहे जा सकते। आचार्य पं० आद्या प्रसाद मिश्र[2] ने शास्त्री जी की इस मान्यता का खंडन किया है तथा ईश्वरकृष्ण को अनीश्वरवादी आचार्य माना है।

उपर्युक्त विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि सांख्य प्रतिपादित पुरुष को ही विभिन्न रूपों में ईश्वर में प्रतिष्ठित किया गया है। सांख्य में सारी क्रियाशीलता प्रयोजनवत्ता प्रकृति में मानकर पुरुष को असंग, निष्क्रिय एवं उदासीन रूप में चित्रित किया गया है। इससे वैज्ञानिक कार्यक्षमता का निर्देश मिलता है, परन्तु सारी समस्या को ईश्वर के अधीन थोपने पर शिथिलता और अकर्मण्यता का ही भाव सशक्त होता है साथ ही साथ इस विधान से कर्म सिद्धान्त भी निष्प्रयोजन सिद्ध हो जाता है।

प्रमाण :—

सांख्य शास्त्र प्रमेय प्रधान शास्त्र है किन्तु प्रमेयों[3] की सिद्धि प्रमाणों से ही होने के कारण इस शास्त्र में प्रमाणों की चर्चा आवश्यक हो जाती है। यथार्थज्ञान के साधन को प्रमाण कहते हैं। सांख्यशास्त्र में तीन प्रकार के प्रमाण मान्य हैं—दृष्ट (प्रत्यक्ष) अनुमान तथा आप्तवचन या वेद। मनु ने तीन ही प्रमाणों का उल्लेख किया है।

---

१. सांख्य दर्शन का इतिहास, पृ० १२६

२. सांख्य दर्शन की ऐतिहासिक परंपरा, पृ० १९४

३. सांख्य कारिका ४

विषय से संयुक्त[1] इन्द्रिय पर आश्रित निश्चयात्मक ज्ञान ही प्रत्यक्ष है। चक्षु आदि इन्द्रियाँ अपने रूपादि विषयों में पहले आलोचन करती हैं, फिर मन उस पर संकल्प करता है, अहंकार अभिमान करता है, तब बुद्धि के द्वारा उस विषय का निश्चित ज्ञान होता है। इस प्रकार प्रत्यक्ष के विषय में चारों (एक इन्द्रिय तथा अन्तःकरण, मन, अहंकार, बुद्धि) का व्यापार एक साथ होता है, परन्तु उनका निर्देश क्रमशः होता है। यह प्रक्रिया इतनी शीघ्र होती है कि ऐसा प्रतीत होता है कि ये चारों अवयव एक साथ ही काम कर रहे[2] हैं। विषय के प्रत्यक्ष ज्ञान में पहले इन्द्रियाँ ही संयुक्त होती है, परन्तु उनका सार्थक एवं सही ज्ञान मन, अहंकार तथा बुद्धि के सहयोग से ही होता है। इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष के बाधक हेतुओं को सांख्य में उपस्थित किया गया है। अत्यन्त दूर होने से, अत्यन्त समीप होने से, इन्द्रियों के नष्ट हो जाने से, मन की अस्थिरता से, सूक्ष्मता से, किसी वस्तु का व्यवधान होने से, किसी उत्कट वस्तु द्वारा अभिभूत होने से तथा अपने सदृश पदार्थ में मिल जाने से विद्यमान वस्तु की भी उपलब्धि नहीं होती[3]। चरक संहिता[4] तथा पतञ्जलि महाभाष्य[5] में भी इन हेतुओं को उपस्थित किया गया है।

प्रत्यक्ष के बाद 'अनुमान' प्रमाण का विवेचन होता है। भारतीय-दर्शन की सभी विधाओं में इसका स्थान प्रत्यक्ष के बाद ही आता है। यह प्रत्यक्ष का कार्य होता है क्योंकि यह उसी पर आधारित होता है। अनुमान की परिभाषा करते हुए उसे "लिङ्ग-लिङ्गिपूर्वकम्[6]" कहा गया है। इसका तात्पर्य यह है कि अनुमान लिङ्ग और लिङ्गी से युक्त होता है। लिङ्ग को

---

१. अक्षमिन्द्रियं प्रतीत्य यत्युपद्यते ज्ञानं तत्प्रत्यक्षं दुष्टमुच्यते। माठरवृत्ति का० ४

२. सां० का० ३०

३. सां० का० ७

४. सताञ्च रूपाणामतिसन्निकर्षादतिविप्रकर्षादावरणात् करणदौर्बल्यात्। मनोऽवस्थानात् समानाभिहारादभिभवादति सौक्ष्म्याचच प्रत्यक्षानुपलब्धिः॥

चरकसंहिता–सूत्रस्थानम् ११।८

५. षड्भिः प्रकारैः सतां भावानामनुपलब्धिर्भवति, अतिसान्निकर्षात् अतिविप्रकृष्टात् मूर्त्यन्तरव्यवधानात् तमसातत्वात् इन्द्रियदौर्बल्यात् अतिप्रमादादिति।

महाभाष्य ४।१।३

६. सां० का० ५

हेतु तथा लिङ्गी को हेतुमान का वाचक कहा जा सकता है। इस प्रकार अनुमान कारण-कार्य सम्बन्ध की व्याख्या पर आश्रित होता है। अनुमान तीन प्रकार होता है। अनुमान के कौन-कौन से तीन भेद कारिकाकार को अभिमत थे—यह अज्ञात है, किन्तु व्याख्याकारों के अनुसार पूर्ववत्, शेषवत् तथा सामान्यतोदृष्ट रूप में अनुमान तीन प्रकार का होता है जो सर्वथा संगत है।

पूर्व जिसका दृष्ट हो, अर्थात् जो पूर्व के साथ हो, उसे पूर्ववत् अनुमान कहते हैं। विशिष्ट मेघ को देखकर वृष्टि का अनुमान होना पूर्ववत् अनुमान का उदाहरण है। शेषवत् अनुमान उसे कहते है जहाँ किसी पदार्थ के किसी अंश को देखकर पदार्थ के सम्पूर्ण स्वरूप का ज्ञान होता है। जैसे—समुद्र के दो बूँद के स्वाद से ही पता लग जाता है कि समुद्र का जल खारा है। तीसरा अनुमान सामान्यतोदृष्ट है, जिसका अर्थ है—जो सर्वसाधारण प्रत्यक्षगम्य अर्थात् जिसमें किसी एक ही देशकाल में किसी वस्तु में विकार देखकर दूसरी जगह भी उसी वस्तु में उसी समय उसी विकार का अनुमान। जैसे—आम के वृक्ष में बौर आया देखकर सामान्यतः यह सोच लिया जाता है, कि अब आम का समय आ गया है।[१]

अंतिम प्रमाण 'आप्त बचन' या 'शब्द प्रमाण' है। श्रुति जो ऋषियों द्वारा दृष्ट है, वही शब्द प्रमाण है। किसी आचार्य या विशिष्ट व्यक्ति का कथन शब्द प्रमाण नहीं है। महाभारत, रामायण आदि ग्रन्थ श्रुति नहीं हैं क्योंकि व्यास, वाल्मीकि आदि इन ग्रन्थों के रचयिता हैं। वेद अपौरुषेय है। ऋषि मंत्रों के द्रष्टा हैं। अतएव श्रुति या वेद ही शब्द प्रमाण हैं। मैक्स्म्यूलर[२] कहता है कि सांख्य की श्रुति के प्रति श्रद्धा नहीं है। राधाकृष्णन्[३] कहना चाहते हैं कि सांख्य ने वेद को ज्ञान का साधन मानकर अपने को नवीन कृति के रूप में प्रतीत होने से बचाया है। निःसंदेह इसने स्पष्ट रूप में कहीं भी वेदों का विरोध नहीं किया है किन्तु उनके नींव को खोखला कर देने

---

१. माठरवृत्ति-गौड़पादभाष्य, सां० का० ५

२. Sruti which the Samkhyas were supposed to disregard.

The S. S. I. P. p. 90

३. It, however, never openly opposes the Vedas but adopts the more deadly process of sapping their foundations.

I. P. Vo II, p. 302

की कहीं अधिक भयानक प्रक्रिया का आश्रय लिया है। यहाँ राधाकृष्णन् एवं मैक्स्म्यूलर का भ्रम है। सांख्य की वेद के प्रति अपार श्रद्धा है, कहीं भी उसमें श्रुति की मर्यादा का उल्लंघन नहीं हुआ है।

सांख्यगत त्रिविध प्रमाणों का विवेचन हमने माठर एवं गौड़पाद की व्याख्या के आधार पर की है। वाचस्पतिमिश्र कृत प्रत्यक्ष एवं अनुमान की व्याख्या न्याय प्रधान होने से, हमारी दृष्टि में संगत् नहीं है। त्रिविध प्रमाणों के अतिरिक्त अन्य प्रमाणों की चर्चा तथा उनके इन त्रिविध प्रमाणों में अन्तर्भाव की बात, जो आचार्यों ने कही है, वह हमारी दृष्टि में निष्प्रयोजन है। सांख्यगत प्रमाणों की व्याख्या करते समय सांख्यीय प्रमेयों पर सतर्कतापूर्ण दृष्टि रखना आवश्यक है।

पुरुष की सत्ता शब्द प्रमाण से सिद्ध होती है :—

सांख्य में प्रमेय पच्चीस हैं—प्रकृति, पुरुष, महत्, अहंकार, मन सहित एकादश इन्द्रियाँ, शब्दादि पञ्चतन्मात्र तथा पृथिव्यादि पञ्चमहाभूत। इन्हीं प्रमेयों की सिद्धि के लिए त्रिबिध प्रमाणों का विवेचन हुआ है। किस प्रमाण-विशेष से किस प्रमेय विशेष का ज्ञान होता है—इसे सांख्यकारिका में स्पष्ट किया गया है। "साधारणतया[1] इन्द्रियगोचर पदार्थों का ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण से तथा अतीन्द्रिय पदार्थों का ज्ञान अनुमान से होता है। उससे भी असिद्ध परोक्ष का ज्ञान शब्द प्रमाण से होता है। इन्द्रियगोचर प्रमेय पृथिव्यादि पञ्चमहाभूत हैं। अतएव इनका ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण से होता है। अतीन्द्रिय प्रमेय तन्मात्र से लेकर प्रकृति तक उन्नीस है। इनका ज्ञान अनुमान प्रमाण से होता है। उससे भी असिद्ध परोक्ष प्रमेय पुरुष है। जिसका ज्ञान शब्द प्रमाण से होता है। इस प्रकार सांख्यीय पच्चीस प्रमेयों का ज्ञान इन्हीं त्रिविध प्रमाणों से होता है।

व्याख्याकारों के दृष्टिकोण की समीक्षा :—

आचार्य माठर[2] गौड़पाद ने व्यक्त को प्रत्यक्ष का विषय कहा है, जयमंगलाकार[3] के अनुमार व्यक्त प्रत्यक्ष तथा अनुमान से सिद्ध होते हैं।

---

१. सां० का० ६

२. व्यक्तं तु प्रत्यक्षेणैव साधितमिति, माठरवृत्ति का० ६
व्यक्तं प्रत्यक्षसाध्यम्, गौड़पादभाष्य, का० ६

३. व्यक्तं तावत् प्रत्यक्षानुमानाभ्यां सिद्धम्, जयमंगला का० ६

बाचस्पतिमिश्र यहाँ मौन हैं। नारायणतीर्थ[1] ने पृथिव्यादि को प्रत्यक्ष का विषय कहा है। व्याख्याकारों की दृष्टि में महदादि कार्य व्यक्त हैं। अनुमान[2] में प्रमुख रूप से सामान्यतोदृष्ट अनुमान की चर्चा की गई है तथा प्रकृति पुरुष को इसका विषय बताया गया है। स्वर्ग, अपवर्ग[3], इन्द्रदेव-राज उत्तर, कुरु, महदादि आरम्भक्रम, याग की स्वर्ग साधनता आदि शब्द प्रमाण के विषय कहे गये हैं। हमारी दृष्टि में व्याख्याकारों के दृष्टिकोण में निम्नलिखित असंगतियाँ हैं—

प्रथम असंगति तो यह है कि—चौथी कारिका में प्रमाणों का नामकरण किया गया है, पाँचवीं में उनकी परिभाषा दी गई है तथा छठीं कारिका में किस प्रमाण विशेष से किस प्रमेय विशेष का ज्ञान होता है—इसे समझाया गया है। छठीं कारिका की व्याख्या में आचार्यों ने इस क्रम विशेष पर ध्यान नहीं दिया है। जब कि क्रमानुसार प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा साध्य विषयों का क्रमशः निरूपण होना चाहिए था। इसे ध्यान में न रखकर अनुमान में भी सर्वप्रथम सामान्यतोदृष्ट अनुमान के विषयों को बताना सर्वथा अनुचित

---

१. तथा चेन्द्रिययोग्यस्य सर्वस्यापेक्षितस्यानपेक्षितस्य च दृष्टात् प्रत्यक्षादेवसिद्धिः। तेन पृथिव्यादीनाम् प्रत्यक्षादेवसिद्धिरितिभावः। सां० चंद्रिका–का० ६

२. अथ प्रधानपुरुषावतीन्द्रियौ तयोः सामान्यतोदृष्टानुमानात्सिद्धः।

माठरवृत्ति गौड़पादभाष्य, का० ६

सामान्यतोदृष्टमनुमानमेतस्मादतीन्द्रियाणामर्थानाम समधिगमः।

यु० दी० का० ६

तत्र यत्सामान्यतोदृष्टमनुमानं तस्मादतीन्द्रियाणां परोक्षाणाम् प्रसिद्धिः।

जयमंगला का० ६

सामान्यतोदृष्टादनुमानादतीन्द्रियाणां प्रधान, पुरुषादीनाम् प्रतीतिः।

सां० त० कौ०–का० ६

३. प्रत्यक्षानुमानाभ्यां योऽर्थः साधयितुं न शक्यस्तमाप्तवचनम् यथा स्वर्गेऽप्सरसः सन्ति, नन्दनं वनं, तत्र विशेषाः शब्दादयो विषयाः विमानेऽधिवास इति।

माठरवृत्ति–का० ४

यथेन्द्रो देवराजः उत्तराः कुरवः स्वर्गेऽप्सरसइति। गौड़पादभाष्य–का० ६

.........स्वर्गापवर्गदेवतादि। यु० दी० का० ६

यथास्वर्गापवर्गाविति। जयमंगला का० ६

महदाद्यारंभक्रमस्वर्गापूर्वदेवतादि। सा० त० कौ०–का० ६

याग स्वर्गसाधनतादि। सां० चं०–का० ६

है। आचार्य माठर एवं गौड़पाद का कथन भी संगत प्रतीत नहीं होता क्योंकि महत्, अहंकार, मन, इन्द्रियाँ एवं तन्मात्र प्रत्यक्ष के विषय नहीं बन सकते। जयमंगलाकार की व्याख्या भी स्पष्ट नहीं है। वाचस्पतिमिश्र की अरुचि शोच्य है।

दूसरी असंगति यह है कि—सांख्यकारिका में सामान्यतोदृष्ट पद है ही नहीं वहाँ "सामान्यतस्तु दृष्टात्" पद है। साथ ही साथ पुरुष की सत्ता किसी भी प्रकार से अनुमान प्रमाण से नहीं सिद्ध हो सकती है, क्योंकि चिद्रूप पुरुष की सत्ता में लिंग बनने वाले किसी गुण धर्म की संभावना नहीं की जा सकती है।

तीसरी असंगति यह है कि—सांख्य के सभी पच्चीस प्रमेय प्रत्यक्ष तथा अनुमान की ही परिधि में आ जाते हैं। फिर शब्द प्रमाण का कथन निष्प्रयोजन हो जाता है। सी० के० रजा[१] ने इसे एक प्रमुख समस्या कहा है। आचार्यों ने स्वर्ग, अपवर्ग उत्तरकुरु आदि को शब्द प्रमाण का विषय बताया है, जो सांख्यीय प्रमेय नहीं हैं। बड़े आश्चर्य की बात है कि वाचस्पतिमिश्र जैसे मूर्धन्य विद्वान् को भी यहां भारी असफलता का मुँह देखना पड़ा है। महदादि आरंभ-क्रम को शब्द प्रमाण का विषय मानना एवं पुरुष को शब्द प्रमाण का विषय न मानकर उसे अनुमान का विषय बनाना उनके पांडित्य के लिए चुनौती है।

जीवात्मा की सिद्धि

किसी भी क्रिया या साधना का संपादन चेतनायुक्त शरीर से ही सम्भव है। प्रत्येक आत्मा जो हमारे ज्ञान में आती है, शरीरधारी आत्मा है। वास्तव में यह साधारण अनुभव की बात है कि बिना शरीर के कोई आत्मा नहीं है और जीवितअंगी के समान कार्य करने वाला कोई ऐसा शरीर नहीं है जो बिना आत्मा के हो। प्रो० हिरियन्ना[२] कहते हैं "किसी अनुभव के

---

१ The Samkhya System postulates twenty five cotagories and they all fall within the range of perecption and reason. But reason can not tackle the Absolute and the problem of Absolute is left off to other systems. Some Fundamental Problems in Indian Philosophy. pp. 65–66

२. Whatever the ultimate explanation may be, Prakriti and Purusa virtully act as one and we shall therefore take it for granted that in some way they co-operate. It is; indeed, a matter of

लिए यह आवश्यक है कि पहले पुरुष एवं प्रकृति एक दूसरे से संयुक्त हो चुके हों। इस प्रकार अनुभवकर्त्ता, भोक्ता न तो पुरुष है और न प्रकृति बल्कि दोनों के सम्मिश्रण को अनुभवशील आत्मा कहा जा सकता है, जो चित्स्वरूप पुरुष से भिन्न है। कठोपनिषद्[1] में कहा गया है "शरीर, मन, इन्द्रियों से युक्त आत्मा ही भोक्ता है, ऐसा मनीषियों द्वारा कहा गया है"। भोग एवं कैवल्य द्विविध प्रयोजन जीवात्मा के स्वार्थ है, न पुरुष के न प्रकृति के, क्योंकि ये दोनों शरीरधारी प्राणी नहीं हैं। सांख्य में जीवात्मा को "पुरुष" पद से अभिहित किया गया है तथा उसकी सिद्धि में पाँच युक्तियाँ प्रतिपादित की गयी है[2], जिनमें से प्रथम तीन जीवात्मा के शारीरिक संघटन की व्याख्या करती हैं तथा अन्तिम दो युक्तियाँ प्रयोजन से सम्बद्ध हैं।

प्रथम युक्ति है–संघातपरार्थत्वात् :—

वह जीवात्मा संघात तथा संघात से परे से युक्त है—(संघातत्वात् परार्थत्वात् च)। संघात का अर्थ शरीर इन्द्रिय प्रकृति रूप तथा परार्थत्वात् से तात्पर्य है 'संघात से परे' अर्थात् पुरुष रूप। अतः वह जीवात्मा न तो संघात रूप प्रकृति है और न तो संघात से परे पुरुष, बल्कि दोनों का संयोग या मिश्रण है।

द्वितीय युक्ति है–त्रिगुणादिविपर्ययात् :—

संघात या शरीर का सम्बन्ध त्रिगुण से है, जो क्रियाशील है, परन्तु पुरुष त्रिगुण क्रिया व्यापार आदि से परे हैं। इस प्रकार जीवात्मा जो संघात तथा उससे परे पदार्थ का मिश्रण है, उसमें संघात त्रिगुण से युक्त है तथा पुरुष त्रिगुणादि से परे है।

---

ordinary experience that there is no spirit without a living organism or a living organism without spirit. This complex of nature and spirit is only the empirical self and is to be disti-nguished according to the Samkhya from the true or transc endential Self or Purusa. C. H. I. Vo III P. 45

The Essentials of I.P. PP. 115–116, Out Lines of I. P. P. 284

१. कठोपनिषद् १।३।४

२. संघातपरार्थत्वात् त्रिगुणादिविपर्ययादधिष्ठानात्।
पुरुषोऽस्ति भोक्तृभावात् कैवल्यार्थं प्रवृत्तेश्च ॥ १७ ॥

तृतीय युक्ति है—अधिष्ठानात् :—

जीवात्मा शरीरानुकूल ही व्यवहार करता है। इस प्रकार शरीर का सन्बन्ध प्रकृति से है। प्रकृति की वृत्तियाँ अचेतन होने के कारण बिना पुरुष के संयोग से प्रकाशित नहीं होती। इसलिए पुरुष को प्रकृति की वृत्तियों के प्रकाशन का आधार कहा गया है। इस प्रकार वह जीवात्मा जो पुरुष-प्रकृति का संयोग रूप है उसमें प्रवृत्ति का संबंध प्रकृति (संघात) तथा उसके प्रकाशन का सम्बन्ध पुरुष (संघात से परे) से है।

चतुर्थ हेतु है—भोक्तृभावात् :—

जीवात्मा के दो स्वार्थ हैं—भोग एवं कैवल्य। प्राणी देव, मानुष, तिर्यक्-योनियों में विभिन्न रूपों में सुख दुःख को भोगता है। इसलिए भोक्ता की अपेक्षा होने के लिए भी जीवात्मा की सत्ता सिद्ध होती है।

पञ्चम एवं अन्तिम हेतु है—कैवल्यार्थंप्रवृत्तेश्च : —

मानव सृष्टि प्रकृति की महानतम् रचना है। यह रजस् प्रधान योनि है। बुद्धि की विशिष्टता होने के कारण मनुष्य ज्ञान की खोज में स्वतः प्रवृत्त होता है। अन्य प्राणी भोग में ही प्रवृत्त होते हैं। इस प्रकार कैवल्य के लिए प्रवृत्ति को देखकर भी जीवात्मा की सत्ता सिद्ध होती है।

अन्तिम दो युक्तियाँ परस्पर सम्बद्ध हैं। भोग एवं कैवल्य द्विविध प्रयोजनों की सिद्धि जीवात्मा के द्वारा ही चरितार्थ होती हैं। यद्यपि जीवात्मा के सम्पूर्ण भोगों को बुद्धि ही सम्पन्न करती है, परन्तु उसके भोग एवं तत्त्व-ज्ञान रूप अपवर्ग के सम्पन्न करने में बुद्धि केवल साधन बताई गई है। सुख-दुःख बुद्धि से सम्बद्ध भले ही हो परन्तु उनकी अनुभूति जीवात्मा को ही हो सकती है, जड़ बुद्धि को नहीं।

पुरुष बहुत्व (जीवात्मा की अनेकता)

जीवात्मा अनेक हैं। उनके बहुत्व को सिद्ध करने के लिए पाँच सबल युक्तियों का प्रतिपादिन हुआ है[1]—

प्रथम युक्ति है—जन्मनियमात् :—

जन्म की व्यवस्था के आधार पर प्राणी अनेक हैं। इस व्यवस्था के अनुसार प्राणियों को जरायुज (पिण्डज+अण्डज) स्वेदज तथा उद्भिज्ज तीन

---

१. जन्ममरणकरणानां प्रतिनियमादयुगपत्प्रवृत्तेश्च।
पुरुषबहुत्वं सिद्धं त्रैगुण्यविपर्ययाच्चैव ॥ १८ ॥

कोटियों में बांटा जा सकता है। पिण्डज में मनुष्य पशु आदि आते हैं, पक्षी सरीसृपादि को अण्डज कहा जाता है। स्वेदज या उष्मज में खटमल, जूएँ आदि तथा उद्भिज्ज में वृक्ष लतादि की गणना की जाती है। इस प्रकार जन्म व्यवस्था के आधार पर प्राणियों का अनेकतत्व सिद्ध होता है।

द्वितीय युक्ति है—मरणनियमात् :—

गृहीत शरीर का त्याग ही मरण है। जो उत्पन्न होता है, वह मृत्यु को प्राप्त होता है। यहाँ कोई भी प्राणी अमर नहीं है। जन्म और मृत्यु यही संसार-चक्र है। परन्तु इसके पीछे भी एक व्यवस्था है। प्रत्येक प्राणी की एक आयु सीमा है। चींटी से ब्रह्मा तक यह व्यवस्था लागू होती है। इस प्रकार मरण नियम (आयु सीमा) के आधार पर जीवात्मा का अनेकत्व सिद्ध होता है।

तृतीय युक्ति—करणनियमात् :—

प्रत्येक जीवात्मा का एक पृथक् शारीरिक संघटन है तथा उसी के अनुसार करणों की एक व्यवस्था है। त्रयोदश करणों की व्यवस्था भिन्न-भिन्न प्राणियों में भिन्न-भिन्न रूप में है। यह व्यवस्था सर्वप्राणी साधारणगत है। देव-मानुष-तिर्यक् जातियों में ये करण स्फुट या अस्फुट रूप में विद्यमान रहते हैं। इनके व्यापार तत्तज्जाति अनुरूप हुआ करते हैं। यद्यपि करण मौलिक-रूप में सर्वप्राणीगत एक ही हैं फिर भी शरीरानुरूप ये भिन्न-भिन्न रूप में दिखाई देते हैं, जिसके कारण उनके विषयबोध में भी अन्तर पड़ता है। पशु के प्रिय गंध स्पर्शादि मनुष्य को प्रिय नहीं होते। इस प्रकार करण प्रतिनियम के अनुसार भी जीवात्मा अनेक हैं।

चतुर्थ युक्ति है—अयुगपत् प्रवृत्तेश्च :—

जगत् में सभी प्राणी अपनी-अपनी रुचि के अनुसार अभीष्ट की प्राप्ति के लिए प्रवृत्त होते हैं। तिर्यक् एवं देवादिप्राणी भोग में तथा मनुष्य ज्ञान की खोज में प्रवृत्त रहते हैं। जगत् में भी कुछ लोग धर्म में तथा कुछ अधर्म में रत रहते हैं। यदि एक मनुष्य किसी विशिष्ट की ओर आकर्षित रहता है तो शेष उसके प्रति उदासीन रहते हैं क्योंकि प्रत्येक जीवात्मा का एक स्वतंत्र शारीरिक संघटन और उसी के अनुरुप उसकी विशिष्ट रुचि होती है।

पञ्चम युक्ति है—त्रैगुण्यविपर्ययात् :—

त्रिगुण भेद से भी जीवात्मा का अनेकत्व सिद्ध होता है। ब्राह्म, प्राजापत्य आदि देव जातियाँ हैं, जो सत्व प्रधान हैं। देवलोक में प्राणियों में

रजस्‌गुण तथा तमस्‌गुण के अंश अल्प मात्रा में रहते हैं। यही कारण है कि यहाँ लघुता और प्रकाश रहता है। देवलोक में रहनेवाले प्राणियों को सुख अतिशय रूप में प्राप्त होता है। वे शान्त होते हैं। मनुष्य जाति रजः प्रधान है। यह योनि कर्म प्रधान है। इसी कारण मनुष्य बेचैन तथा दुःख से छुटकारा पाने के लिए सदैव प्रयत्नशील रहते हैं। रजस्‌गुण की प्रधानता से ही मनुष्य जाति साहसी और क्रियाशील होती है। इनमें विवेकशक्ति की प्रधानता होती है। तिर्यक् जातियों में तमस्‌गुण की बहुलता होती है। ये पशु मृग सरीसृपादि हैं। इन प्राणियों में मोह तथा जड़ भाव की प्रधानता होती है तथा विवेकशक्ति का अभाव रहता है। इनमें अज्ञान तथा मूढ़ता विशिष्ट रूप में लक्षित होती है। स्मृति एवं कल्पना की क्षमता का विकास अपूर्ण रूप में होता है। इसलिए जो सुख या दुःख पशु अनुभव करते हैं, वे चिरस्थायी नहीं होते। यह त्रिगुण भेद जातिगत और प्राणीगत भी होता है। देवताओं में भी सत्वगुण का विकास समान रूप में नहीं रहता। इसी प्रकार मनुष्य जाति में भी रजस्‌गुण तथा तिर्यक् जातियों में तमस्‌गुण का असमान वितरण होता है। इस प्रकार त्रिगुण भेद से भी जीवात्मा का अनेकत्व सिद्ध होता है।

जीवात्मा अनेक है, क्योंकि अनुभव बतलाता है कि सभी जीवात्मा का स्वतन्त्र शारीरिक संघटन है, जिसके अनुरूप इन्हें नैतिक तथा बौद्धिक शक्ति प्राप्त है। प्रत्येक आत्मा अपने साथ एक भौतिक संघटन की अपेक्षा रखती है, जो अपने अदृष्ट के अनुसार उच्चतम से न्यूनतम प्राणी तक की श्रेणियों में गुजर सकती है। यह विश्वरूपी नाटक अनन्त आत्माओं के लिए निरन्तर चलता रहता है जबकि अनेक आत्माएँ मोक्ष प्राप्त कर लेती हैं।

पुरुष बहुत्व को स्थापित करने वाली सांख्य की युक्तियां विज्ञान एवं तर्क पर प्रतिष्ठित होते हुए अपने आप में पूर्ण हैं।

व्याख्याकारों की दृष्टि में पुरुष एवं पुरुष-बहुत्व :—

आचार्य माठर, गौड़पाद, वाचस्पतिमिश्र आदि व्याख्याकारों ने १७वीं कारिका की व्याख्या में चित्स्वरूप पुरुष की सत्ता की है तथा त्रिगुण से परे बताते हुए उसे भोक्ता कहा है। पुनः जन्ममरणादि के आधार पर उसका बहुत्व भी स्थापित किया है। गम्भीरता से विचार करने पर उपर्युक्त व्याख्याकारों की मान्यताओं में निम्नलिखित असंगतियां परिलक्षित होती हैं—

प्रथम असंगति यह है कि—पुरुष की सत्ता अनुमान प्रमाण से नहीं सिद्ध हो सकती।

द्वितीय असंगति यह है कि—चिद्रूप पुरुष का जगत् में कोई स्वार्थ नहीं है। उसे किसी भी प्रकार से भोक्ता या अनुभवकर्त्ता की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता, क्योंकि भोग तथा कैवल्य जीवात्मा के स्वार्थ हैं, पुरुष के नहीं।

तृतीय असंगति यह है कि—पुरुष को त्रिगुण से विपरीत बतलाते हुए उसे प्रयोजनशील कहा गया है जिसे कोई भी विचारवान मनुष्य संगत नहीं मान सकता। अगुण, निष्क्रिय, उदासीन पुरुष का क्या प्रयोजन हो सकता है?

चतुर्थ असंगति तो अत्यधिक भ्रामक है, जिसके अनुसार जन्ममरणादि हेतुओं के आधार पर पुरुष बहुत्व स्थापित किया गया है। जन्म मृत्यु का विधान उस शाश्वत अखण्ड, अपरिणामी पुरुष पर लागू नहीं होता। वे हमें जीवात्मा के बहुत्व की ओर ही ले जाते हैं।

अब यह प्रश्न उठता है कि आखिर यह गलती कहाँ से हुई तथा इस ओर आचार्यों ने क्यों नहीं ध्यान दिया। इस विषय में हमने कुछ तथ्य ढूढ़ने का प्रयास किया है—वह यह है कि सर्वप्राचीन व्याख्याकार आचार्य माठर ने पुरुष को ही परमात्मा माना है तथा उसे भोक्ता कहा है[1]। माठर[2] की यह मान्यता उपनिषदों पर आधारित है। गीता[3] में पुरुष को भोक्ता कहा गया है। पुरुष की सत्ता सिद्ध करने के बाद आचार्य माठर[4] ने पुरुष बहुत्व की स्थापना में अपनी भूल स्वीकार किया है तथा जन्म मरणादि हेतुओं की

---

१. एवमिदं व्यक्ताव्यक्तं दृष्ट्वा साधयामोऽस्त्यसौ परमात्मा पुरुषो यस्मेदं भोक्तु- र्व्यक्ताव्यक्तं भोग्यमिति। माठरवृत्ति का० १७

२. स यद्यदेवासृजत तत्तदत्तुमध्रियत् सर्वं वा अत्तीति तददितेरदितित्वम्। सर्वस्यै- तस्यात्ता: भवति। बृ० उ० १।२।५

तदुसोम एतावद्वा इदं सर्वमन्नम् चैवानादश्च सोम एवान्नमग्निरन्नादः सैषा ब्रह्मणोऽतिसृष्टिः। बृ० उ० १।४।६

एतज् ज्ञेयं नित्यमेवात्मसंस्थं नातः परं वेदितव्यं हि किञ्चित्।
भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा, सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममेतत्॥ श्वे उ० १।१२

एष हि द्रष्टास्प्रष्टा श्रोता घ्राता रसयिता मन्तावोद्धा
कर्ता विज्ञानात्मा पुरुषः स परेऽक्षर आत्मनि संप्रतिष्ठे। प्रश्न० उ० ४।९

३. उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः।
परत्मात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः॥ गी० १३।२२

४. जन्मनियमादिह केचिन्नीचजन्मानः, केचिन्मध्यमजन्मानः, केचिदुत्कृष्ट जन्मानः।·········—···। मरणेऽपि नियमोदृष्टो मम भ्राता मृतो मम पिता च तस्माद्वहवः पुरुषाः। माठरवृत्ति का० १८

जो व्याख्या की है वह स्वतः पुरुष स्वरूप के विपरीत है। यह बात आचार्यों को अवश्य खटकी होगी परन्तु इसका समाधान आचार्यों ने क्यों नहीं ढूढ़ा-इसका कारण अज्ञात है। इससे सांख्य दर्शन में ऐसी आपत्ति खड़ी हो गई है, जिसका निराकरण असम्भव हो गया है। आचार्य माठर की भूल की तरफ वाचस्पतिमिश्र ऐसे मूर्धन्य विद्वान का ध्यान न जाना खेदजनक है। इस प्रकार पुरुष बहुत्व का प्रचलित सिद्धांत कारिकाकार को अभीष्ट नहीं है। यह व्याख्याकारों का प्रमाद है।

पुरुष प्रकृति संयोग :—

सांख्य का सबसे क्लिष्ट एवं भ्रामक विषय पुरुष-प्रकृति संयोग की व्याख्या को समझना है। पुरुष अगुण, निष्क्रिय, अपरिणामी, चिद्रूप द्रष्टा है। प्रकृति गुणवती है, जगत् का मूल एवं समस्त परिवर्तनों का आधार है। प्रकृति या पुरुष दोनों स्वतंत्र निरपेक्ष सत्ता नहीं है और न ही ये दोनों पृथक् रूप से चेतना सम्पन्न प्राणी ही हैं। पुरुष के व्यक्तित्व की पृथक रूप में कल्पना तो असम्भव है ही पुरुषविहीन प्रकृति की भी व्याख्या नहीं हो सकती। हमें इन दो तत्त्वों के ज्ञान के लिए अपने व्यक्तित्व से बाहर जाने की आवश्यकता नहीं क्योंकि जहाँ जीवन है वहाँ हम आसानी से इन्हें ढूढ़ सकते हैं। यद्यपि अव्यक्त तथा प्रधान दोनों का प्रकृति के साथ तत्त्वतः अभेद हैं फिर भी सांख्य दर्शन में इन पदों का अपना विशिष्ट रहस्य है। इसका सम्यक् बोध सांख्य दर्शन की समस्याओं के समाधान के लिए अत्यन्त आवश्यक है। प्रकृति जगत् कारण रूप में प्राणियों के शारीरिक संघटन का द्योतक है तो अव्यक्त उनकी प्रकृति या स्वभाव का परिचायक है। यद्यपि प्राणियों की प्रवृत्ति शरीरानुकूल ही हुआ करती है फिर भी प्रकृति एवं अव्यक्त में सूक्ष्म भेद अवश्य है। मनुष्य रजः प्रधान प्राणी है। बुद्धि की विशिष्टता के कारण कैवल्य निमित्तक ज्ञान की खोज में वह स्वतः प्रवृत्त होता है। यह ज्ञान लाखों में से किसी व्यक्ति विशेष को ही उत्पन्न होता है जिसे सांख्यकारिका में "पुमान" कहा गया है। इस प्रकार प्रधान पद उस मनुष्य से सम्बन्धित है जिसे ज्ञान उत्पन्न होना है - कैवल्य प्राप्त करना है।

पुरुष प्रकाशस्वरूप है। वह प्रकृति के समस्त परिवर्तनों, विश्लेषणों को प्रकाशित करता है, किन्तु निष्क्रिय होने के कारण वह गति के अयोग्य है। अतएव उसे सांख्य में पंगु कहा गया है। प्रकृति सतत् क्रियाशील है, परन्तु वह अपनी क्रियाशीलता की व्याख्या के लिए पुरुष के प्रकाश की अपेक्षा रखती है। अतएव दृक्शक्ति के अभाव में उसे अंधी कहा गया है। सांख्य-दर्शन में पुरुष प्रकृति संयोग को पंगु-अंधवत् कहा गया है। इस संयोग की

सार्थक व्याख्या तभी संभव हो सकती है, जब कि गन्तव्य स्थल एक हो। सांख्य में वह स्थल विशेष मोक्ष की प्राप्ति है, जिसकी चरितार्थता के बाद प्रकृति उस विवेकी मनुष्य के प्रति व्यापार शून्य हो जाती है और वह साधक जगत् में रहते हुए भी निर्विकार द्रष्टा की भाँति उदसीन हो जाता है।

यह संयोग उपमा की भाषा मात्र है, जो पुरुष-प्रकृति संयोग को स्थूलतया समझाने के लिए प्रयुक्त हुई है। इस संयोग को सांख्य का सिद्धान्त मानकर सांख्यमत को दूषित नहीं किया जा सकता, क्योंकि पुरुष या प्रकृति दोनों में से कोई भी शरीरधारी प्राणी नहीं है, जिनका कोई प्रयोजन या स्वार्थ हो।

इस प्रकार मोक्ष प्राप्ति तक विवेकी मनुष्य के शरीर में पुरुष प्रकृति संयोग लँगड़े और अंधे की तरह है[1] और सम्पूर्ण सृष्टि में यही संयोग व्याप्त है"। लँगड़े और अंधे का संयोग जिस प्रकार गन्तव्य स्थल पर पहुँचने से सार्थक होता है उसी प्रकार मोक्ष प्राप्ति तक पुरुष-प्रकृति संयोग सार्थक होता है और जिस प्रकार गन्तव्य स्थल पर पहुँचने पर लँगड़े एवं अंधे का संयोग निष्प्रयोजन हो जाता है उसी प्रकार ज्ञान उत्पन्न होने पर विवेकी मनुष्य के लिए पुरुष-प्रकृति सयोग निष्प्रयोजन हो जाता। इस प्रकार जहाँ जीवन है वहाँ पुरुष-प्रकृति संयोग समझना चाहिये। जब तक मोक्ष प्राप्त नहीं हो जाता, जीवात्माएँ बराबर जन्म लेती रहती हैं, और इस प्रकार जो इनके नए-नए शरीर बनते है, वे सभी पुरुष-प्रकृति संयोग रूप में होते हैं। मोक्ष-प्राप्ति के बाद यह नाटक बन्द हो जाता है। अतः सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में पुरुष-प्रकृति संयोग है और यह संयोग सर्वत्र पंगु-अंधवत् ही है।

सांख्य दर्शन विचारधारा के क्षेत्र में एक विशिष्ट प्रकार की पद्धति को प्रस्तुत करता है। इसके अनुसार यह सृष्टि किसी सृष्टिकर्त्ता ईश्वर का कार्य नहीं है जिसने अपनी इच्छा के चमत्कार से अपने से सर्वथा भिन्न इस संसार को उत्पन्न किया, बल्कि यह रहस्यमयी सृष्टि अनादिकाल से है, सत्य है। वास्तविक है, इसे हम दो सत्ताओं (पुरुष एवं प्रकृति) के संयोग रूप में समझ सकते हैं। उपादान कारण प्रकृति को मानना सांख्य का एक अपना विशिष्ट अभ्युपगम है। गुणोत्कर्ष से ही समस्त उच्चावच भेद जगत् का विकास है। वैदिक[2] साहित्य में भी प्रकृति को उपादान कारण के रूप में स्वधा,

---

१. पुरुषस्य दर्शनार्थम् कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य।
पङ्ग्वंधवदुभयोरपि संयोगस्तत्कृतः सर्गः ॥ सां० का० २१

२. ऋ० वे० १०।१२९, ऋ० १०।८१।४, १।१६४।२०, १।८९।१०
अ० वे० १०।८।४३

त्रिगुण, वृक्ष, अदिति आदि पदों से संबोधित किया गया है। उपनिषदों[1] में आत्मा को क्षुधा, पिपासा, शोक, मोह, जरा, मृत्यु से परे बतलाया गया है। यह सांख्य के पुरुष-विषयक विचारधारा के अनुरूप है। पुरुष को समस्त गुणों, धर्मों से परे बतलाकर उससे भिन्न स्वभाव वाली प्रकृति का यहाँ निर्देश किया गया है। सुख-दुःख, मोह—ये सब प्रकृति से सम्बद्ध हैं। पुरुष तो निर्विकार, द्रष्टा है। पुरुष की विद्यमानता में जगत् की सारी व्यवस्था आलोकित होती रहती है—इस ओर भी वैदिक साहित्य में संकेत है।

उपनिषदों के ब्रह्म को बृंहति तथा बृंहयति "दो पदों में पर्यवसित किया जा सकता है। इसमें "बृहति" पद प्रकृति का तथा "बृंहयति" पुरुष का द्योतक है। ड्यूसन[2] कहता है कि यद्यपि उपनिषदों के सम्पूर्ण चिन्तन का विषय ब्रह्म है फिर भी वहाँ प्रकृति की सत्ता को अस्वीकार नहीं किया गया है। बृ० उ०[3] में इस बात पर बल दिया गया है कि सृष्टि की व्याख्या के लिए दो विरुद्ध स्वभाव वाले तत्त्वों के अस्तित्व को मानना आवश्यक है। डॉ० अनिमासेन गुप्त कहती हैं कि सांख्य के द्वैतवाद को उपनिषदों में बड़ी कठिनाई से खोजा जा सकता है, जबकि द्वैत विषयक अनेक उद्धरण यहाँ पर्याप्त मात्रा में विद्यमान है[4]। महाभारत[5] में इन दो तत्त्वों का स्पष्ट संकेत मिलता है तथा इनके अन्योन्याश्रय सम्बन्ध की भी चर्चा हुई है। गीता[6] में पुरुष प्रकृति को अनादि कहा गया है तथा उन्हें क्षेत्र एवं क्षेत्रज्ञ के रूप में

---

१. बृ० उ० ३।५।१, ४।३।१५, ४।३।२१
छा० उ० ८।१।५, ८।१२।१

२. Matter exists indepentlly of God from eternity and from eternity God is degraded to a mere world fashioner.
Philosophy of Upnishads P. 161—Dussen.

३. बृ० उ० १।४।३

४. Although the germs of the dlualistic teaching of the Samkhya are abundantly present in the whole Upanisdic literature.
E. S. T. P. 52

५. म० भा० १२।१९४।४४-४७, १२।३१५।१७-२०

६. गीता १३।१८, १९, २६

समझा गया है। लोकमान्य तिलक[1] के विचारों में भी वेदोपनिषद् पुराणों में उपलभ्यमान मूल कारणों को सांख्य की प्रकृति एवं पुरुष में पर्यवसित किया जा सकता है। राधाकृष्णन्[2] का कहना है कि यद्यपि यथार्थ सत्ता एक ही है तो भी हमें दो सत्ताएँ प्रकट रूप में मिलती हैं और इसी द्वैत के कारण जगत् में विभिन्नता है।

सांख्य विचारधारा जो वास्तविक तत्त्व निर्देश का एक मूल आधार है, केवल इसलिए सच नहीं मानी जाना चाहिये कि एकमात्र पुरुष या प्रकृति जगत् की व्याख्या करने में असमर्थ है। अतएव मध्यम मार्ग का आश्रय लेना चाहिये, अपितु इन दो सत्ताओं के अपने-अपने विशिष्ट रहस्य हैं। इस प्रकार सृष्टि एवं तत्त्व ज्ञान विषयक कपिल का दर्शन, उनका मनोविज्ञान विश्व में सबसे प्राचीन है। यह विचार मूलत: श्रुतियों पर आधारित है, जहाँ जगत् की सत्ता में जरा भी संदेह नहीं किया गया है। जगत् को वास्तविक मानने के कारण ही शायद प्रो० याकोवी सांख्य को भौतिकवाद का परिष्कृत रूप मानते हैं। परन्तु इसे भौतिकवादी कभी नहीं कहा जा सकता जैसा कि प्रो० ए० वी० कीथ[3] कहते हैं कि इसका (सांख्य का) जन्म तथा विकास ऐसे भौनिकवाद से मानना होगा जिसका पूरक अध्यात्मवाद हो। इस प्रकार सांख्य का द्वितत्त्ववाद, जिसमें यथार्थसत्ता के किसी अंश का दमन नहीं किया गया है, भारतीय ऋषि परम्परा की एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है जिसका उद्‌घाटन परमर्षि कपिल ने किया।

व्याख्याकारों की दृष्टि में पुरुष-प्रकृति संयोग :—

आचार्य माठर एवं गौड़पाद का कहना है कि पुरुष का प्रकृति के साथ संयोग दर्शन के लिए तथा प्रधान का पुरुष के साथ संयोग कैवल्य के लिए होता है। इस प्रकार पुरुष तथा प्रकृति दोनों प्रयोजनवान हैं। युक्ति दीपिका-कार के मत में पुरुष के मोक्ष के लिए तथा प्रधान के भोग के लिए दोनों का संयोग लँगड़े तथा अंधे की तरह होता है, उन्होंने पुरुष को भोक्ता तथा प्रकृति को भोग्या कहा है। जयमंगलाकार का कथन है कि भोग एवं कैवल्य दोनों पुरुषार्थों की सिद्धि प्रधान से ही सम्भव है। अतएव दर्शनार्थ तथा कैवल्यार्थ पुरुष प्रकृति संयोग होता है। नारायण तीर्थ की मान्यता है कि

---

१. गीता रहस्य–पृ० १७६–२०३
२. I. P. Vo I–P. 186
३. Samkhya System, P. 20–22

भोक्ता एवं भोग्य के लिए दोनों की सत्ता अनिवार्य है। वाचस्पति मिश्र कहना चाहते हैं कि पुरुष के भोग एवं कैवल्य के लिए तथा प्रकृति की भोग्यता के लिए दोनों का संयोग आवश्यक है। अन्त: में प्राय: सभी व्याख्याकारों ने पुरुष-प्रकृति संयोग से सृष्टि या महदादि के उत्पन्न होने की बात कही है। आचार्य माठर कहते हैं—जिस प्रकार स्त्री-पुरुष संयोग से बच्चा पैदा होता है उसी प्रकार प्रधान पुरुष संयोग से सृष्टि की उत्पत्ति होती है। इस विचार का संकेत बृ० उ० १/४/३ में मिलता है।

उपर्युक्त व्याख्याकारों के मन्तव्यों में निम्नलिखित असंगतिया हैं—

प्रथम असंगति तो यह है कि पुरुष या प्रकृति कोई शरीरधारी प्राणी नहीं है जिनका कोई अपना प्रयोजन या स्वार्थ हो।

द्वितीय असंगति यह है कि भोग या कैवल्य पुरुष का स्वार्थ नहीं है। वाचस्पति मिश्र इससे भलीभाँति परिचित हैं फिर भी उन्होंने पुरुष को भोक्ता कैसे कहा--यह बात समझ में नहीं आती।

तृतीय असंगति यह है कि यदि पुरुष प्रकृति संयोग से सृष्टि होती है तब यह संयोग कैसे हुआ, कब हुआ? इसकी भी व्याख्या करनी पड़ेगी और इस रूप में पुरुष भी कारण-कार्य परम्परा के अधीन हो जायगा।

वास्तविकता यह है कि सांख्य में सृष्टि सत्य है। वास्तविक है। सत्कार्यवाद के प्रतिष्ठित हो जाने पर महदादि कार्यों की उत्पत्ति का प्रसंग ही समाप्त हो जाता है। सांख्य ने जो सृष्टि की व्याख्या की है वह पूर्णतया वैज्ञानिक आधारों पर प्रतिष्ठित है। राधाकृष्णन्[१] का यह कथन कि सांख्य का द्वितत्त्ववाद दार्शनिक समस्या का समाधान नहीं देता, पुरुष-प्रकृति काल्पनिक हैं अतएव व्यवहारबाह्य हैं संगत नहीं प्रतीत होता।

विकासवाद

सामान्यतया विकास से सांख्य में यह भावना ध्वनित होती है कि प्रकृति से सृष्टि का विकास कैसे हुआ? यह समस्या अत्यन्त प्राचीन काल से चली आ रही है। अद्वैत वेदान्त के प्रवर्तक शंकराचार्य ने इस समस्या को गम्भीरता से लिया है तथा स्पष्ट रूप में कहा है कि सांख्य इस प्रश्न का उत्तर

---

१. The dualistic realism is the result of a false metaphysics. It will be well for us to understand at the outset that the Purus and Prakriti are not facts of experience. I. P. Vo II P. 320

देने में असमर्थ है कि प्रकृति से सृष्टि का विकास कैसे हुआ ? समकालीन[१] भारतीय दार्शनिकों ने इस समस्या को जटिल बताया है। परवर्ती सांख्याचार्य विज्ञानभिक्षु[२] ने इस समस्या को हल करने का प्रयास किया है—

"प्रकृतेः क्षोभात् प्रकृतिपुरुषसंयोगस्तस्मात् सृष्टिरिति सिद्धान्तः।"

आचार्य पं॰ आद्याप्रसादमिश्र[3] ने इसका खण्डन किया है "कितनी उल्टी बात है यह—प्रकृति के क्षोभ से प्रकृति और पुरुष का संयोग और उससे सृष्टि ? यदि क्षोभ को संयोग से पूर्व माना जायगा, तो संयोग का कारण क्षोभ हो जायगा, पर क्षोभ का कारण क्या होगा ?" वास्तव में यह आपत्ति सही एवं तर्क संगत है।

आगे चलकर आचार्यों ने विज्ञानभिक्षु के इस प्रयास को अपने विचारों में रंगकर खूब पुष्ट किया है। डॉ० राधाकृष्णन्[४] ने इस मान्यता की व्याख्या की है—प्रकृति सत्व, रजस् एवं तमस् गुणों की साम्यावस्था है। पुरुष प्रकृति पर सामूहिक यांत्रिक शक्ति का प्रयोग करते हैं, जिससे साम्यावस्था भंग हो जाती है। इस प्रकार गुणों की साम्यावस्था के अन्दर विक्षोभ, जिसके कारण विकास की क्रिया प्रारम्भ होती है, प्रकृति पर पुरुष के प्रभाव के कारण ही ऐसा होता है। पुनः[५] वे कहते हैं "यह जगत् असंख्य आत्माओं तथा सतत् कर्मशील प्रकृति की परस्पर क्रिया प्रतिक्रिया का परिणाम है। दासगुप्त[६] ने भी इसी भाव को व्यक्त किया है—सांख्य के अनुसार सृष्टि की उत्पत्ति के पूर्व इसी प्रकार की गुण रहित दशा थी। एक ऐसी दशा जिसमें गुणों के मिश्रण एक वैषम्य की स्थिति में आ गए और परस्पर विरोध के कारण सन्तुलन की स्थिति अर्थात् प्रकृति बन गई। प्रकृति में संतुलन एक निष्क्रिय स्थिति नहीं है, बहुत तनाव की स्थिति है, बहुत तीव्र प्रतिक्रिया की स्थिति है। प्रकृति में यह हलचल पुरुष के अनुभवातीत प्रभाव से होती है तथा सृष्टि-

---

१. I. P. Vo II P. 320, 322 R. K.
The Essentials of I. P. P. 115, Hiriyanna
The Study of Patanjali P. 13, 18 Das Gupta

२. सां० प्र० भा० ५।१०१ की अवतरणिका

३. सां० द० की ऐतिहासिक परम्परा पृ० ३३८

४. I. P. Vo II p. 289

५. Beet (it) is the product of the interaction between the infinite number of spirits and the ever-active Prakriti. I. P. p. 248

६. H. I. P. Vo I pp. 245-248

विकास की प्रक्रिया प्रारम्भ होती है। यह उद्विकास की प्रक्रिया एक सुनिर्धारित विधान के अनुसार चलती रहती है। बी० एन० सील[1] का मत है कि सृष्टि के उद्विकास की प्रक्रिया साम्यावस्था से वैषम्य की ओर, अविशेष से विशेष की ओर तथा अयुत्सिद्ध से युत्सिद्ध की ओर विकास की प्रक्रिया है। प्रो० हिरियन्ना[2] कहते हैं—प्रलय की अवस्था में प्रकृति के तीन गुण नित्य सक्रिय होने के बावजूद पूर्ण साम्यावस्था में रहते हैं। सर्ग के आरम्भ में यह अवस्था समाप्त हो जाती है। तदुपरांत सत्व की प्रधानता की अवस्था आती है और महत् नामक तत्त्व उत्पन्न होता है। प्रलय की दशा में भी प्रकृति को परिवर्तनशील माना गया है, अन्तर केवल यह है कि तब उसका विजातीय परिणाम न होकर सजातीय परिणाम होता है।

हमारी दृष्टि में उपर्युक्त सभी विचार असंगत एवं काल्पनिक हैं। सत्कार्यवाद के प्रतिष्ठित हो जाने से, सृष्टि कब हुई ? क्यों हुई ? कैसे हुई ? इसकी व्याख्या निष्पयोजन प्रतीत होती है। निर्विकार पुरुष पृथक् रूप में तो अव्याख्येय है ही, पुरुष विहीन प्रकृति की भी व्याख्या नहीं हो सकती। हमारे अनुभव में जो आत्माएँ आती हैं, वे सभी पुरुष-प्रकृति संयोग रूप हैं। इसलिये जीवन की व्याख्या में पुरुष प्रकृति अन्योन्याश्रित हैं। यहाँ कारण कार्य को उत्पन्न नहीं करता, न तो कारण में फिर प्रलय काल में कार्य विलुप्त ही होता है। बल्कि कारण कार्य से सूक्ष्म है। सांख्य के इस कारण कार्य सम्बन्ध की वैज्ञानिक विकासवाद से तुलना की जा सकती है।

कर्म तथा पुनर्जन्म :—

प्राणी जगत् सम्पूर्ण लोक में जीवात्माओं के शरीर निर्धारण में कर्म सिद्धान्त की सबसे महत्त्वपूर्ण भूमिका है। वेदों में इसे 'ऋत्' कहा गया है। ऋत् एक शाश्वत व्यवस्था या नियम का नाम है, जिसके अधीन सब लोग कार्य करते हैं। यह सभी के ऊपर लागू होता है। इस प्रकार ऋत् सदाचार के एक मानदण्ड को प्रस्तुत करता है। उपनिषद् में भी "ऋतौ पिवन्तौ[3]" के

---

१. The process of Evolution consists in the development of the differentiated within the undifferentiated, of the determinate, within the indeterminat of the coherent within the incoherent, Pasitive sciences of the Ancient Hindus. P. 7

२. Out Lines of I P. p. 272, 275

३ कठोपनिषद् १।३।१

द्वारा इस ओर संकेत किया गया है। महाभारत पुराणादि में कर्म सिद्धान्त को गूढ़ तथा योगिगम्य बताया गया है। गीता[१] में कर्मों की कुशलता को ही योग कहा गया है। वहाँ कर्म की गति को गूढ़ कहा गया है तथा बुद्धिमानों को भी इस सम्बन्ध में मोहित बतलाया गया है। कर्म का[२] सिद्धान्त मनुष्य की स्वच्छंदता और मनमानेपन पर अंकुश रखता है, जो सभी नैतिक मूल्यों का आधार है। ब्राह्मण[३] ग्रंथों के अनुसार कर्म का फल भोगना पड़ता है। अच्छे-बुरे कर्मों के अनुरूप फल पुरस्कार या दण्ड के रूप में मिलता है। प्रत्येक नया जीवन पूर्व जीवन के कर्त्तव्यो का परिणाम हुआ करता है और यह जीवन भी उसका अन्त नहीं है, बल्कि भावी जीवन का आधार है[४]। इस प्रकार नीति एवं धर्म के रूप में कर्म का विचार दर्शन का एक आवश्यक अंग रहा है।

कर्म को अनेक दृष्टियों से विभक्त किया गया है। गीता[५] में कर्म, अकर्म और विकर्म तीन विभाग किए गए हैं। यहाँ सात्विक् राजस् और तामस् रूप में कर्मों का विभाजन स्वीकृत है। कर्म विपाक में संचित, प्रारब्ध तथा संचीयमान के रूप में इसका विभाजन किया गया है। मनुस्मृति[६] में कर्म का विभाजन कायिक, वाचिक और मानसिक रूप में है। कर्म विपाक में वर्णित विभाजन ही अध्ययन के रूप में अधिक प्रचलित है। जो किया जा रहा है, उसे संचीयमान या क्रियमाण कहते हैं। व्यतीत हो जाने पर इसके स्थूल रूप का नाश हो जाता है किन्तु परिणाम रूप में यह सूक्ष्म रूप से बुद्धि के भण्डार में सुरक्षित रहता है। इसे ही कर्मसंस्कार या बीज कहते हैं, यही कर्मवासना या कर्माशय है, जो जन्मादि का जनक है। इसे सञ्चित कर्म कहा

---

१. गी० २।५०, ४।१६, १७

२. The doctrine of Karm is some times interpreted implying a denial of human freedom, which is generally regarded as the basis of all ethical values. Hindu view of Life. P. 72

३. शतपथ ब्राह्मण ६।२।२।२७

४. For each birth is a newstart, it develops indeed from the past. Rebirth is not a constant reiteration but a progression.
The Life Devine Vo II, P. 621

५. गी० ४।१७, गी० १८।२३–२५

६. मनुस्मृति १२।५–७, १२।३१,३४

जाता है। अवसर पाने पर परिपक्व होकर जो संचित कर्म फल देना प्रारम्भ कर देता है, उसे प्रारब्ध कहा जाता है।

कर्मों के उपर्युक्त विभाजन में जो आशा और स्वतन्त्रता निहित है, वह अत्यन्त दुर्लभ है। इसी नियम के अनुसार मनुष्य को अपने भाग्य का निर्माता कहा जाता है। कर्म का निवारण केवल भोग से होता है। कहा भी गया है—

"अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्"

गोस्वामी तुलसीदास जी कहते हैं—

"कर्म प्रधान विश्व करि राखा, जो जस करै सो तस फल चाखा।"

यह लोक धारणा है कि कर्म का नाश प्रायश्चित के द्वारा हो जाता है। वस्तुतः ऐसी बात नहीं है। धर्मशास्त्र विहित यज्ञादि व्रतोपवासादि से संचित एवं संचीयमान का नाश किया जा सकता है, परन्तु प्रारब्ध को अवश्य ही भोगना पड़ता है। शतपथ[१] ब्राह्मण में कहा गया है कि प्रत्येक पाप कर्म में 'पाप' को स्वीकार कर लेने से अपराध में कमी हो जाती है। मनुस्मृति[२] तथा महाभारत में कहा गया है कि कर्मों का फल कभी-कभी संतान को भी भोगना पड़ता है। इस विचार का विश्वास समाज में अपना जड़ जमा चुका है।

कर्म का उपर्युक्त त्रिविध विभाजन साभिप्राय है। कर्म के क्षेत्र में अपवाद के लिए अवसर नहीं है। कर्म सिद्धान्त में कृत प्रणाश और अकृताभ्युपगम—दो उपनियम हैं। किये हुए कर्म को न भोगना 'कृत प्रणाश' कहा जाता है। अकृत कर्म का फल भोगना 'अकृताभ्युपगम' है। कर्म सिद्धान्त में इन दोनों की प्रसक्ति नहीं होती, जिसने जो किया है उसको उसका फल अनिवार्य रूप से भोगना पड़ता है। कर्म से संसार की प्राप्ति होती है। इसलिए संसार को वन्धन कहा गया है।

मनुष्य रजः प्रधान प्राणी है। रजस्‌गुण प्रेरकतत्त्व के रूप में सांख्य में वर्णित है। इसी का परिणाम कर्म है। कर्म के क्षेत्र में मानवयोनि का विशेष महत्त्व है। ऊर्ध्व, अधः स्रोतों में प्राप्ति शुभाशुभ कर्मों से होती है। जन्म, मृत्यु, शोक, भय सभी कर्म प्रणीत हैं। कर्म से जीवात्माएँ उत्तम देवाधि लोक में तथा न्यूनतम पश्वादि योनियों में संसरण करती हैं। सांख्य दर्शन में पुनर्जन्म का आधार लिंग है, जो कर्म संस्कारों के फलित रूप भावों से अनुरंजित

---

१. श० ब्रा० २।५।२।२०

२. मनुस्मृति ४।१७३, म० भा० १२।२९१

होकर नाना योनियों में संसरण करता[१] रहता है। यह लिंग बुद्धि, अहंकार, मन सहित एकादशेन्द्रिय तथा पंचतन्मात्रों से युक्त, अठारह अवयवों का एक संगठन है। लिंग अप्रतिहत गति वाला है, जो शिला में भी प्रवेश कर सकता है। शरीरधारण के पूर्व विद्यमान रहने के कारण इसे 'पूर्वोत्पन्न' तथा स्थूल भौतिक तत्त्वों से रहित होने के कारण भोग में असमर्थ कहा गया है। प्रत्येक जीवात्मा का एक विशिष्ट लिंग होता है, जो ज्ञान उत्पन्न होने तक संसरण करता रहता है। लिंग और भाव अन्योन्याश्रित हैं। विना[२] लिंग के भाव तथा बिना भाव के लिंग नहीं रह सकते। शरीर रचना में दोनों सहभागी होते हैं। भाव का सम्बन्ध कर्म संस्कार से है।

लिंग शरीर नहीं है क्योंकि वह भोग करने में असमर्थ है। इसे जीव का शुद्धतम रूप कहा जा सकता है। यह सूक्ष्म शरीर से भिन्न है। सूक्ष्म शरीर लिंग का आश्रय है। जैसे आधार[३] के बिना चित्र, स्तम्भ के बिना छाया नहीं रहती उसी प्रकार विशेष (सूक्ष्मशरीर) के बिना लिंग निराश्रित नहीं रहता। यह लिंग स्वरूप से अपार्थिव है। अपने नानाविध संक्रमणों में यह कर्म के प्रभावों (संस्कारों) को ग्रहण करता है। नये शरीर के रूप का निर्धारण यही करता है। पुरुषार्थ भोग एवं कैवल्य के लिए निर्धारित यह लिंग धर्म-अधर्म इत्यादि निमित्त और उसके उर्ध्वगमनादि नैमित्तकों के सम्बन्ध से प्रकृति की विभुत्व शक्ति के संयोग से नट के समान व्यवहार करता है।[४] जैसे नट अनेक प्रकार की वेशभूषा बनाकर रङ्गमंच पर अनेक रूपों में उपस्थित होता है, उसी प्रकार यह लिंग अनेक प्रकार के शरीरधारण करके देव, मानुष, तिर्यक् योनियों में अनेक रूपों में रंगमंच पर उपस्थित होता है। इसमें यह क्षमता इसलिए है कि यह प्रकृति के सर्वव्यापकत्व में हिस्सा बटाता है।

---

३. पूर्वोत्पन्नमसक्तं नियतं महदादि सूक्ष्मपर्यन्तम्।
संसरति निरुपभोगं भावैरधिवासितं लिङ्गम्॥ सां० का० ४०॥

४. न विनाभावैर्लिंगं न विना लिङ्गेन भावनिर्वृत्तिः।
लिङ्गाख्यो भावाख्यस्तस्माद्द्विविधः प्रवर्तते सर्गः॥ सां० का० ५२॥

५. चित्रं यथाश्रयमृते स्थाण्वादिभ्यो बिना यथा छाया।
तद्वद्विनाविशेषैर्न तिष्ठति निराश्रयं लिङ्गम्॥ सां० का० ४१॥

६. पुरुषार्थहेतुकमिदं निमित्तनैमित्तिकप्रसङ्गेन।
प्रकृतेर्विभुत्वयोगान्नटवद् व्यवतिष्ठते लिङ्गम्॥ ४२॥

पुनर्जन्म के सिद्धांत का संकेत प्राचीन वैदिक साहित्य में नहीं मिलता, यद्यपि वहाँ यह भाव प्रकट किया गया है कि मृत्यु ही वस्तुओं का अन्त नहीं है। पुनर्जन्म[१] के सिद्धान्त को विकसित करने के लिए जितने भी सुझाव सम्भव हैं, वे सब ब्राह्मण ग्रन्थों में निहित हैं। उपनिषदों में यह सिद्धान्त विकसित रूप में है। वृ० उ०[२] में योनि से योन्यन्तर में संक्रमण करने वाले आत्मा की उपमा एक जलूका से की गई है। इसी उपनिषद् में कहा गया है कि आत्मा के साथ मन प्राण धर्माधर्म चले जाते हैं। लोकमान्य तिलक[3] के अनुसार सूक्ष्म अठारह तत्त्वों के सांख्योक्त लिंग शरीर में और उपनिषदों में वर्णित लिंग शरीर में विशेष भेद नहीं है। मनुस्मृति[४] में कहा गया है कि मरने पर मनुष्य को इस जन्म में किए हुए पाप पुण्य का फल भोगना पड़ता है। महाभारत[५] के सावित्री उपाख्यान में यह वर्णन पाया जाता है कि सत्यवान के शरीर में से अँगूठे के बराबर एक पुरुष को यमराज ने बाहर निकाला। प्रो० ए० वी० कीथ[६] पुनर्जन्म के सिद्धान्त को उपनिषद् दर्शन में विकसित नहीं मानते। वे पुनर्जन्म तथा निराशावाद के लिए सांख्य को बौद्ध धर्म का उपजीवी सिद्ध करते हैं। परन्तु उपर्युक्त संकेतों से कीथ का विचार संगत नहीं प्रतीत होता।

पुनर्जन्म का सिद्धान्त वैदिक साहित्य में विद्यमान है। जीवात्मा की मृत्यु के बाद उसके द्वारा किये गये शुभाशुभ कर्म निरर्थक नहीं होते, अवश्य ही वह अगले जन्म में उनसे प्रभावित होता है। भौतिक जगत में भी ठोस, द्रव एवं गैस रूपों में प्राप्त पदार्थों के रूपान्तरित होने की प्रक्रिया में भी इसका निर्वाह देखने को मिलता है। किसी वस्तु विशेष के निर्माण में भी सांख्य के

---

१. The Brahmanas contain all the suggettions necessary for the development of the doctrine of rebirth.

I. P. Vo I, p. 135, R. K.

२. बृ० उ० ४।४।३, ४।४।५

३. गीता रहस्य, पृ० १९७

४. मनुस्मृति १२।१६, १७

५. अंगुष्ठमात्रं पुरुषं निश्चकर्ष यमोबलात्। म० भा० वन० २९७।१६

६. The Upanishads do not show the doctrine of transmigration as fully developed. Its full development and spread must antedate the rise of Buddhism, Samkhya System pp. 18-19

'लिंग' एवं 'भाव' के अन्योन्याश्रय सम्बन्ध की समीक्षात्मक व्याख्या देखने को मिलती है। आधुनिक विज्ञान में भी सांख्य के कर्म एवं पुनर्जन्म का सिद्धांत खोज की एक नई दिशा का संकेत करता है।

व्याख्याकारों की दृष्टि में पुनर्जन्म सिद्धान्त :—

आचार्य माठर, गौड़पाद आदि आचार्यों ने लिंग का अर्थ सूक्ष्म शरीर किया है तथा उसे सृष्टि में प्रथम उत्पन्न तत्त्व माना है। माठर, गौड़पाद, जयमंगलाकार ने लिंग का दूसरा अर्थ त्रयोदशकरण तथा वाचस्पतिमिश्र ने बुद्धि आदि किया है। माठरवृत्ति गौड़पादभाष्य आदि में विशेष की जगह अविशेष पाठ है। वाचस्पतिमिश्र ने विशेष पाठ को संगत मानकर उसका अर्थ सूक्ष्म शरीर किया है।

उपर्युक्त व्याख्याकारों की मान्यताओं में निम्नलिखित दोष हैं—

प्रथम दोष तो यह है कि लिंग का अर्थ सूक्ष्म शरीर नहीं हो सकता क्योंकि शरीर भोग कर सकता है जबकि लिंग को 'निरुपभोगम्' कहा गया है।

द्वितीय दोष यह है कि लिंग की उत्पत्ति नहीं होती, उसमें स्थायित्व का अभाव है। वह भाव के साथ सदा सम्बद्ध रहता है और शरीर निर्माण का मुख्य घटक है।

तृतीय दोष यह है कि आचार्य माठर, गौड़पाद तथा जयमंगलाकार का यह कथन "त्रयोदश करण बिना तन्मात्रों के निराश्रित नहीं रह सकते" निष्प्रयोजन प्रतीत होता है। वाचस्पतिमिश्र का कथन "बुद्धि आदि सूक्ष्म शरीर के बिना नहीं रह सकते" भी संगत नहीं प्रतीत होता। वाचस्पतिमिश्र के कथन का अर्थ यही निकलता है कि सूक्ष्म शरीर सूक्ष्म शरीर के बिना नहीं रह सकता। एक न्याय शास्त्र के पंडित का ईदृश व्याख्यान खेदजनक है।

गीता में पुनर्जन्म का सिद्धान्त :—

गीता हिन्दू चिन्तन की महानतम कृति है। इसमें प्रतिपादित विचार हिन्दू ही नहीं अपितु सम्पूर्ण मानव जाति के हृदय पटल पर अमिट छाप छोड़ते है। पुनर्जन्म का सिद्धान्त भी इसके प्रमुख विचारों में एक हैं। गीता में कहा गया है—"जिस[1] प्रकार मनुष्य पुराने वस्त्रों को त्यागकर नया वस्त्र धारण करता है, उसी प्रकार आत्मा पुराने (जीर्ण) शरीर को त्याग-

---

१. वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही॥ गी० २।२२

कर नया शरीर का धारण करता है। पुनः[1] आत्मा को अजर, अमर, शाश्वत, नित्य, अखण्ड एवं अपरिणामी कहा गया है।

पुनर्जन्म में आत्मा को आधार मानने पर सबकी मृत्यु एक ही साथ हो सकती है तथा जन्म एक ही साथ होगा। क्योंकि आत्मा का प्रकाश सभी प्राणियों में सर्वत्र एक समान है। इस स्थिति में आत्मा को किसी प्रकार भी विकृत होने से बचाया नहीं जा सकता। देहान्तर में संसरण से उसके नित्य एवं शाश्वत अखण्ड रूप के भी परिवर्तन की संभावना की जा सकती है। इस प्रकार पुनर्जन्म के सम्बन्ध में गीता का मन्तव्य स्पष्ट नहीं है। हमारी दृष्टि में ऐसा प्रतीत होता है कि गीता पर बौद्धधर्म एवं दर्शन का प्रभाव है, जिसमें किसी नित्य वस्तु के अस्तित्व को स्वीकार नहीं किया गया है। बौद्धों की इस भावना के प्रतिक्रियास्वरूप आत्मा को ब्राह्मणवादी व्यवस्थानुरूप पुनर्जन्म में एक प्रमुख नित्य तत्त्व स्वीकार किया गया है।

कैवल्य :—

मनुष्य एक विवेकशील प्राणी है[2]। कर्म के क्षेत्र में इस योनि का विशेष महत्त्व है। मानव जीवन का सच्चा आदर्श जन्म-मरण के बन्धन से मुक्त होना है। सांख्य[3] शास्त्र का मूल उद्देश्य दुःखत्रय की अनिवार्य रूप से सार्वकालिक निवृत्ति के उपाय की व्याख्या करना है, ये दुःख जन्म[4] जरा तथा मरण रूप तीन हैं। इन दुखों को जीवात्मा नाना योनियों में भोगता है। इस प्रकार दुःख का भोक्ता न तो पुरुष है और न प्रकृति, बल्कि दोनों का संयोग रूप जीवात्मा है जिसे "पुरुष" कहा गया है। जीवात्मा को इन दुःखों से तब तक छुटकारा नहीं मिल पाता जब तक कि लिंग का संसरण बन्द नहीं हो जाता। लिङ्ग का संसरण बन्द हो जाना या पुनर्जन्म का न होना ही "कैवल्य" है।

मनुष्य एक बौद्धिक प्राणी है। अतएव दुःखत्रय की पीड़ा से छुटकारा दिलाने वाले साधन या उपाय को जानने की जिज्ञासा का उत्पन्न होना

---

१. गीता, २।२०, २१, २३, २४, २५, २६, ३०

२. Man is not a plant or an animal but a thinking and spiritual being set to shape his nature for higher purposes. Eastern Religion and Western Thought p. 37 R. K.

३. सां० का० १

४. सां० का० ५५

उसी में संगत एवं स्वाभाविक है। यद्यपि यह सृष्टि विशेष जीवात्मा के हित में है, परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि इस रचना विशेष के प्रति प्रकृति का कोई अपना स्वार्थ है।[१] लौकिक उपायों से मनुष्य सदा के लिए दुःखों से छुटकारा नहीं पा सकता। वैदिक उपाय भी लौकिक उपायों की तरह ही सक्षम नहीं हैं। वैदिक साधन या उपाय पूर्णतया शुद्ध नहीं है, क्योंकि उनसे प्राप्त फल क्षय तथा न्यूनाधिक्य दोष से युक्त हैं[२]। शतपथ-ब्राह्मण में कहा गया है कि देवताओं को उद्देश्य करके जो यज्ञ करता है: उसे उनना महत्त्वपूर्ण लोक प्राप्त नहीं होता, जो आत्मा को उद्देश्य करके यज्ञ करने वाले को होता है। मनुष्य जो विना ज्ञान के कर्मकाण्ड करते हैं। बार-बार जन्म लेते हैं और मृत्यु का ग्रास बनते है[३]। गीता[४] में भी कहा गया है—"त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन"। वैदिक उपायों से प्राप्त जो सुख है, वह चिरस्थायी नहीं होता। वह दुःख मिश्रित है।

सांख्य में कैवल्य प्राप्ति के लिए किसी विशिष्ट साधना या संयम पर बल नहीं दिया गया है। वहाँ केवल यही कहा गया है कि तत्त्व (व्यक्त, अव्यक्त, और ज्ञ) के सम्यक् ज्ञान से विशुद्ध ज्ञान की उत्पत्ति होती है और उस विशुद्ध ज्ञान से कैवल्य प्राप्त होता है, जो मानव जीवन का परम लक्ष्य है।

व्यक्त के सम्यक् ज्ञान का अर्थ है—"जगत् का सम्यक् ज्ञान"। व्यक्त उत्पन्न[५] होने वाला विनाशी एवं त्रिगुणात्मक है। जगत् में कोई भी वस्तु नियत एवं अविनाशी नहीं हैं। जो नियत एवं स्थायी नहीं है, वह अवश्य ही दुःखात्मक होगा। इस प्रकार साधक को पहले इस परिवर्तनशील जगत् का ज्ञान होना चाहिये।

यहाँ सभी वस्तुएँ, सभी सम्बन्ध अनित्य हैं। इस ब्यावहारिक जगत् के आकर्षणों के प्रति उपेक्षा का भाव, उसमें अनाशक्ति का होना ही "ब्यक्त" का सम्यक् ज्ञान है। शतपथ-ब्राह्मण[६] में सब वस्तुओं के त्याग को

---

१. सां० का० ५६

२. सां० का० २

३. श० ब्रा० १०।४।३।१०

४. गी० २।४५

५. सां० का० १०, ११

६. श० ब्रा० १३।७।१।१

मुक्ति की प्राप्ति का साधन कहा गया है। उपनिषदों में व्यावहारिक जगत् को निस्सार बतलाते हुए आत्म ज्ञान की महत्ता का प्रतिपादन किया गया है। ईशावास्योपनिषद्[१] में जगत् के प्रति अनाशक्ति भाव पर बल दिया गया है। प्रो० शेरवास्की[२] कहते हैं कि शायद बौद्धों का क्षणिकबाद सांख्य के इसी सिद्धान्त से विकसित हुआ है।

व्यक्त के सम्यक् ज्ञान के बाद अव्यक्त का ज्ञान होना चाहिये। मनुष्य एक विचारवान प्राणी है। दुःखत्रय से छुटकारा दिलाने वाले उपाय "ज्ञान" की खोज में वह स्वतः प्रवृत्त होता है, अन्य प्राणी भोग में ही लिप्त रहते हैं। इस कार्य में मनुष्य को कोई प्रेरित नहीं करता, बल्कि यह उसका स्वभाव है। इस प्रकार जगत् का ज्ञान होने के साथ-साथ साधक विशेष को इस बात का भी ज्ञान होना चाहिए कि हमारा जन्म किसी उच्चतर उद्देश्य की प्राप्ति के लिए हुआ है और इसे निष्प्रयोजन गवाना उचित नहीं है। इसीलिए सांख्य में कहा गया है कि जिस[३] प्रकार अभीष्ट की प्राप्ति के लिए लोग अपने-अपने कार्यों में स्वतः प्रवृत्त होते हैं उसी प्रकार मनुष्य मोक्ष प्राप्त करने के लिए "तत्त्वाभ्यास" के निमित्त स्वतः प्रवृत्त होता है।

व्यक्त अव्यक्त के सम्यक् ज्ञान के बाद ज्ञ का सम्यक् ज्ञान होना चाहिए। ज्ञ ही "पुरुष" है, जिसे परमात्मा या ईश्वर कहा जा सकता है। साधक को इस बात का ज्ञान होना चाहिए कि सृष्टि में एक ऐसा तत्त्व है, जो सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को प्रकाशित करता है परन्तु वह अगुण एवं अरूप है। पुरुष के विषय में इस प्रकार का ज्ञान होना ही "ज्ञ" का सम्यक् ज्ञान है। साधक को दृष्टिगोचर होने वाले जगत् को ही सब कुछ नहीं मानना चाहिए। उसे एक ऐसे तत्त्व में भी विश्वास रखना चाहिए जो प्रत्यक्ष तथा अनुमान से परे है तथा जिसकी सत्ता वेद से सिद्ध होती है। उपनिषदों में इस ओर विशेष प्रगति दिखाई देती है। इस प्रकार प्रथम जगत् का ज्ञान द्वितीय मानव शरीर धारण करने के प्रयोजन का ज्ञान तृतीय एवं अन्तिम पुरुष (ईश्वर या परमात्मा) का ज्ञान होता है। इन तीनों के सम्यक् ज्ञान के वाद विशुद्ध ज्ञान उत्पन्न होता है।

---

१. ईशावाष्योपनिषद् प्रथम मंत्र

२. The Central conception of Buddhism and the Meaning of the word Dharm. p. 39

३. सां० का० ५८

विशुद्ध ज्ञान का स्वरूप क्या है ? इसे समझना है। विशुद्धज्ञान में विवेकी मनुष्य का "अहंभाव" समाप्त हो जाता है, अहम् भाव की समाप्ति ही ज्ञान का उत्पन्न होना है। इस स्थिति में वह (ज्ञानी) अनुभव करता है—"मैं कुछ नहीं हूँ" (मेरा कोई अस्तित्व नहीं है) "मेरा कोई नहीं है" सारे सम्बंध मिथ्या हैं "मैं वस्तुतः कर्ता भी नहीं हूँ" सब कुछ प्रकृति है[१]। गीता[२] में कहा गया है "सभी कर्म प्रकृति के गुणों द्वारा किए हुए हैं, अहंकार से मोहित हुआ मूढ़ पुरुष अपने को कर्ता मानता है। सम्यक् ज्ञान एवं विशुद्ध ज्ञान में भेद यह है कि सम्यक् ज्ञान में अहंभाव रहता है क्योंकि विना अहंभाव के तत्त्वाभ्यास नहीं हो सकता। विशुद्ध ज्ञान में यह भाव विल्कुल मिट जाता है। यह ज्ञान मनुष्य (साधक विशेष) को प्रकृति से स्वतः प्राप्त होता है। इसलिए कहा गया है "जिस प्रकार[3] बछड़े के पोषण के लिए गाय उसे दूध देन के लिए स्वतः प्रवृत्त होती है, उसी प्रकार विवेकी मनुष्य को मुक्त होने के लिए उसे ज्ञान देने के लिए प्रकृति स्वतः प्रवृत्त होती है।

जिस प्रकार[४] नर्तकी रङ्गमञ्च पर दर्शकों के समक्ष अपना नृत्य दिखाकर लौट जाती है, उसी प्रकार प्रकृति भी अपने विविध रूपों को उस विवेकी मनुष्य को दिखाकर फिर उसके लिए प्रवृत्त नहीं होती। मनुष्य[५] बुद्धि के धर्माधर्मादि सात रूपों से बंधन में पड़ता है तथा "ज्ञान" से कैवल्य प्राप्त करता है। इसलिए अविवेक को बंधन तथा विवेक को मोक्ष का कारण कहा गया है[६]। उस ज्ञान[७] के बल से विवेकी मनुष्य निर्विकार दर्शक की भाँति जगत् में अवस्थित रहता है। ड्यूसन[८] कहता है कि आत्मज्ञान के बाद कुछ भी शेष नहीं रहता। गीता में[९] कहा गया है

---

१. सां० का० ६४

२. गी० ३।२७

३. सां० का० ५७

४. सां० का० ५९

५. सां० का० ६३

६. E R. E. Vo 1?, p. 434–435

७. सां० का० ६५

८. The Phylosophy of Upanishads. P. 364

९. गी० ४।३६, ३७

"हे अर्जुन जैसे प्रज्वलित अग्नि इंधन को भस्मसात् कर देता है, वैसे ही ज्ञान रूप अग्नि सम्पूर्ण कर्मो को भस्मसात् कर देता है। इसलिए इस संसार में ज्ञान के समान पवित्र करने वाला निःसंदेह कुछ भी नहीं है"। ज्ञान[1] उत्पन्न होने पर वह विवेकी प्रकृति के प्रति उदासीन हो जाता है तथा प्रकृति उसके भोग एवं कैवल्य द्विविध प्रयोजनों को सिद्ध करके उसके प्रति व्यापार शून्य हो जाती है। तत्त्व ज्ञान[2] की प्राप्ति से धर्माधर्मादि संस्कारों, कर्मो का बीजभाव नष्ट हो जाने पर भी प्रारब्ध कर्मो के अवशिष्ट संस्कारों के सामर्थ्य से साधक वैसे ही शरीर धारण किए रहता है जैसे दंड से चलाई गई कुम्हार की चाक, फिर दण्ड चालन न होने पर भी पूर्व उत्पन्न वेग से घूमती रहती है। शरीर धारण[3] किए रहने पर भी वह ज्ञानी शुभाशुभ कर्मो से प्रभावित नहीं होता। इसे जीवन्मुक्त अवस्था कहा जाता है। शरीर[4] के पात हो जाने पर भोग एवं कैवल्य द्विविध प्रयोजनों को सिद्ध करके प्रकृति के निवृत्त हो जाने पर वह ज्ञानी मनुष्य नियत एवं अविनाशी कैवल्य प्राप्त कर लेता है। इसे विदेह मुक्ति कहा जाता है।

इस प्रकार सांख्य किसी विशिष्ट संप्रदाय का बोधक नही है, वल्कि इसे केवल यही कहना है 'ज्ञान से कैवल्य प्राप्त होता है' जो एक सर्वमान्य सिद्धान्त है। परमर्षि कपिल इस उपाय (ज्ञान) के द्रष्टा हैं। व्यक्त, अव्यक्त तथा ज्ञ—इन तत्वों के अभ्यास की बात जो सांख्य ने कही है, वह पूर्णतया विज्ञान एवं तर्क पर प्रतिष्ठित हैं। यह सभी लोग जानते हैं कि यह संसार परिवर्तनशील है। नश्वर है। मनुष्य एक विवेकशील प्राणी है। एक तीसरे तत्त्व पुरुष के विषय में निश्चय रूप से सर्वस्वीकृत मान्यता है, भले ही उसका निर्वचन विविध धर्मो में विविध रूप में हो, कि एक ऐसा तत्त्व है जो

---

१. सां० का० ६६

The Jnani or the seer does not abstain from the work of the world but does it with his eyes fixed on the eternal. Eastern Religion and Western Thought. P. 45

२. सां० का० ६७

३. A Jiwan mukta purus is in different to pleasures and pains, still he has to go through pains and sufferings as long as his prarabdha karm is not wholly worked out. A classical Samkhya. P. 105, A. S. Gupta

४. सां० का० ६८

अनुभवगम्य नहीं है तथा सदा स्वतंत्र अगुण एवं अपरिणामी है। मानव सभ्यता के इतिहास में बहुत पहले से ही इस तत्त्व की खोज की जा चुकी है। कैवल्य विषयक जितनी भी विचारधाराएँ प्रचलित हैं, सभी ने किसी न किसी रूप में सांख्य का ही आश्रय लिया है।

बंधन तथा मोक्ष के प्रसंग में कुछ बातों पर ध्यान देना आवश्यक है।

प्रथम बात तो यह है कि दुःखों का भोक्ता जीवात्मा है।

दूसरी बात यह है कि कैवल्य की प्राप्ति मानव शरीर से ही संभव है।

तीसरी बात ध्यान देने योग्य यह है कि कैवल्य प्राप्त करने वाले ज्ञानी को "पुमान" कहा गया है, जो चिद्रूप पुरुष से भिन्न है। पुरुष का बंधन-मोक्ष से कोई सम्बन्ध नहीं है।

व्याख्याकारों की दृष्टि में बंधन-मोक्ष का स्वरूप :—

आचार्य माठर गौड़पाद,[1] वाचस्पतिमिश्र आदि व्याख्याकारों ने दुःख-त्रय को त्रिविध दुःख (आध्यात्मिक, आधिभौतिक तथा आधिदैविक) रूप में समझा है। उनकी दृष्टि में[2] पुरुष तथा प्रकृति दोनों का सम्बन्ध बन्धन तथा मोक्ष से है। तत्त्व[3] का अर्थ व्याख्याकारों ने प्रकृति-पुरुष महदादि २५ प्रमेय किया है तथा इन्हीं के ज्ञान से कैवल्य की प्राप्ति बताया है।

व्याख्याकारों की मान्यताओं में निम्नलिखित असंगतियाँ हैं—

(१) दुःखों का भोक्ता जीवात्मा है। पुरुष या प्रकृति नहीं। इस विषय में वाचस्पतिमिश्र[4] का कथन अत्यन्त भ्रामक एवं अस्पष्ट है।

(२) वास्तविक दुःख जन्म, जरा तथा मरण रूप तीन है। आध्यात्मिक, आधिभौतिक तथा आधिदैविक नहीं। सांख्यकारिका इस विषय में सबल प्रमाण है।

(३) पुरुष या प्रकृति कभी बन्धन-मोक्ष की परिधि में नहीं आ सकते क्योंकि ये शरीरधारी प्राणी नहीं हैं।

(४) तत्त्व और प्रमेय में भेद है। पुरुष, प्रकृति महदादि तेइस कार्य—ये पच्चीस प्रमेय हैं। तत्त्व नहीं। इनके ज्ञान से कैवल्य की प्राप्ति नहीं हो सकती।

---

१. सां० का० १ की व्याख्या

२. सां० का० ६२ तथा ६०–६८ तक की व्याख्या

३. माठरवृत्ति, गौड़पादभाष्य, जयमंगला, सां० का० ६४

४. सां० त० कौ० का० ५५

सांख्यदर्शन की समस्याएँ एवं उनका समाधान :—

ईश्वरकृष्ण-कृत सांख्यकारिका सांख्य का प्रामाणिक ग्रन्थ है। इसे ही सांख्य शास्त्र समझना चाहिए। वास्तव में इस ग्रन्थ के आधार पर यदि सांख्य को प्रस्तुत किया जाय तो, उसमें कोई समस्या या कहीं भी असंगति नहीं है, परन्तु आचार्य माठर, गौड़पाद, वाचस्पतिमिश्र आदि आचार्यों की सांख्य-विषयक मान्यताओं में असंगतियाँ एवं भ्रान्तियाँ अवश्य हैं। आचार्य माठर सांख्यकारिका के सर्वप्राचीन व्याख्याकार है, जिन्होंने बौद्ध विचारों से प्रभावित हो या तात्कालिक परिस्थितियों के दबाव में आकर निःसंदेह कुछ भूल की है। परम्परागत सभी व्याख्याकारों ने माठर की भूल को ध्यान में न रखते हुए उसी का अंधाधुन्ध अनुकरण किया है। किसी भी व्याख्याकार ने उनकी मान्यताओं को चुनौती देने का साहस नहीं किया है। वादरायण व्यास ने सांख्य के खण्डन में आचार्य माठर की व्याख्या का ही आश्रय लिया है। आचार्य शंकर[1] ने सांख्य मत का विस्तृत प्रत्याख्यान किया है। उन्होंने गौड़पादभाष्य के आधार पर सांख्य को समझा है, जबकि गौड़-पाद अपने विचारों के लिए आचार्य माठर के ऋणी हैं। इस प्रकार कहा जा सकता है कि मूल सांख्य में (सांख्यकारिका) न तो कोई समस्या है और न कहीं असंगति। उपलब्ध सांख्य में जो असंगतियाँ या भ्रान्तियाँ दीख पड़ती हैं। वे सब आचार्य माठर की देन हैं। वाचस्पतिमिश्र ने इन समस्याओं को और जटिल बना दिया है, जिससे सांख्य दर्शन समस्याओं एवं असंगतियों का अजायब घर बन गया है।

मुख्य रूप से सांख्य के विरुद्ध निम्नलिखित आपत्तियाँ उठाई जाती हैं—

(१) अचेतन प्रकृति सृष्टि नहीं कर सकती।

(२) यदि प्रकृति पुरुष से स्वतन्त्र है तो उसमें क्रियाशीलता नहीं आ सकती।

(३) प्रकृति की साम्यावस्था कैसे भंग होती है? पुरुष प्रकृति का संयोग कैसे होता है? सृष्टि कैसे होती है?

(४) पुरुष प्रकृति संयोग के सन्दर्भ में आये हुए कुछ दृष्टांतों के आधार पर भी आपत्तियाँ उठाई गई हैं।

(५) चिद्रूप पुरुष भोक्ता नहीं हो सकता। शरीर भेद या जन्म मरण के आधार पर उसका बहुत्व सम्भव नहीं है।

---

१. ब० सू० शांकर भाष्य २।२।१-१०, २।१।१

(६) प्रकृति सब कुछ करती है, उसका फल पुरुष कैसे भोगता है ?

(७) संघात का भोक्ता पुरुष नहीं हो सकता। जो भोक्ता है, वह कर्ता अवश्य होगा। अचेतन बुद्धि भोक्ता नहीं हो सकती।

(८) पुरुष के लिए बन्धन या मोक्ष अवास्तविक हैं, फिर किसका बंधन या मोक्ष होता है ?

(९) सत्कार्य का अर्थ कार्य का उत्पत्ति के पूर्व कारण में सत् होना नहीं हो सकता ?

(१०) सांख्य में द्वैतवाद एक बड़ी समस्या है, जिसका किसी भी प्रकार समाधान सम्भव नहीं है।

सांख्य के विरोध में जो उपर्युक्त आपत्तियाँ उठाई गई हैं, वे मूल सांख्य पर आधारित नहीं हैं। ये आपत्तियाँ व्याख्याकारों के प्रमाद के कारण सम्भव हैं। हमारी दृष्टि में मूल सांख्यकारिका के आधार पर विशुद्ध सांख्य का स्वरूप इस प्रकार है—

(१) परमर्षि कपिल सांख्य-द्रष्टा हैं। वे ऐतिहासिक व्यक्ति नहीं हैं। षष्टितंत्र कोई ग्रन्थ विशेष नहीं हैं। यह सांख्य का पर्याय है। आसुरि पंचशिखादि सांख्याचार्य ऐतिहासिक व्यक्ति नहीं है। इनसे सांख्य की अविच्छिन्न परम्परा पर प्रकाश पड़ता है।

(२) ईश्वरकृष्ण-कृत सांख्यकारिका सांख्य का सर्वप्राचीन प्रामाणिक ग्रन्थ है। इससे पूर्व सांख्य व्यवस्थित दर्शन के रूप में न आ सका था। इसमें केवल ७० कारिकाएँ हैं। उपलब्ध ७०वीं तथा ७२वीं दो कारिकाएँ प्रक्षिप्त हैं। इस प्रकार ईश्वरकृष्ण को सांख्य-शास्त्र का प्रणेता कहा जा सकता है।

(३) प्रकृति आदिकारण है। महदादि तेइस कार्य हैं। इन्हीं कार्यों से उसकी सत्ता सिद्ध होती है। सांख्य में कारण-कार्य सम्बन्ध अन्य दर्शनों में वर्णित कारण कार्य सम्बन्ध से भिन्न है। यहाँ कारण कार्य से सूक्ष्म है तथा कार्य-कारण गुणों से युक्त है।

(४) प्रकृति, अव्यक्त और प्रधान यद्यपि तात्त्विक रूप में एक हैं फिर भी सांख्य में इन पदों का पृथक रूप में अपना एक विशिष्ट रहस्य है। प्रकृति प्राणियों के शारीरिक संगठन तथा अव्यक्त उनकी मूल प्रवृत्ति का परिचायक है। 'प्रधान' पद उस मनुष्य से सम्बन्धित है जिसे कैवल्य प्राप्त करना है।

(५) सत्कार्य का अर्थ मात्र केवल इतना ही है कि महदादि कार्य सदा विद्यमान हैं। सत् हैं। व्यक्त एवं कार्य में भेद है। महदादि कार्यों की विभिन्न शरीरों में अभिव्यक्ति ही व्यक्त है। व्यक्त अनित्य है। कार्य सत्, व्यक्त अनेक हैं, कार्य मात्र तेइस।

(६) सांख्य को सृष्टि के बाद प्रलय, प्रलय के बाद सृष्टि का विधान मान्य नहीं है। सृष्टि कब हुई? क्यों हुई? कैसे हुई?—इन प्रश्नों का न तो कोई निश्चयात्मक उत्तर है और न तो इस ओर उसकी प्रवृत्ति ही है। सांख्य में सृष्टि सत्य है, वास्तविक है।

(७) पुरुष चिद्रूप, अगुण, निष्क्रिय एवं अपरिणामी है। उसकी सत्ता शब्द प्रमाण से सिद्ध होती है। वह बंधन-मोक्ष, कारण-कार्य की परंपरा से परे हैं। वह कर्त्ता या भोक्ता नहीं है।

(८) सांख्य में अनुभवकर्त्ता, भोक्ता, ज्ञाता न तो पुरुष है न प्रकृति। वह जीवात्मा है, जो पुरुष एवं प्रकृति का संयोग रूप है। उसी की सत्ता सिद्ध की गई है तथा बहुत्व भी स्थापित किया गया है।

(९)) पुरुष प्रकृति संयोग से सृष्टि नहीं होती, बल्कि यह सृष्टि प्रवाह अनादि है तथा इसे हम पुरुष-प्रकृति संयोग रूप में समझ सकते हैं। इस प्रकार जहाँ जीवन है वहाँ इन दोनों का संयोग पंगु अंधवत् है।

(१०) सांख्य में प्रत्यक्ष, अनुमान तथा शब्द तीन प्रकार के प्रमाण माने गये हैं। प्रत्यक्ष से पञ्चमहाभूतों का, अनुमान द्वारा पञ्चतन्मात्र से लेकर प्रकृति तक का तथा शब्द से पुरुष का ज्ञान होता है। प्रमेय पुरुष, प्रकृति तथा महदादि तेइस कार्य हैं। स्वर्ग, अपवर्ग, उत्तर, कुरु, यागादि सांख्यीय प्रमेय नहीं है। तत्त्व-व्यक्त अव्यक्त तथा ज्ञ हैं।

(११) यहाँ त्रिगुण सिद्धान्त अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। ये गुण सत्व, रजस् तथा तमस् हैं, जो प्राणियों की मनोवृत्ति के परिचायक है।

(१२) पुनर्जन्म से पुरुष का कोई सम्बन्ध नहीं है। लिंग ही भावों से अनुरञ्जित होकर नाना योनियों में संसरण करता रहता है। भावों का सम्बन्ध कर्म संस्कार से है। लिंग का आश्रय सूक्ष्म शरीर है। प्रत्येक जीवात्मा का एक पृथक लिंग होता है। यह महत् से लेकर पञ्चतन्मात्र तक १८ अवयवों से बना होता है तथा भोग में असमर्थ है।

(१३) बंधन-मोक्ष जीवात्मा का होता है न पुरुष का और न प्रकृति का। बुद्धि की विशिष्टता होने के कारण कैवल्य की प्राप्ति मनुष्य शरीर से ही संभव है। व्यक्त, अव्यक्त तथा ज्ञ के सम्यक् ज्ञान से विशुद्ध ज्ञान उत्पन्न होता है और उस विशुद्ध ज्ञान से कैवल्य प्राप्त होता है। कैवल्य प्राप्त करने वाले साधक को "पुमान" कहा गया है।

(१४) सांख्य में पुरुष ही परमात्मा या ईश्वर है। यहाँ ईश्वर घट-घट-वासी सर्व प्रकाशक तत्त्व है। वह कर्म फलदाता, सर्वज्ञ, नियन्ता एवं सृष्टि-कर्त्ता नहीं है।

(१५) सांख्य का अर्थ सम्यक् ज्ञान है। यह मूलतः व्यक्ताव्यक्तज्ञ-विज्ञानवादी है। इसे द्वैतवादी अद्वैतवादी निरीश्वरवादी, ईश्वरवादी नहीं कहा जा सकता है।

(१६) सांख्य सृष्टि एवं तत्त्व ज्ञान विषयक विश्व की प्राचीनतम विचारधारा है। इसके सभी सिद्धान्त तर्क एवं विज्ञान पर प्रतिष्ठित होते हुए श्रुति सम्मत हैं।

उपर्युक्त विचारों के आधार पर हमारी दृष्टि में सांख्य में न तो कहीं असंगति है और न कोई समस्या। जिस परमर्षि कपिल के प्राप्त ज्ञान की प्रशंसा श्रुति कर रही है उसके कथन में असंगतियों का ढूँढ़ना श्रुति विरुद्ध एवं अवाञ्छनीय है।

सांख्यकारिका की व्याख्या

हम वेद-प्राण परमर्षि-कपिल के श्री चरणों की वन्दना करते हैं, जिन्होंने दु:खत्रय के प्रहार से बचने वाले उपाय "ज्ञान" का सर्वप्रथम साक्षात्कार किया। अपनी सांख्य-निष्ठा की अभिव्यक्ति में हम सांख्य-शास्त्र-प्रणेता ईश्वरकृष्ण के अनुग्रह की कामना करते हैं।

ज्ञानियों की दृष्टि में यह आनुभविक जगत् दु:खमय है। अतएव इससे छुटकारा दिलाने वाले साधन या उपाय को जानने की जिज्ञासा का होना उचित है। इसी अभिप्राय के साथ ग्रंथकार ईश्वरकृष्ण अपनी प्रथम कारिका का शुभारम्भ करते हैं—

दु:खत्रयाभिघाताज्जिज्ञासा तदपघातके[1] हेतौ।
दृष्टे साऽपार्था चेन्नैकान्तात्यन्ततोऽभावात् ॥१॥

अनुवाद : दु:खत्रय की पीड़ा के निवारक उपाय को जानने की जिज्ञासा होती है। यदि यह कहा जाय कि इसके लिए लौकिक उपाय विद्यमान होने के कारण यह शास्त्रजिज्ञासा निष्प्रयोजन है, तो ऐसा नहीं है, क्योंकि उससे दु:खत्रय की पीड़ा का अनिवार्य-रूप से सार्वकालिक विनाश नहीं होता।

व्याख्या : सांख्य दु:ख की सार्वभौम सत्ता को स्वीकार करते हुए अपने दर्शन का प्रारम्भ करता है। स्पष्ट है कि दु:ख-त्रय का भोक्ता शरीरधारी जीवात्मा है। प्रत्येक जीवात्मा की स्वतंत्र करण प्रकृति है। उसी के अनुरूप वह व्यवहार करता है। जब करण प्रकृति की सामर्थ्य की अपेक्षा विषय व्यवहार-रूप क्रिया का परिमाण अधिक हो जाता है, तभी प्राणी को दु:ख-बोध होता है। दु:ख-त्रय का अर्थ—जन्म, जरा, मरण रूप तीन दु:ख है, जिन्हें कैवल्य प्राप्ति तक प्राणियों को विभिन्न योनियों में भोगना पड़ता है। मनुष्य एक बौद्धिक प्राणी है। अतएव दु:खत्रय के प्रहार से बचने के लिए, उसको दूर करने वाले साधन या उपाय को जानने की जिज्ञासा का

---

१. तदभिघातके—माठर, गौड़पाद, तदवघातके—जयमंगला

उत्पन्न होना, उसी (मनुष्य) में संगत एवं स्वाभाविक है। दृष्ट या लौकिक-उपायों से निश्चित रूप में सदा के लिए दुःखों से छुटकारा नहीं मिल सकता। सदाचार, योग, साधना, तप, आदि लौकिक उपाय कहे जा सकते हैं। ग्रंथ का आरम्भ "दुःख" शब्द से नहीं होना चाहिए क्योंकि यह अमङ्गल-सूचक है और मंगल से आरम्भ होने वाला ग्रंथ या शास्त्र प्रसिद्धि प्राप्त करता है तथा उसके अध्येता भी अभीष्ट अर्थ प्राप्त करते हैं। इस प्रकार 'दुःख' पद से ग्रन्थ का आरम्भ अनुचित है। इस शंका का समाधान यह है कि यद्यपि दुःख पद अमङ्गल-वाचक है, तथापि समस्त वाक्य दुःखत्रय पीड़ा के निवारक उपाय की व्याख्या करने के कारण मंगलार्थ का ही वाचक है। समूचे वाक्यार्थ से पृथक् "दुःख" पद के अर्थ की कोई सत्ता नहीं है।

विशेष—व्याख्याकारों ने दुःखत्रय का अर्थ त्रिविध[1] दुःख किया है और इन्हें आध्यात्मिक, आधिभौतिक तथा आधिदैविक रूप में समझा है। इनमें से आध्यात्मिक दुःख को शारीरिक और मानसिक दो रूपों में विभक्त किया है। बात, पित्त और कफ नामक त्रिदोष की विषमता से उत्पन्न दुःख को 'शारीरिक' तथा काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय, ईर्ष्या, विषाद तथा सुन्दर स्पर्शादि श्रेष्ठ विषयों के अभाव से उत्पन्न दुःख को 'मानसिक' कहते हैं। ये सभी दुःख आन्तरिक उपायों से साध्य या निवर्तनीय होने के कारण आध्यात्मिक कहे गये हैं। आचार्य माठर[2] तथा गौड़पाद के अनुसार जिसे चाहते हैं वह न मिले 'और जो नहीं चाहिये' वह मिल जाय। वह मानस दुःख है। मनुष्य, पशु-मृग, पक्षी, सरीसृप तथा वृक्षादि स्थावरों से उत्पन्न होने वाला दुःख आधिभौतिक तथा यक्ष, राक्षस, विनायक, ग्रह इत्यादि के दुष्प्रभाव से होने वाला दुःख "आधिदैविक" कहा गया है। माठर[3] गौड़पाद आदि ने शीत, उर्ष्ण, वर्षा, उल्कापात के कुप्रभाव से उत्पन्न दुःख को "आधिदैविक" कहा है। वाचस्पतिमिश्र[4] ने रजस्गुण के परिणाम विशेष को दुःख कहा है तथा अन्तःकरण में वर्तमान एवं अनिष्ट रूप में अनुभूयमान इस त्रिविध

---

१. सांख्यतत्त्वकौमुदी का० १

२. मानसं प्रिय वियोगादप्रियसंयोगात्। माठर०, गौड़पाद०

३. आधिदैविकं शीतोष्णवातवर्षाशन्यवश्यायविशनिमित्तम्।

माठर, गौड़पाद, युक्तिदीपिका

४. तदनेन प्रत्यात्मवेदनीयं दुःखं रजः परिणामभेदो न शक्यते प्रत्याख्यातुम्। तदनेन दुःखत्रयेणान्तः करणवर्तिना चेतनाशक्तेः प्रतिकूलतयाभि-सम्बन्धोऽभिघात इति। सां० त० कौ०

दु:ख के साथ चेतन पुरुष के असह्य सम्बन्ध को "अभिघात" कहा है। शिवनारायण शास्त्री[1] तथा कुछ आधुनिक व्याख्याकारों ने पुरुष का अन्तःकरण के साथ सम्बन्ध की व्याख्या उसके बुद्धि में प्रतिबिम्ब के रूप में की है। बलरामजी[2] उदासीन का कथन है कि दु:ख प्रध्वंश को मोक्ष कहना उचित नहीं अपितु दु:ख प्रध्वंश का अर्थ दु:ख की अतीत अवस्था ही समझना श्रेयस्कर हैं। डाँ० रामशंकर भट्टाचार्य[3] कहना चाहते हैं कि यहाँ दु:ख-कारक हेतुओं को तीन भागों में बाँटा गया है न कि दु:ख को।

टिप्पणी—दु:खत्रय का अर्थ त्रिविध दु:ख नहीं हो सकता। व्याख्याकारों ने जिन त्रिविध दु:खों की चर्चा की है, वे परमर्षि कपिल जैसे ज्ञानी के चिन्तन विषय नहीं बन सकते। कुछ योगियों तथा विशिष्ट साधकों पर भी इन दु:खों का प्रभाव नहीं पड़ता। वाचस्पतिमिश्र का कथन संगत नहीं है। चिद्रूप पुरुष का दु:ख के साथ सम्बन्ध जोड़कर आचार्यों ने सांख्य के साथ न्याय नहीं किया है। डाँ० रामशंकर भट्टाचार्य का सुझाव मान्य नहीं है।

लौकिक उपाय दु:खत्रय की पीड़ा की आत्यन्तिक निवृत्ति में असमर्थ हैं तो क्या वैदिक उपाय इस विषय में सक्षम है? या उससे भी कोई उत्कृष्ट उपाय है, जो इस विषय में समर्थ है। इसी आशय को अगली कारिका में कहा जा रहा है—

दृष्टवदानुश्रविकः स ह्यविशुद्धः[4] क्षयातिशययुक्तः।
तद्विपरीतः श्रेयान् व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानात् ॥२॥

अनुवाद—प्रत्यक्ष या लौकिक उपाय की तरह वैदिक उपाय भी हैं। क्षय तथा अतिशय से युक्त होने के कारण वह (उपाय) पूर्णतया शुद्ध नहीं है। अतएव उससे विपरीत जो व्यक्त, अव्यक्त तथा पुरुष के विशिष्ट ज्ञान से उत्पन्न (विशुद्ध ज्ञान रूप सांख्योक्त) उपाय ही श्रेयस्कर है।

व्याख्या—गुरुपदेश के अनन्तर सुने जाने के कारण वेद को "अनुश्रव" कहते हैं। "ऋषयो मंत्रद्रष्टारः" से ऋषि मंत्रों के द्रष्टा कहे जाते हैं

---

१ तथापि दु:खादिमत्या बुद्धेः सन्निधानात् पुरुषस्यात्मनः तत्र प्रतिबिंबतया बुद्धेरेव ....। सारबोधिनी

२. दु:खप्रध्वंसं पदेनात्र दु:खातीतावस्थायां एव तात्पर्य —विद्वत्तोषिणी

३. सां० त० कौ०ज्योतिष्मती पृ० १०

४. अविशुद्धि सां० त० कौ०, गौ०, जय०, यु०

कर्त्ता नहीं। इसीलिए वेद को श्रुति कहा जाता है। महाभारत, रामायण आदि ग्रंथ वेद नहीं कहे जा सकते क्योंकि व्यास, बाल्मीकि आदि मुनि इन ग्रंथों के रचयिता हैं। अनुश्रव से प्राप्त या ज्ञात होने वाला (उपाय) आनुश्रविक कहलाता है। यागादि कर्म कलाप वेद से पैदा नहीं होता किन्तु वेद से जाना जाता है। इस प्रकार यागादि रूप वैदिक उपाय भी लौकिक उपाय की तरह दुःखत्रय की सार्वकालिक निवृत्ति में सक्षम नहीं है। वैदिक उपाय पूर्णतया शुद्ध नहीं हैं क्योंकि उनसे प्राप्त स्वर्गीय फल क्षय तथा न्यूनाधिक्य दोष से युक्त है। यद्यपि वहाँ सुख की ही उपलब्धि होती हैं, परन्तु वह सुख नियत एवं स्थायी नहीं है। पुण्य के क्षीण होने पर स्वर्ग से च्युत होना पड़ता है। इसी प्रकार वह फल अतिशय से युक्त है। अतिशय का अर्थ है विशेष या उत्कृष्ट। ज्योतिष्टोम आदि यज्ञ केवल स्वर्ग के साधन हैं, जब कि बाजपेय आदि स्वर्गाधिपति होने के। यही एक की अपेक्षा दूसरे का अतिशय या आधिक्य है। वैदिक उपाय को अविशुद्ध क्यों कहा गया—यह विचारणीय विषय है। मूल शब्द शुद्ध है। विशुद्ध से तात्पर्य है जो पूर्णतया 'शुद्ध' हो अर्थात् शुद्धता की पराकाष्ठा (शुद्धतम)। अविशुद्ध का अर्थ है जो पूर्णतया शुद्ध न हो (शुद्धतर)। इस प्रकार अविशुद्ध की स्थिति शुद्ध और विशुद्ध के बीच की है, जिसे अशुद्ध कदापि नहीं कहा जा सकता, क्योंकि अशुद्ध का अर्थ हुआ 'जो शुद्ध न हो'। इस प्रकार अशुद्ध, शुद्ध, अविशुद्ध तथा विशुद्ध को हम अंग्रेजी के bad good, better तथा the b st से समझ सकते हैं। निष्कर्षतः यह दृढ़तापूर्वक कहा जा सकता है कि वैदिक क्रिया कलाप रूप उपाय किसी भी प्रकार अपवित्र नहीं कहे जा सकते। हाँ इतना अवश्य है कि उनसे दुःखत्रय की पीड़ा का सदा के लिए निवारण नहीं हो सकता। आरण्यक एवं उपनिषदों में भी यज्ञ यागादि रूप कर्मकाण्ड के फल को हेय बतलाते हुए आत्मज्ञान की महत्ता का प्रतिपादन किया गया है। अविशुद्ध पद उपायगत है तथा क्षय एवं अतिशय पद फलगत। तद्विपरीत का अर्थ है—वैदिक उपाय के विपरीत। वैदिक उपाय अविशुद्ध है। अतएव इसके विपरीत अर्थात् विशुद्ध (ज्ञानरूप) होगा। उस विशुद्ध ज्ञानरूप उपाय की उपलब्धि व्यक्त, अव्यक्त तथा ज्ञ के सम्यक् ज्ञान से होगी। व्यक्त का तात्पर्य है जगत् का ज्ञान, अव्यक्त का अर्थ है मानव शरीर धारण करने के प्रयोजन का ज्ञान, तथा ज्ञ या पुरुष का ज्ञान। प्रकृत कारिका में कैवल्य प्रापक रूप उपाय तथा स्वर्ग प्रापक उपाय की तुलना करके ज्ञान रूप उपाय को उत्कृष्ट बताया गया है।

विशेष—व्याख्याकारों ने अविशुद्ध[1] का अर्थ अशुद्ध किया है और इसे पशुहिंसा से युक्त सोमयाग, अग्निहोत्र, अश्वमेधयाग से सम्बद्ध माना है। इसी आधार पर डेविस ने सम्पूर्ण वैदिक साहित्य को अशुद्ध कहा है। स्वर्ग को सुख विशेष कहा गया है। कोई सूक्ष्म देश विशेष नहीं। जो न दुःख से मिश्रित हो, न भविष्य में ही दुःख से युक्त हो सकता हो तथा जो संकल्प मात्र से प्राप्त होता हो वही सुख स्वः अर्थात् स्वर्ग पद वाच्य है। आचार्य माठर ने अतिशय का अर्थ स्वामिभृत्यभाव किया है तथा गौड़पाद ने विशेष। डॉ० गंगानाथ झा ने इसका अनुवाद in equality, डेविस, लारसन तथा नन्दलाल सिनहा ने excess सी० के० रजा ने gradations सूर्यनारायण शास्त्री ने surpassability तथा आद्याप्रसाद ने न्यूनाधिक्य किया है। डॉ० रामशंकर भट्टाचार्य ने अतिशय शब्द को खूब रगड़ा है तथा इसका अर्थ "प्रकर्ष विशेष" किया है। आचार्य माठर ने विज्ञान का अर्थ अनुभव किया है जो विचारणीय है।

टिप्पणी—अविशुद्ध को अशुद्धरूप में समझना खेदजनक है। इस निर्वचन से वेद की प्रतिष्ठा को आघात पहुँचा है। ऐसा प्रतीत होता है कि या तो आचार्य माठर बौद्ध रहा है या तत्कालीन बौद्ध विचारों के दबाव में आकर उसने उक्त पद का ऐसा अनुवाद किया। व्याख्याकारों का ध्यान इस भूल की ओर क्यों नहीं गया—इसका कारण अज्ञात है।

पूर्वकारिका में व्यक्त, अव्यक्त और ज्ञ तत्त्वों के विशिष्ट ज्ञान से उत्पन्न विशुद्ध ज्ञान को दुःखत्रय की आत्यन्तिक निवृत्ति का उपाय कहा गया। प्रकृत कारिका में ईश्वरकृष्ण सांख्यशास्त्र के प्रमेयों का परिगणन करते हैं—

मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त।
षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः ॥३॥

अनुवाद—आदिकारण प्रकृति किसी का विकार या कार्य नहीं है। महदादि सात कारण और कार्य दोनों हैं। सोलह का समूह केवल कार्य है। पुरुष न तो कारण है न कार्य।

व्याख्या—सांख्य में प्रमेयों को चार कोटियों में रखा गया है। कोई केवल कारण रूप है, कोई कारण और कार्य दोनों है, कोई केवल कार्य रूप है और

---

१. अविशुद्धः पशुहिंसात्मकत्वात्। अतिशययुक्तः स्वामिभृत्यभावश्रवणात्। विज्ञानादनुभवात्—माठर

अविशुद्धिः सोमादियागस्य पशुवीजादिवधसाधनता। सां० त० कौ०

तत्राग्निहोत्रादौ पशुव्यापादनात् सोमपानादविशुद्धियुक्तः। जय०

कोई दोनों में से एक भी नहीं। प्रकृति महत् से लेकर पञ्चमहाभूतों तक का कारण है। वह किसी का कार्य नहीं है। इसीलिए प्रकृति के पहले 'मूल' पद प्रयुक्त हुआ है। महत् प्रकृति का विकार तथा अहंकार का कारण, अहंकार महत् का कार्य तथा एकादश इन्द्रियों एवं तन्मात्रों का कारण तथा तन्मात्र अहंकार का कार्य और पंचमहाभूतों का कारण हैं। इसलिए ये सात् प्रकृति विकृति कहे गये हैं। मन सहित ग्यारह इन्द्रियां तथा पञ्चमहाभूत ये सोलह केवल कार्य हैं। पुरुष न तो किसी का कारण है न किसी का कार्य। श्रुति[1] तथा गीता में भी प्रकृति को अनादि कहा गया है। महाभारत पुराण आदि ग्रन्थों में अष्ट प्रकृति का वर्णन है।

विशेष—व्याख्याकारों[2] ने प्रकृति को त्रिगुण की साम्यावस्था कहा है।

टिप्पणी—सांख्य शास्त्र में कारण-कार्य का सम्बन्ध अन्य शास्त्रों की तुलना में कुछ भिन्न है। यहां कारण कार्य की अपेक्षा सूक्ष्म है तथा कार्य कारण गुणों से युक्त है।

पूर्वकारिका में सांख्य गत पच्चीस प्रमेयों की चर्चा की गयी। इन प्रमेयों का ज्ञान जिन प्रमाणों से होता है, इसे कहते हैं—

दृष्टमनुमानमाप्त वचनं च सर्वप्रमाणसिद्धत्वात्।
त्रिविधं प्रमाणमिष्ट प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि ॥४॥

अनुवाद—प्रत्यक्ष, अनुमान तथा आप्त वचन से ही सभी प्रमाणभूत पदार्थों के सिद्ध हो जाने से सांख्य शास्त्र को तीन प्रकार के प्रमाण ही मान्य हैं। प्रमाण से प्रमेयों का ज्ञान होता है।

व्याख्या—जिसके द्वारा यथार्थ ज्ञान हो वही प्रमाण है। ज्ञेय विषयों को प्रमेय कहते हैं। कारिकागत 'सर्व' पद सांख्य के सभी पच्चीस प्रमेयों की ओर संकेत करता है। 'प्रमाण' पद सांख्य के त्रिविध प्रमाणों को बतलाता है। इस प्रकार सर्वप्रमाणसिद्धत्वात् का तात्पर्य यह है कि सांख्य के सभी प्रमेयों का ज्ञान इन्हीं तीन प्रकार के प्रमाणों से हो जाता है। मनुस्मृति में तीन ही प्रमाणों का उल्लेख हुआ है—

प्रत्यक्षं चानुमानं च शास्त्रं च विविधागमम्।
त्रयं सुविदितं कार्यं धर्मशुद्धिमभीप्सता ॥ मनु० १२/१०५

---

१. श्वे० उ० ४।५, गीता १३।१९

२. प्रधाने हि सत्वरजस्तमसामवस्थानात्। माठर, गौ० १६, ३७
प्रकृतिः प्रधानं सत्वरजस्तमसां साम्यावस्था। सां० त० कौ०

विशेष—व्याख्याकारों ने 'सर्वप्रमाण[1] सिद्धत्वात्' पद का अर्थ प्रत्यक्ष, अनुमान तथा शब्द प्रमाण में ही उपमान अर्थापत्ति, संभव, अभाव, प्रतिभा, ऐतिह्य प्रमाणों का अन्तर्भूत होना किया है। इसी अभिप्राय[2] की अभिव्यक्ति सांख्यसूत्र में भी हुई है। डॉ० रा० शं० भट्टाचार्य[3] कहते हैं कि कारिकाकार के कथन से यह ज्ञात होता है कि उपमानादि प्रमाण प्रमेयों की सिद्धि करते हैं-- यह वे भी मानते हैं पर ये प्रमाण असंकीर्ण प्रमाण नहीं हैं।

टिप्पणी—सांख्य किसी विशिष्ट संप्रदाय का द्योतक नहीं हैं। उसका केवल यही कहना है कि 'ज्ञान' से कैवल्य की प्राप्ति होती है, जो एक सर्व-मान्य सिद्धान्त है। ईश्वरकृष्ण ने कहीं भी अन्य दर्शनों का उल्लेख तक नहीं किया है, जिन्होंने गुरु-शिष्य परम्परा से चले आ रहे सांख्य ज्ञान को प्रथमतः शास्त्र निबद्ध किया। निष्पक्ष रूप से देखा जाय तो अन्य प्रमाणों की चर्चा यहाँ अनावश्यक प्रतीत होती है।

इन प्रमाणों का स्वरूप क्या है ? इसे कहते हैं—

प्रतिविषयाध्यवसायो दृष्टं त्रिविधमनुमानमाख्यातम्।
तल्लिङ्गलिङ्गिपूर्वकमाप्तश्रुतिराप्तवचनं तु[4] ॥५॥

अनुवाद—प्रत्येक इंद्रिय का अपने-अपने विषय में अध्यवसाय (निश्चय) ही प्रत्यक्ष प्रमाण है। अनुमान तीन प्रकार का कहा गया है, वह हेतु और हेतुमान से युक्त होता है। आप्त श्रुति ही आप्तवचन या शब्द प्रमाण है।

व्याख्या—चक्षु आदि ज्ञानेन्द्रियों का रूपादि, अपने-अपने निर्धारित्त विषयों में व्यापार करना अर्थात् देखना, सुनना आदि प्रत्यक्ष प्रमाण कहा जाता है। लिङ्ग का अर्थ है ज्ञापक चिह्न तथा लिङ्गि से तात्पर्य है ज्ञापक चिह्न हो जिसका। अनुमान लिंग और लिंगि के ज्ञान पर आश्रित होता है। अनुमान तीन प्रकार का होता है—पूर्ववत्, शेषवत् और सामान्यतोदृष्ट।

---

१. सर्वाणिहि प्रमाणानि प्रमाणत्रयेऽविरुद्धानि। माठर
सर्वेषांप्रतिभादीनाम् प्रमाणानाम्. सिद्धत्वात्, त्रिविधएवान्तर्भावदित्यर्थः। जय०
ऐष्वेत्र दृष्टामनुमानाप्तवचनेषु सर्वेषां प्रमाणानाम् सिद्धत्वात् —
अन्तर्भावादित्यर्थः। सां० त० कौ०
सर्वै प्रमाणैः प्रमातृभिः पतञ्जलि प्रभृतिभिः सिद्धत्वात्।
.......उपमानादिकं तु न सर्वं प्रमाणसिद्धमिति। सां० चन्द्रिका

२. सां० सूत्र १।८८

३. सां० त० कौ० ज्योतिष्मती पृ० ४२

४. च जय०

जिसका पूर्व दृष्ट हो उसे पूर्ववत् अनुमान कहते हैं। जैसे—मेघ को देखकर वर्षा का अनुमान। शेषवत् अनुमान उसे कहते हैं, जो शेष के साथ हो। जैसे—समुद्र से थोड़ा-सा जल लेकर देखा तो खारा था—इससे अनुमान हो गया कि शेष जल खारा होगा। सामान्यतोदृष्ट अनुमान उसे कहते हैं जिसमें समान रूप से सर्वत्र एक समान पायी जाने वाली वस्तुओं में एक वस्तु को किसी एक स्थान पर विकृत देखकर उसी तरह की सभी अन्य वस्तुओं में वैसा ही अनुमान किया जाता है। जैसे—आम के एक वृक्ष में बौर आया देखकर सामान्यतः सोच लिया जाता है कि समय आ गया, अतः सभी आमों में बौर आ गया होगा। श्रुति[1] का अर्थ है जो श्रवण परम्परा पर आधारित हो—जो गुरुमुख से सुना जाय। इस प्रकार रामायण, महाभारत आदि ग्रंथ भी श्रुति कहे जा सकते हैं क्योंकि वे भी श्रूयमाण हैं। इसके निराकरण के लिए कारिकाकार ने श्रुति के पूर्व आप्त पद रखा है, जिसका अर्थ जो दृष्ट हो। ऋषियों मंत्रद्रष्टारः से ऋषि ही उसके अधिकारी हैं। इस प्रकार ऋषियों द्वारा दृष्ट सत्यों के साक्षात्कार के उद्‌गार स्वरूप जो श्रुति या वेद है, वही शब्द प्रमाण है। किसी आचार्य या व्यक्ति विशेष का कथन प्रमाण नहीं है। 'तु' शब्द निश्चय अर्थ का बोधक है जो इस आशय पर बल देता है कि स्मृति नहीं श्रुति ही शब्द प्रमाण है। महाभारत आदि स्मृतियाँ व्यासादि मुनियों की कृतियाँ है, जबकि वेद अपौरुषेय हैं।

विशेष—वाचस्पति मिश्र का मन्तब्य है कि जो विषयों में प्रवृत्त होता है वह "प्रतिविषय" अर्थात् इन्द्रिय कहलाता है। अध्यवसाय बुद्धि का व्यापार रूप ज्ञान है। वस्तुतः सन्निहित विषयों वाली इन्द्रियों का (उन ।वषयों के साथ) सन्निकर्ष होने पर बुद्धि गत तमस्‌गुण के अभिभव होने के साथ-साथ सत्वगुण का जो स्फुरण होता है। उसी को अध्यवसाय, वृत्ति या ज्ञान कहा जाता है। यही वृत्ति या ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण है। नारायणतीर्थ[2] ने प्रति-विषय 'अध्यवसाय' इस समस्त पद का अर्थ इंद्रिय किया है। बलराम जी उदासीन कृत अध्यवसाय की परिभाषा इस प्रकार है योऽयं बुद्धितत्त्वस्य परिणामः स एव अध्यवसाय इति वृत्तिरिति ज्ञानमिति प्रमाणमिति चाभि-

---

१. श्रुतिः स्त्री वेद आम्नायः। अमरकोश

२. प्रतिविषयो नियत विषयोंऽध्यवसीयते निश्चीयतेऽनेनोति प्रति विषयाध्यवसाय इन्द्रियम्। सां० चन्द्रिका

धीयते। डा० रामशंकर भट्टाचार्य[1] के अनुसार विषय के प्रति अभिमुख अध्यवसाय दृष्ट प्रमाण है। आचार्य माठर ने लिंग से लिंगी का अनुमान कहा है। सुवर्ण सप्तति शास्त्र में अनुमान को लिंग-लिंगि से संयुक्त कहा गया है। गौड़पाद तथा जयमंगलाकार ने लिंगपूर्वक तथा लिंगिपूर्वक दो रूपों में अनुमान को समझा है। जयमंगलाकार[2] ने पूर्ववत् शेषवत् और सामान्यतोदृष्ट अनुमानों को सांख्य-सम्मत सिद्ध करने के लिए षष्टितंत्र की दुहाई दी है। वाचस्पतिमिश्र[3] ने लिंग का व्याप्य तथा लिंगि का व्यापक अर्थ किया है। लिंग और लिंगि के पक्षधर्मता ज्ञान से उत्पन्न ज्ञान को अनुमान प्रमाण कहा है। उन्होंने अनुमान को बीत तथा अबीत दो भागों में विभक्त किया है। नारायण तीर्थ ने त्रिविध अनुमानों की स्पष्ट परिभाषा दी है—जहाँ कारण से कार्य का अनुमान हो वहाँ पूर्ववत्, जहाँ कार्य से कारण का अनुमान हो वहाँ शेषवत् तथा जहाँ कारण कार्य से भिन्न लिंग से अनुमान हो वहाँ सामान्यतोदृष्ट अनुमान होता है। आचार्य माठर[4] तथा गौड़पाद ने ब्रह्मादि-आचार्यों को आप्तपुरुष कहा है। जयमंगलाकार ने आप्तपुरुष का लक्षण बतलाया है। वाचस्पतिमिश्र ने आप्त का अर्थ प्राप्त या युक्त तथा श्रुति का अर्थ वाक्यजनित वाक्यार्थ ज्ञान किया है। नारायण तीर्थ[5] का कहना है कि सेश्वर सांख्य में ईश्वर ही आप्तपुरुष है।

टिप्पणी—वाचस्पनिमिश्र ने जो विषय बोध की प्रक्रिया कही है वह सांख्य सम्मत नहीं है। कारिकाकार को अनुमान के कौन-कौन से तीन रूप अभिमत थे—यह नहीं ज्ञात हो सका। श्रुति ही आप्तवचन या शब्द प्रमाण है स्मृति नहीं।

प्रमाणों का स्वरूप निर्धारण करने के बाद किस प्रमेय का ज्ञान किस प्रमाण से होता है इसे कहते हैं—

सामान्यतस्तु दृष्टादतीन्द्रियाणां प्रतीतिरनुमानात्[6] ।
तस्मादपि चासिद्धं परोक्षमाप्तागमात् सिद्धम्[7] ॥६॥

---

१. सां० त० कौ० ज्योतिष्मती पृ० ५५

२. षष्टितंत्रे व्याख्यातम्, पूर्ववत्, शेषवत् सामान्योदृष्टमिति । जय०

३. तद्व्याप्य व्यापकभावपक्षधर्मताज्ञानपूर्वकमनुमानयिति । सां० त० कौ०

४. आप्ता ब्रह्मादय आचार्याः । माठर, गौ०

५. सेश्वरसांख्यमते ईश्वर एवाप्तः । सांख्य चंद्रिका

६. प्रसिद्धिरनुमानात्—युक्तिदीपिका

७. साध्यम्, माठर

अनुवाद—सर्व साधारण पदार्थों का ज्ञान प्रत्यक्ष से, अतीन्द्रिय पदार्थों का ज्ञान अनुमान से तथा उससे भी असिद्ध जो परोक्ष पदार्थ है, वह आगम प्रमाण से सिद्ध होता है।

व्याख्या—सामान्यतस्तु का अर्थ है जिन पदार्थों का ज्ञान सरलता से होता है अर्थात् जो इन्द्रिय गोचर हैं। इस श्रेणी में पृथिव्यादि पंचमहाभूत आ सकते हैं। इस प्रकार पृथिव्यादि पंचमहाभूतों का ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण से होता है। प्रकृति से लेकर शब्दादि पंचतन्मात्र तक सभी प्रमेय अतीन्द्रिय हैं। अतएव इनका ज्ञान अनुमान प्रमाण से होता है। अब वह प्रमेय क्या है जो परोक्ष है तथा अनुमान से भी अगम्य है—विचारणीय है। निश्चय ही इस कोटि में पुरुष आ सकता है।[1] इस प्रकार सांख्य के सभी पच्चीस प्रमेयों का ज्ञान सांख्य-सम्मत त्रिविध प्रमाणों से होता है।

विशेष—आचार्य माठर, वाचस्पतिमिश्र आदि व्याख्याकारों[2] ने सामान्यतस्तु दृष्टात् से सामान्यतोदृष्ट अनुमान अर्थ लिया है तथा अतीन्द्रियाणाम् पद का अर्थ पुरुष प्रकृति किया है। नारायण तीर्थ[3] ने इसका विशेष अर्थ किया है। वंशीधर मिश्र ने वाचस्पति मिश्र कृत 'आदि' पद का अर्थ पुरुष-प्रकृति संयोग किया है। सी०के०रजा[4] ने नारायण तीर्थ की व्याख्या को संगत माना है। व्याख्याकारों[5] ने स्वर्ग, अपवर्ग, उत्तर, कुरु, यागकीस्वर्गसाधनता महदादि का आरम्भ, अपूर्व आदि को शब्द प्रमाण का विषय कहा है।

---

१. इन्द्रियेभ्यः पराह्यर्था अर्थेभ्यश्च परंमनः
मनसस्तु परां बुद्धिः बुद्धेरात्मा महान् परः।
महतः परमव्यक्तमव्यक्तात् पुरुषः परः
पुरुषान्न परकिञ्चित्साकाष्ठा सा परागतिः। क० उ० १।३।१०, ११

२. अत्र प्रधानपुरुषावतीन्द्रियौ तयोः सामान्यतोदृष्टादनुमानात्सिद्धिः। माठर, गौ०
सामान्यतोदृष्टादनुमानादतीन्द्रियाणां प्रधानपुरुषादीनाम् प्रतीतिः। सां०त०कौ०

३. तथा चेन्द्रिययोग्यस्य सर्वस्याऽपेक्षितस्याऽनपेक्षितस्य च दृष्टात् प्रत्यक्षादेवसिद्धिः
सांख्यचन्द्रिका

४. Generally the cognition is through perception P.60-C.K. Raja

५. यथा स्वर्गेऽप्सरसः सन्तिनन्दनं वनं विमानेऽधिवासः। माठर
यथेन्द्रो देवराजः उत्तराः कुरवः स्वर्गेऽप्सरस इति—गौ०
यथा स्वर्गापवर्गदेवतादिः युक्तिदीपिका, जय०
महदाद्यारम्भक्रमे स्वर्गापूर्वं देवतादौ। सां० त० कौ०

आचार्य पं० आद्याप्रसाद मिश्र[1] का मत है कि सर्व सामान्य वस्तुओं का ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण से, प्रकृति तथा पुरुष जैसे अतीन्द्रिय पदार्थों का ज्ञान अनुमान से तथा अतीन्द्रिय कैवल्य का ज्ञान आगम प्रमाण से होता है।

टिप्पणी—कारिका में सामान्यतोदृष्ट पद नहीं है। पुरुष की सत्ता अनुमान प्रमाण से सिद्ध नहीं हो सकती। स्वर्ग, अपवर्ग देवतादि सांख्यीय प्रमेय नहीं हैं।

प्रमेयों का ज्ञान प्रमाणों से होता है, परन्तु कभी-कभी विद्यमान वस्तुओं की भी उपलब्धि नहीं होती। वह किन-किन कारणों से नहीं होती—उनका परिगणन करते हैं—

अतिदूरात् सामीप्याद् इन्द्रियघातान्मनोऽनवस्थानात्।
सौक्ष्म्याद् व्यवधानाद् अभिभवात् समानाभिहाराच्च ॥७॥

अनुवाद—अत्यन्त दूर होने से, अत्यन्त समीप होने से, इन्द्रियों के अक्षम होने से, चित्त की अस्थिरता से, सूक्ष्म होने से, व्यवधान से, किसी उत्कृष्ट वस्तु द्वारा अभिभूत होने से, समान जातीय मिश्रण से विद्यमान पदार्थों की भी उपलब्धि नहीं होती।

व्याख्या—कारिका में विद्यमान वस्तुओं की अनुपलब्धि में आठ हेतुओं को बतलाया गया है। प्रथम है–'अतिदूरात्' जैसे–आकाश में उड़ता हुआ पक्षी अत्यधिक दूर होने के कारण नहीं दीखता। द्वितीय–'सामीप्यात्' अत्यधिक समीप की वस्तु भी कभी-कभी नहीं दिखाई देती। जैसे-आँख में लगा अंजन। तृतीय है–'इन्द्रियघातात्' इन्द्रियों के स्वकार्य में अक्षम होने से, यथा अंधे देख नहीं सकते। चतुर्थ है–'मनोऽस्थानात्' चित्त की अस्थिरता से समीप पड़ी हुई वस्तु दृष्टिगोचर नहीं होती। पंचम–'सौक्ष्म्यात्' परमाणु प्रकृति आदि सूक्ष्म होने से प्रत्यक्ष के विषय नहीं बनते। षष्टम्–'व्यवधानात्' दीवार की आड़ में छिपी हुई वस्तु दिखाई नहीं देती। सप्तम्–अभिभवात्—सूर्य के तेज से परिभूत चन्द्र, नक्षत्र आदि दिन में दिखाई नहीं देते। अष्टम एवं अन्तिम हेतु है—'समानाभिहाराच्च, जैसे—सरोवर में बादलों से गिरे हुए जल विन्दुओं को कोई देख नहीं पाता।

विशेष—डॉ० दासगुप्त[2] प्रकृत कारिका का सांख्य से प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं स्वीकार करना चाहते।

---

१. सां० त० कौ० प्रभा—पृ० ३८
२. This however is not a doctrine concerned with the strictly technical part of Samkhya. H. I. P. Vo I P. 219

टिप्पणी—कारिकाकार ने विद्यमान पदार्थों की अनुपलब्धि में जिन आठ हेतुओं का निरुपण किया है, वे सर्वव्यापक हैं। वे किसी विशिष्ट विचार-धारा के अंग नहीं हैं। आधुनिक विज्ञान के संदर्भ में इन हेतुओं का सूक्ष्म ज्ञान अनुसंधेय है।

पूर्व कारिका में विद्यमान वस्तु की अनुपलब्धि में आठ कारणों का उल्लेख किया गया। अब प्रकृति की अनुपलब्धि में कौन-सा कारण है तथा उसकी उपलब्धि कैसे होती है, उसे कहते हैं—

सौक्ष्म्यात्तदनुपलब्धिर्नाभावात् कार्यतस्तदुपलब्धेः[१]।
महदादि तच्च कार्यं प्रकृतिसरूप[२] विरूपं च ।।८।।

अनुवाद—सूक्ष्म होने के कारण प्रकृति का प्रत्यक्ष नहीं होता, अभाव के कारण नहीं। कार्य से उसकी सत्ता सिद्ध होती है। वे कार्य महदादि हैं, जो प्रकृति के सरूप तथा विरूप हैं।

व्याख्या—महत्, अहंकार, मन सहित एकादशेन्द्रियां, पञ्चतन्मात्र तथा पञ्चमहाभूत—ये प्रकृति के कार्य हैं। प्रकृति अतीन्द्रिय है। महत् से लेकर पञ्चतन्मात्र तक अठारह कार्य भी अतीन्द्रिय हैं। इसलिए ये कार्य प्रकृति के सरूप हैं। पञ्चमहाभूत स्थूल विशेष हैं, इंद्रिय गम्य हैं। अतएव वे प्रकृति के विरूप कार्य हैं। इन्हीं कार्यों से प्रकृति की सत्ता का बोध होता है। इस प्रकार सांख्य में कारण-कार्य की अपेक्षा सूक्ष्म है। अर्थात् कार्य कारण का स्थूल रूप है।

विशेष—आचार्य माठर[३] तथा गौड़पाद ने बिरूप एवं सरूप पद की व्याख्या में पिता-पुत्र का दृष्टान्त दिया है। वाचस्पति मिश्र ने कारिका की व्याख्या में अरूचि दिखाई है। नारायणतीर्थ ने महत्, अहंकार, पञ्च-तन्मात्रों को सरूप तथा एकादशेन्द्रिय सहित पञ्चमहाभूतों को विरूप कार्य कहा है। व्रजमोहन चतुर्वेदी[४] कहते हैं कि प्रकृति के परिणामों में गुणपरि-णाम एक है। प्रकृति में सत्व रजस् और तमस् तीन गुण हैं, जिनका स्वभाव

१. तदुपलब्धिः—माठर० गौ०, युक्तिदीपिका
२. विरुपं सरुपं च—माठर० गौड़पाद०
३. विरुपं सरुपं च। प्रधानाद्विसदृशं सदृशं चेत्यर्थः। यथा लोके पुत्रः पितुः सदृशो विसदृशः स्यात्। माठर० गौ०
४. सांख्यकारिका (बसुमतिव्याख्या) पृ० ११२

सुख दुःख एवं मोहात्मक है। महदादि में ये गुण तो विद्यमान हैं ही अध्यवसाय, अभिमान तथा संकल्प आदि के गुण भी जो मूल प्रकृति में उपलब्ध नहीं होते, इनमें पाये जाते हैं। समान गुण का होना ही इनकी प्रकृति से सरूपता तथा विसदृश् होना ही विरूपता है। गजानन शास्त्री मुसलगांवकर[1] तथा आद्याप्रसाद मिश्र ने 'तद्' पद का अर्थ प्रकृति एवं पुरुष किया है।

टिप्पणी—प्रकृत कारिका प्रकृति की सत्ता का निश्चय करती है। पुरुष तत्त्व की यहां चर्चा अनावश्यक है। वाचस्पति मिश्र की अरूचि शोच्य है। व्रजमोहन चतुर्वेदी का विचार युक्ति संगत नहीं है।

प्रकृति की सत्ता उसके महदादि तेइस कार्यों से सिद्ध होती है, जो सत् हैं—त्रिकालबाधित है[1]। उनका सत् होना किन हेतुओं से सिद्ध है, उन्हें कहते हैं—

असदकरणादुपादानग्रहणात् सर्वसंभवाभात्।
शक्तस्य शक्यकरणात् कारणमावाच्च सत् कार्यम् ॥८॥

अनुवाद—अविद्यमान के न होने से, उपादान के ग्रहण से, सर्वकारणों से सब कार्यों के न होने से शक्त में शक्य के होने से, कारण का अभाव न होने से कार्य सत् है।

व्याख्या—सत्कार्य में दो शब्द हैं—सत् और कार्य। सत् का अर्थ है—जो विद्यमान हो तथा कार्य तात्पर्य है—महदादि तेइस कार्य। कारिकाकार ने पाँच हेतुओं द्वारा सिद्ध किया है कि महदादि तेइस कार्य सदा विद्यमान हैं, न इनकी उत्पत्ति होती और न विनाश।

प्रथम हेतु है—असदकरणात् यदि महदादि कार्य सत् नहीं हैं तो उन्हें किसी प्रकार अस्तित्व में नहीं लाया जा सकता। जो है वह हमेशा रहेगा और जो नहीं है वह कभी नहीं हो सकता। महदादि कार्यों की उपलब्धि होती है। अतएव वे सत् हैं। द्वितीय हेतु है—उपादानग्रहणात्—उपादान का अर्थ है मूलकारण प्रकृति, ग्रहणात् से तात्पर्य है—सत्ता का सिद्ध होना। इन्हीं महदादि कार्यों से प्रकृति की सत्ता का बोध होता है। यदि ये सत् नहीं रहते तो प्रकृति की सत्ता का बोध कैसे होता? तृतीय हेतु है—सर्वसंभावाभावात्—महदादि कार्य अपने विशिष्ट कारण के विकार या कार्य हैं। महत् प्रकृति का, अहंकार महत् का एकादशेन्द्रियाँ तथा पंचतन्मात्र अहंकार

---

१. सां० त० कौ० प्रभा पृ० १३९, तत्त्वप्रकाशिका पृ० ८४

का तथा पंचमहाभूत पंचतन्मात्रों के विकार या कार्य हैं। चतुर्थ हेतु है— शक्तस्यशक्यकरणात् – प्रत्येक कार्य की निश्चित सामर्थ्य या क्षमता है। महत् का अध्यवसाय, अहंकार का अभिमान, मन का संकल्प, दशेन्द्रियों का विषयी होना तन्मात्रों का विषय रूप होना तथा पंचमहाभूतों का शान्त, घोर तथा मूढ़ होना सामर्थ्य या कार्य क्षमता है। अन्तिम हेतु है— कारणभावात् –कारण प्रकृति है। उसका भाव होना अर्थात् उसके अस्तित्व की उपलब्धि होना। महदादि कार्य सत् इसलिए भी हैं क्योंकि इनके कारण का अभाव नहीं है। प्रकृति भावरूप है।

विशेष—व्याख्याकारों ने प्रथम हेतु की व्याख्या इस प्रकार की है—जो असत् है, उसे उत्पन्न नहीं किया जा सकता। जैसे—सिकता से तेल, खपुष्पादि। वाचस्पति मिश्र का कथन है कि यदि कारण व्यापार के पूर्व कार्य असत् होता तो उसे कोई भी सत् नहीं बना सकता। नीला रंग हजारों कुशल-कारीगरों से भी पीला नहीं बनाया जा सकता।[2] द्वितीय हेतु—'उपादान-ग्रहणात्' का अर्थ व्याख्याकारों के अनुसार यह है कि[3] जिसे जिस कार्य की आवश्यकता होती है, वह उसके उपादान कारण को ग्रहण करता है। जैसे—दही चाहने वाला दूध को ही ग्रहण करेगा जल को नहीं। वाचस्पति मिश्र[4] का कहना है कि कार्य के साथ घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध कारण ही कार्य को उत्पन्न करता है। तृतीय हेतु—'सर्वसम्भवाभावात्' का अर्थ व्याख्याकारों ने इस प्रकार किया है—सबकी सर्वत्र उत्पत्ति सम्भव नहीं। सभी कार्य सभी उपादान कारणों से उत्पन्न नहीं होते। वाचस्पति मिश्र का कहना है कि असम्बद्ध कार्य असम्बद्ध कारण से नहीं उत्पन्न हो सकता अपितु सम्बद्ध कार्य ही सम्बद्ध कारण से उत्पन्न होता है। चतुर्थ हेतु–'शक्तस्य शक्यकरणात्' का अर्थ माठर तथा गौड़पाद के अनुसार यह है कि जो कारण जिस कार्य को उत्पन्न कर सकता है, उस कारण से वही कार्य उत्पन्न हो सकता है। कुम्हार

---

१. इहलोके सदेव सद्भवति। असतः करणं नास्ति। यदिस्यात्तदा सिकताभ्यस्तैलं, कुर्मरोमम्यः शशविषाणं, खपुष्पं च स्यात्—माठर०

२. असत् चेत् कारणव्यापारात् पूर्वं कार्यं, नास्यं सत्वं कर्तुम् केनापि शक्यम्। नहि नीलं शिल्पि सहस्रेणापि पीतं कर्तुं शक्यते। सां० त० कौ०

३. इहलोके यो येनार्थी स तदुपादनग्रहणं करोति। तद्यथा दध्यर्थी क्षीरस्यो पादानं कुरुते। माठर० गौ०

४. कार्येण सम्बद्धं कारणं कार्यस्य जनकम्। सां० त० कौ०

समर्थ है —'मिट्टी, दण्ड, चीवर, रस्सी, जल आदि के द्वारा घड़ा बनाने में।' वाचस्पति मिश्र के अनुसार जो कारण जिस कार्य की उत्पत्ति में शक्त या समर्थ है, उस कारण में उसी शक्य या उत्पाद्यकार्य के उत्पन्न होने से कारण और कार्य परस्पर असम्बद्ध नहीं हो सकते। अन्तिम हेतु 'कारणभावात्'[1] में 'भाव' का अर्थ व्याख्याकारों ने 'स्वभाव' किया है। उनकी दृष्टि में कारण का जो स्वभाव होता है, कार्य का भी वही स्वभाव होता है। व्याख्याकारों ने इस सम्बन्ध में जौ, धान, कोदो, तिल, तेल आदि लौकिक दृष्टांतों को उपस्थित किया है। आचार्य माठर तथा गौड़पाद ने[2] व्याख्या के अन्त में इस बात पर बल दिया है कि इस प्रकार पाँच हेतुओं से यह सिद्ध होता है कि महदादि उत्पत्ति के पूर्व प्रकृति में विद्यमान रहते हैं। कारिका की व्याख्या के पूर्व आचार्यों ने अन्य दर्शनों में वर्णित कारण में कार्य सम्बन्ध की समीक्षा की है। सत्कार्य का अर्थ आचार्यों ने उत्पत्ति के पूर्व कार्य का कारण में सत् होना किया है।

टिप्पणी—प्रकृत कारिका का विषयवस्तु मात्र महदादि तेइस कार्यों को सत् सिद्ध करना है, जिस ओर व्याख्याकारों का तनिक भी ध्यान नहीं रहा है। सत्कार्य का अर्थ उत्पत्ति के पूर्व कार्य का कारण में सत् होना कथमपि संगत नहीं कहा जा सकता। वाचस्पति मिश्र ने कारिका के विषयवस्तु को स्पर्श तक नहीं किया है।

अब व्यक्त तथा अव्यक्त के सम्बन्ध में कहते हैं—

हेतुमदनित्यमव्यापि सक्रियमनेकमाश्रितं लिङ्गम्।
सावयवं परतन्त्रं व्यक्तं विपरीतमव्यक्तम् ॥१०॥

अनुवाद—व्यक्त कारण से उत्पन्न होता है। अतएव वह अनित्य, अव्यापि, सक्रिय, अनेक, आश्रित, लिंग, अवयवयुक्त तथा परतन्त्र है। अव्यक्त इसके विपरीत अर्थात् अहेतुमत् है।

व्याख्या—पूर्व कारिका में ईश्वरकृष्ण ने पाँच सबल हेतुओं के आधार पर यह सिद्ध किया कि महदादि तेइस कार्य सत् हैं। व्यक्त क्या है—यह विचारणीय है। सृष्टि रूप में महदादि सदैव व्यक्त के रूप में ही

---

१. इहलोके यल्लक्षणं कारणं तल्लक्षणं कार्यम् स्यात् नहि कारणाद्भिन्नं कार्यम्।
सां० त० कौ०

२. तस्मात्कारणभावादपि पश्यामः प्रधाने महदादि कार्यमस्तीति।
साधितमेवमेतैः पञ्चहेतुभिः सत्कार्यम्। माठर०, गौ०

अन्वित किये जाते हैं। इस प्रकार महदादि कार्यों की विभिन्न शरीरों में अभिव्यक्ति ही व्यक्त है। प्रत्येक जीवात्मा का शरीर महदादि का समष्टि रूप ही है। इस प्रकार व्यक्त को जगत् रूप में अभिव्यक्त किया जा सकता है। व्यक्त हेतुमत् होता है। प्रत्येक जीवात्मा का नया शरीर उसके पूर्व जन्म के संस्कारों का परिणाम हुआ करता है। इसलिए व्यक्त हेतुमत् होता है। जो कारण से उत्पन्न होगा वह विनाशी होगा। इसलिए व्यक्त को अनित्य कहा गया है। शरीर के विनाश होने पर जीवात्मा की वृत्तियों का भी नाश हो जाता है। जिस शरीर को प्राणी धारण किये रहता है व्यक्त उसी के परिधि तक सीमित रहते हैं। प्रत्येक शरीर में व्यक्त सतत क्रियाशील रहते हैं। जीवात्मा अनेक हैं। अतएव महदादि कार्यों की वृत्तियाँ भी अनेक हैं। व्यक्त शरीर के आश्रित ही व्यापार करता है। व्यक्त, अव्यक्त की सत्ता में हेतु है इसलिए उसे लिंग कहा गया है। व्यक्त भिन्न-भिन्न शरीर में भिन्न-भिन्न होने के कारण अवयव से युक्त है। व्यक्त जीवात्मा के स्वभाव के अनुरूप होता है। इसलिए उसे परतंत्र कहा गया है। 'विपरीत' पद हेतुमद् को लक्ष्य करके कहा गया है। अव्यक्त हेतुमत् के विपरीत अहेतुमत् है अर्थात् अव्यक्त का कोई कारण नहीं है, जो उसे उत्पन्न कर सके। कारिका में हेतुमत् व्यक्त की उपलब्धि की व्याख्या करता है तथा अनित्यादि व्यक्त के लक्षण कहे गये हैं।

विशेष—व्याख्याकारों की दृष्टि में इस कारिका का आशय यह है कि व्यक्त हेतुमत्, अनित्य, अव्यापि, सक्रिय, अनेक, आश्रित लिंग अवयव से युक्त परतंत्र है तथा अव्यक्त इसके विपरीत अहेतुमत्, नित्य, व्यापि, निष्क्रिय, एक, अनाश्रित अलिंग, निरवयव एवं स्वतंत्र है। आचार्य माठर[1] एवं गौड़पाद ने अव्यापि का अर्थ असर्वगत तथा जयमंगलाकार ने[2] प्रादेशिक किया है। सक्रिय पद का अर्थ महदादि का सूक्ष्म[3] शरीर के आश्रित संसरण रूप में किया गया है। अनेक का[4] अर्थ माठर, गौड़पाद तथा जयमंगलाकार महदादि इस कार्य रूप किया है। वाचस्पतिमिश्र ने प्रति पुरुष भिन्न तथा नारायणतीर्थ ने सर्ग भेद से भिन्न रूप वाला किया है। आश्रित का

---

१. अव्यापि असर्वगतम। माठर० गौ०

२. अव्यापि व्यक्तं प्रादेशिकमित्यर्थः। जय०

३. यस्मात्संसरणकाले महदादि कार्यं सूक्ष्मशरीरमाश्रित्य संसरति तस्मात्सक्रियम्। माठर०

४. बहुविधं त्रयोविंशति प्रकारकम्–माठर०

अर्थ यह किया गया है कि जो जिससे उत्पन्न होता है वह उसके आश्रित रहता है। लिंग का अर्थ माठर, गौड़पाद आदि ने लय युक्त, वाचस्पति ने प्रधान के अनुमान में हेतु तथा नारायणतीर्थ ने ज्ञापक चिह्न किया है। वाचस्पतिमिश्र[1] का कहना है कि प्रधान पुरुष के अनुमान में लिंग बनता है। आचार्य माठर[2], गौड़पाद, जयमंगलाकार ने शब्द, रूप, रस, स्पर्श, गंध को अवयव कहा है। वाचस्पतिमिश्र ने पृथिव्यादि से संयुक्त होना तथा नारायणतीर्थ ने गुण अर्थ किया है। परतंत्र का अर्थ अपने कारण के अधीन होना किया गया है। आचार्य माठर[3] ने सबका कारण होने से प्रकृति को स्वतंत्र कहा है। नन्दलाल सिनहा ने परतंत्र का Subordinate तथा स्वतंत्र का Supreme अनुवाद किया है।

टिप्पणी—व्याख्याकारों ने 'विपरीतम्' पद के स्वारस्य को नहीं समझा है। अनित्यादि पद हेतुमत् के आश्रित हैं। प्रकृति को किसी प्रकार भी निष्क्रिय नहीं कहा जा सकता। व्याख्याकारों ने प्रकृति को जिस रूप में स्वतंत्र कहा है, उससे सांख्य दर्शन में अनेक भ्रान्तियाँ उत्पन्न हो गयी हैं। वाचस्पतिमिश्र का यह कथन नितान्त असंगत है कि प्रधान पुरुष की सत्ता में लिंग बनता है।

पूर्वकारिका में व्यक्त और अव्यक्त के परस्पर वैधर्म्य का प्रतिपादन किया गया। अब व्यक्त प्रधान का स्वरूप क्या है? कौन इनके अनुरूप हैं? तथा कौन इनके विपरीत है, कहते हैं—

त्रिगुणमविवेकिविषयः सामान्यमचेतनं प्रसवधर्मि ।
व्यक्तं तथा प्रधानं तद्विपरीतस्तथा च पुमान् ।।११।।

अनुवाद—व्यक्त तथा प्रधान दोनों त्रिगुणात्मक है। इसलिए अविवेकि, विषय, सामान्य, अचेतन तथा प्रसवधर्मि हैं। वह त्रिगुण के विपरीत है तथा पुमान् उसके अनुरूप।

व्याख्या—त्रिगुण व्यक्त तथा प्रधान का स्वरूप है, अविवेक्यादि धर्म हैं। अविवेकि से तात्पर्य है सम्पृक्त अर्थात् जिसका पृथक् रूप में विवेचन न हो सके। विषय का अर्थ है जो गृहीत हो, सामान्य का अर्थ है सर्व साधारण। व्यक्त तथा प्रधान सर्वसाधारण द्वारा गृहीत हैं क्योंकि सभी प्राणियों की प्रवृत्ति

१. प्रधानं तु न प्रधानस्य लिङ्गम् पुरुषस्य लिङ्गम्, भवदपीति भावः। सां० कौ०
२. शब्दस्पर्शरसरूपगंधाद्यवयव सम्पन्नं व्यक्तं। माठर० गौ० जय०
३. स्वतंत्रं सर्वोत्पत्ति कारणत्वात्। माठर०

त्रिगुणात्मक है। व्यक्त तथा प्रधान त्रिगुणात्मक होने से अचेतन इस अर्थ में हैं कि वे स्वतः प्रकाशित नहीं होते। पुरुष के संयोग से व्यक्त तथा प्रधान में चेतनता आती है। प्रसवधर्मि का तात्पर्य है प्रसव करना धर्म हो जिसका अर्थात् व्यक्त तथा प्रधान त्रिगुणात्मक होने के कारण नाना प्रकार के भावों को अभिव्यक्त करते रहते हैं। 'तद्विपरीत' का अर्थ है वह त्रिगुण के विपरीत है। सांख्यशास्त्र में त्रिगुण से भिन्न कुछ भी नहीं है, उससे भिन्न या परे केवल पुरुष ही हो सकता है, जिसे अगुण कहा गया है। 'च' पद पुरुष को 'पुमान्' से पृथक् करता है। पुमान्[1] का अर्थ है मनुष्य या मानव जाति। यह पुरुष रूप में पुलिंग का बोधक है। इस प्रकार पुरुष त्रिगुण से परे है तथा पुमान् त्रिगुण के अनुरूप। यहां व्यक्त के साथ अव्यक्त क्यों नहीं आया प्रधान ही क्यों प्रयुक्त है जबकि दोनों त्रिगुणात्मक हैं। यह विचारणीय है। अव्यक्त प्राणियों के मूल प्रवृत्ति का बोधक है तो प्रधान का सम्बन्ध उस मनुष्य से है जिसे 'ज्ञान' उत्पन्न होना है। ज्ञानी मनुष्य को ही सांख्यकारिका में पुमान् कहा गया है। प्रकृत कारिका में व्यक्त, प्रधान, पुरुष तथा पुमान् चारों का निरुपण किया गया है। ६०वीं कारिका में भी पुरुष के साथ पुमान् पद आया है।

विशेष—व्याख्याकारों ने व्यक्त तथा प्रधान के स्वरूप और धर्म को एक ही रूप में समझा है तथा पुमान् को पुरुष का वाचक माना है। चूंकि व्यक्त तथा प्रधान त्रिगुणात्मक, अविवेकि, विषय, सामान्य, अचेतन तथा प्रसवधर्मि कहे गये हैं इसलिए पुमान् इनके विपरीत अगुण, विवेकी, अविषय, असामान्य चेतन तथा अप्रसवधर्मि होगा। 'तद्' का अर्थ व्याख्याकारों ने ताभ्यां[2] (व्यक्त-प्रधानरूप) किया है तथा च पुमान् की व्याख्या में माठर[3] तथा गौड़पाद ने प्रकृति की भांति पुमान् को अहेतुमत्, नित्य, व्यापी, निष्क्रिय,

---

१. वृ० उ० १।४।३, मु० उ० २।१।५, श्वे० उ० ४।३, ५।१०
गीता २।६२, ७१, म० भा० १२।२०१।२७,, अमरकोष २।५।३८, २।६।१
Vedic Index of Names 2nd subjects Vo I, P. 538
A male, male being, human being man, man kind, people.
Dictionary Woinior williams.
Dictionary V. S. Apte

२. ताभ्यां त्यक्ता त्यक्ताभ्यां विपरीतः। माठर, गौ० ज०

३. तथाहि अहेतुमान्नित्यो व्यापी निष्क्रिय एकोऽनाश्रितोऽलिङ्गो निरवयवः स्वतन्त्र इति, माठर० गौ०

एक अनाश्रित अलिंग निरवयव तथा स्वतंत्र कहा है। जयमंगलाकार[1], वाचस्पतिमिश्र ने व्यक्त के सदृश पुरुष को अनेक कहा है तथा च पुमान् का अर्थ राधानाथ पूखन ने इस प्रकार किया है —The expression तथा च in Sanskrit is a phrase, the meaning of which is not with standing all that has been said above. P. 8।

टिप्पणी—पुमान् का अर्थ चिद्रूप पुरुष कभी नहीं हो सकता। पुरुष व्यक्त और प्रधान के सदृश तथा विपरीत है—यह कथन अपने आप में भ्रमोत्पादक है।

पूर्वकारिका में त्रिगुण शब्द पठित हुआ है। इन गुणों का स्वरूप लक्षण एवं प्रयोजन क्या है, कहते हैं—

प्रीत्यप्रीतिविषादात्मकाः प्रकाशप्रवृत्तिनियमार्थाः।
अन्योन्याभिभवाश्रयजननमिथुनवृत्तयश्च गुणाः ॥१२॥

अनुवाद—सत्त्व, रजस् और तमस् ये तीनों गुण प्रीति, अप्रीति एवं विषादात्मक होते हैं। प्रकाशन, प्रवर्तन तथा नियमन इनके प्रयोजन या कार्य हैं। ये परस्पर एक दूसरे का अभिभव करने वाले, आश्रय बनने वाले आपस में संयोग स्वभाव वाले अर्थात् सहचारी होते हैं।

व्याख्या—प्रीति का अर्थ है चित्त में मानसिक तृप्ति की अनुभूति, मानसिख सुख, सौमनस्य। अप्रीति का अर्थ है मानसिक अतृप्ति, दौर्मनस्य। विषाद का अर्थ है शिथिलता, दौर्बल्य। साधारणतया प्रीति, अप्रीति तथा विषाद से सुख, दुःख, मोह, अर्थ लिया जाता है। वास्तव में ये सुख-दुःख मोह के लक्षण हैं[2]। जब सत्त्व गुण उत्कट होता है, तब रजोगुण एवं तमोगुण को अभिभूत कर वह प्रीति एवं प्रकाश रूप में अवस्थित होता है। इसी प्रकार रजोगुण तथा तमोगुण के लिए भी है, जिसकी क्रिया जिस पर अवलम्बित या निर्भर होती है, वह उसका आश्रय कहा जाता है। सत्त्वगुण, रजस् और तमस् के क्रमशः प्रवर्तन एवं नियमन कार्यों के आश्रय से ही प्रकाशन का कार्य करता है। इसी प्रकार रजस् तथा तमस् के लिए भी हैं। तीनों गुण एक दूसरे की उत्पत्ति करने वाले हैं अर्थात् तीनों में से प्रत्येक अन्य दोनों की अपेक्षा रखते हुए परिणाम उत्पन्न करते हैं। ये गुण परस्पर अपृथक् रूप में रहते हैं, इसलिए इन्हें सहचारी कहा गया है।

---

१. अनेकं व्यक्तं पुरुषोऽनेकः बहुत्वात्। जय०

२. प्रीतिः सुखलक्षणत्वात् अप्रीतिः दुखलक्षणत्वात् विषादः मोह लक्षणत्वात्। माठर०

विशेष—वाचस्पति मिश्र ने गुण का अर्थ दूसरों के लिए होना किया है। गौड़पाद ने अर्थ पद को सामर्थ्य का बोधक कहा हैं। आचार्य माठर[१], गौड़-पाद, जयमंगलाकार ने वृत्तिपद का वाचस्पतिमिश्र तथा नारायणतीर्थ की भाँति अभिभव, आश्रय इत्यादि प्रत्येक के अन्त में न जोड़कर इन्हीं पदों की 'अन्योन्य' पद के साथ स्वतंत्र अर्थ किया है। आचार्य माठर एवं गौड़पाद के अनुसार वृत्ति का अर्थ, परस्पर विद्यमान रहना तथा जयमंगलाकार के अनुसार सुखादि रूप में परिणत होना है। आचार्य माठर[२] ने तीनों के पारस्परिक आश्रय होने का बड़ा ही सुन्दर दृष्टान्त दिया है। **जैसे**—तिरछे खड़े किये गये तीनो दण्डों या खम्भों पर आश्रित घट किसी एक पर आश्रित नहीं रह सकता और घट को अपने-अपने ऊपर सम्भालने के कार्य में तीनों में से प्रत्येक दोनों की सहायता की अपेक्षा रखता है, उसी प्रकार तीनों गुण भी अपने-अपने कार्य में अन्य दोनों सहायता की अपेक्षा रखते हैं। सुवर्ण सप्तति शास्त्र तथा जयमंगला में भी यह दृष्टान्त मिलता है। गुणों के अन्योन्य मिथुन वृति की व्याख्या के समर्थन में व्याख्याकारों ने देवी भागवत[३] के एक श्लोक को उद्धृत किया है।

गुणों की 'अन्योन्यवृत्तयः' पद की व्याख्या में आचार्यों ने एक सुन्दर सुशील स्त्री का दृष्टान्त दिया है। जैसे—एक सुन्दर सुशील स्त्री अपने पति के लिये आनन्ददायिनी, सौतों के लिये दुःखदायिनी और उन व्यक्तियों के लिये जो उसे चाहते हैं किन्तु प्राप्त नहीं कर सकते, वही मोह उत्पन्न करने वाली होती है।

टिप्पणी—प्रकृत कारिका का वर्ण्य विषय 'सत्त्वरजस्तमस्' के पारस्परिक सम्बन्ध की व्याख्या करना है। इन गुणों का कोई भौतिक रूप नहीं है। ये मनोभाव हैं जो परस्पर सदा, सर्वदा और हमेशा सम्पृक्त रूप में रहते हैं। अन्योन्यवृत्ति भी एक गुण व्यापार है—इसे संगत नहीं कहा जा सकता है।

---

१. अन्योऽन्याभिभवाश्च, अन्योऽन्याश्रयाश्च, अन्योन्यजननाश्च अन्योऽन्यमिथुनाश्च अन्योन्यवृत्तयश्च। मा० गौ०

२. त्रिदण्ड विष्टम्भवदमी वेदितव्या। माठरवृत्ति

३. रजसो मिथुनसत्त्वं सत्त्वस्य मिथुनं रजः।
उभयोः सत्वरजसोर्मिथुनं तम उच्चते। दे० भा० ३।५०

प्रकाशन प्रवर्तन तथा नियमन गुणों के कार्य हैं। उन गुणों के नाम क्या हैं ? तथा वे किस प्रयोजन के लिये किस रूप में प्रवृत्त होते हैं ? कहते हैं—

सत्त्वं लघु प्रकाशकमिष्टमुपष्टम्भकं चलं च रजः।
गुरु वरणकमेव तमः प्रदीपवच्चार्थतो वृत्तिः ॥१३॥

अनुवाद—सत्त्व हल्का अतएव प्रकाशक, रजस् उत्तेजक अतएव प्रवृत्तिशील तथा तमस् ही भारी अतएव अवरोधक माना गया है। एक ही प्रयोजन की सिद्धि के लिए तीनों ही प्रदीप के समान मिलकर कार्य करते हैं।

व्याख्या—जब सत्त्वगुण की अधिकता होती है तब शरीर हल्का हो जाता है। बुद्धि विषय प्रकाशन में समर्थ रहती है, चित्त प्रसन्न हो जाता है। रजोगुण की अधिकता में शरीर उत्तेजक हो उठता है। प्रवृत्ति चञ्चल हो जाती है, मानसिक अतृप्ति होती है। तमोगुण की अधिकता में शरीर भारी हो जाता है। बुद्धि के प्रकाशन में अवरोध होता है तथा मानसिक शिथिलता आ जाती है। जैसे दीपक में रूई, अग्नि और तैल—ये परस्पर विरोधी स्वभाव वाले पदार्थ एक साथ मिलकर दूसरे पदार्थों को प्रकाशित करने में समर्थ होते हैं। उसी प्रकार सत्त्व, रजस् तथा तमस्—गुण परस्पर विरुद्ध स्वभाव के होते हुए भी जीवात्मा के भोग एवं अपवर्ग रूप प्रयोजन की सिद्धि के लिए मिलकर कार्य करते हैं।

विशेष—वाचस्पतिमिश्र ने सत्त्वगुण के प्रकाशन रूप कार्य की व्याख्या में वैज्ञानिक दृष्टान्त दिया है—सांख्याचार्यों के द्वारा सत्त्व ही हल्का अतएव प्रकाशकारी माना गया हैं। इनमें लघुता या हल्कापन जो गुरुता या भारीपन का विरोधी है, वस्तुओं के उर्ध्वगमन में कारण बनता है। इसी गुण के कारण अग्नि की ज्वालाएँ ऊपर को उठती हैं। यही हल्कापन किसी-किसी के तिर्यग्गमन का कारण बनता है। जैसे वायु के तिर्यग्गमन का। गुणों के परस्पर विरोधी स्वभाव की व्याख्या के समर्थन ने उन्होंने आयुर्वेद[1] शास्त्र का सहारा लिया है। 'अर्थतः' पद का अर्थ माठर ने कार्यवशात् गौड़पाद ने वृत्ति तथा जयमंगलाकार एवं वाचस्पतिमिश्र ने 'पुरुषार्थतः' किया है। श्री एस० सूर्यनारायण शास्त्री ने मुडुम्बनरसिंह स्वामी शास्त्री की अप्रकाशित कृति सांख्यतरुवसन्त का एक दृष्टान्त इस सम्बन्ध में उद्धृत किया

---

१. यथा च वातपित्तश्लेषमाण: परस्परविरोधिन: शरीरधारणलक्षण-कार्य-कारिण:
सां० त० कौ०

है। जिस प्रकार तेल-बत्ती और वह्नि से दीप प्रज्वलित होता है उसी प्रकार तीनों गुण से आन्तर और वाह्यकरण प्रज्वलित होते रहते हैं।

टिप्पणी—आधुनिक विज्ञान के संदर्भ में त्रिगुण सिद्धान्त का स्वरूप अनुसंधेय है।

ग्यारहवीं कारिका में व्यक्त एवं प्रधान को त्रिगुणात्मक कहा गया तथा अविवेक्यादि धर्मों की भी चर्चा की गई। कहीं स्वरूप और धर्म को पाठक एक न समझ ले इसका निराकरण करने तथा व्यक्त एवं प्रधान की तरह अव्यक्त भी त्रिगुणात्मक है। इसे सिद्ध करने के उद्देश्य से अगली कारिका प्रवृत्त हुई है—

अविवेक्यादेः[1] सिद्धिः[2] त्रैगुण्यात्तद्विपर्ययेऽभावात्।
कारणगुणात्मकत्वात्कार्यस्याव्यक्तमपि सिद्धम् ॥१४॥

अनुवाद—त्रिगुणात्मकता से अविवेक्यादि धर्मों की सिद्धि होती है। उस त्रिगुण से भिन्न का अभाव होने से कार्य के कारण गुणों से युक्त होने से अव्यक्त की भी सिद्धि होती है।

व्याख्या—कार्य व्यक्त है और कारण अव्यक्त। सांख्य में कारण कार्य से सूक्ष्म है। व्यक्त रूप कार्य से अव्यक्त रूप कारण सूक्ष्म है। व्यक्त त्रिगुणात्मक है। जो त्रिगुणात्मक होगा वह अविवेक्यादि धर्मों से युक्त होगा। इस जगत में त्रिगुण से परे कुछ भी नहीं है। सभी प्राणियों की प्रवृत्ति त्रिगुणात्मक है। कार्य व्यक्त जो त्रिगुणात्मक है कारण रूप अव्यक्त के गुणों से युक्त है। इसलिए व्यक्त तथा प्रधान की तरह अव्यक्त का त्रिगुणात्मक होना सिद्ध होता है।

विशेष—आचार्य माठर ने 'अविवेक्यादिः सिद्धः त्रैगुण्यात्' का अर्थ इस प्रकार किया है—जो त्रिगुण है वह अविविक्त है, जो अविविक्त है वह विषय है, जो विषय है वह सामान्य है, जो सामान्य है वह अचेतन है जो अचेतन है वह प्रसवधर्मि है। जयमंगलाकार के मत में गुण ही अविवेकि भोग्य, सामान्य, अचेतन तथा प्रसवधर्मि है। 'तद्विपर्ययाभावात्' की व्याख्या में आचार्य माठर तथा गौड़पाद ने तन्तु-पट के सम्बन्ध के आधार पर यह सिद्ध किया है कि व्यक्त तथा अव्यक्त भिन्न नहीं हैं। अन्य व्याख्याकारों[3]

१-२. अविवेक्यादिः सिद्धः माठर० गौ० यु० ज०

३. नहि निर्गुणस्य पुरुषस्याविवेक्यादिः सम्भवति। जय०
यस्माद् गुणविपर्ययः क्षेत्रज्ञः। यु०
अविवेक्यादि विपर्यये पुरुषे त्रैगुण्याभावात्। सां० त० कौ०

ने उक्त पद का अर्थ त्रिद्रूप पुरुष किया है क्योंकि उसमें त्रिगुण का अभाव है। अन्तिम पद के समर्थन में आचार्य माठर[1] निम्ब और द्राक्षा तथा अन्य व्याख्याकारों तन्तु-पट का दृष्टान्त दिया है तथा कार्य को कारण गुणों से युक्त कहा है।

टिप्पणी—प्रकृत कारिका में अव्यक्त की सत्ता नहीं सिद्ध की गयी है। अपितु अव्यक्त का त्रिगुणत्व रूप सिद्ध किया गया है। इस कारिका का पुरुष-तत्त्व से कोई सम्बन्ध नहीं है, जैसा कि वाचस्पतिमिश्र तथा अन्य आचार्यों ने किया है।

अव्यक्त का त्रिगुणात्मक होना सिद्ध हुआ। जगत् में नानात्व का आधार त्रिगुण है। विभिन्न प्रकार के प्राणी अपने शारीरिक संघटन के अनुरूप जगत में व्यवहार करते हैं। उसका कारण उस देह विशेष की प्रकृति है जिसे अव्यक्त कहा गया है। अव्यक्त ही सत्व रसज् तमस् के साथ एकैक गुण की प्रधानता से देव, मानुष, तिर्यक् योनियों में विभिन्न रूपों में भाषता है। इसी आशय की अगली दो कारिकाओं में कहते हैं—

भेदानां परिमाणात्समन्वयाच्छक्तितः प्रवृत्तेश्च ।
कारणकार्यविभागादविभागाद्वैश्वरूप्यस्य ॥१५॥

कारणमस्त्यव्यक्तम् प्रवर्तते त्रिगुणतः समुदयाच्च ।
परिणामतः सलिलवत् प्रतिप्रतिगुणाश्रयविशेषात् ॥१६॥

अनुवाद—भेदों के परिमित होने से, उनके समन्वय से, अपनी शक्ति के अनुरूप प्रवृत्त होने से, कारण और कार्य में भेद होने से, सम्पूर्ण विश्व में कारण एवं कार्य में एकरूपता होने से अव्यक्त की कारण रूप में सत्ता सिद्ध होती है।

अव्यक्त में तीनों गुणों के मिश्रित रूप से रहते हुए, उनकी अलग-अलग प्रधानता के आश्रय से जल की तरह परिणाम होता रहता है।

व्याख्या—आठवीं कारिका में महदादि कार्यों से प्रकृति की सत्ता सिद्ध की गयी है। ग्यारहवीं कारिका में व्यक्त तथा प्रधान को त्रिगुणात्मक बताते हुए चौदहवीं कारिका में व्यक्त के कारण रूप अव्यक्त को त्रिगुणात्मक सिद्ध

---

१. यथा कटु निम्बवृक्षात् कटुरेव रसोभवति मधुराच्च मधुरो द्राक्षादिरसः। माठर०
कार्यंहि कारण गुणात्मकं दृष्टं यथा तन्त्वादिगुणात्मकं पटादि। सां० त० कौ०

किया गया है। इस प्रकार ब्यक्त, प्रधान तथा अव्यक्त तीनों त्रिगुणात्मक सिद्ध हुए। महदादि कार्य और व्यक्त के सूक्ष्म भेद को दशवीं कारिका में स्पष्ट किया जा चुका है। प्रकृत कारिका में व्यक्त के आधार पर अव्यक्त सत्ता सिद्ध की गयी, जिसमें पाँच सबल हेतुओं को उपस्थित किया गया है—

प्रथम हेतु है—'भेदानां परिमाणात्' व्यक्त को सावयव कहा गया है अर्थात् व्यक्त भेद से युक्त होते हैं। व्यक्त का स्वरूप भिन्न-भिन्न शरीरों में भिन्न-भिन्न हुआ करता है। जीवात्मा जिस शरीर को धारण करता है, व्यक्त उसी की परिधि के अन्दर रहते हैं। मनुष्य की वृत्तियाँ कुत्ते में नहीं आ सकतीं। इसका क्या कारण है? प्राणियों की प्रकृति या अव्यक्त?

द्वितीय हेतु है—'भेदानां समन्वयात्' समन्वय का अर्थ है एकजातीयता एकरूपता। प्राणियों के क्रिया-कलापों को देखकर हम समझ जाते हैं कि यह प्राणी किस जातिका है। यह पशु है, पक्षी है या मनुष्य। इस प्रकार की एक जातीयता का बोध जिसके द्वारा होता है वह अव्यक्त है।

तृतीय हेतु है—'भेदानां शक्तितः प्रवृत्तेश्च' ब्यक्त रूप भेद जिस शक्ति से स्वब्यापार में प्रवृत्त होते हैं–उनमें यह क्षमता या प्रवृत्ति जिस शक्ति के द्वारा सञ्चालित होती हैं, वह अव्यक्त है। साँप और नेवले में स्वतः विरोध क्यों होता है? मनुष्य ज्ञान की खोज में क्यों प्रवृत्त होता है? इन सबका कारण उसकी प्रकृति या स्वभाव है।

चतुर्थ हेतु है—'कारण कार्य विभागाद्' व्यक्त कार्य है और अव्यक्त कारण। व्यक्त हेतुमत् है अव्यक्त अहेतुमत्। यदि अव्यक्त का भी कारण अवन्ति किया जाय तो अनवस्था प्रसंग आ जायेगा। तात्पर्य यह है कि अव्यक्त से परे कोई शक्ति नहीं है जो सम्पूर्ण जगत् को व्याप्त कर सके। उपर्युक्त तोनों हेतुओं के साथ 'भेदानां' पद जुड़ा हुआ है।

पञ्चम और अन्तिम हेतु है—'अविभागाद्वैश्वरूप्यस्य' अतः सृष्टिवैविध्य ही विश्व रूप हैं। अव्यक्त तथा व्यक्त में भेद है। परन्तु सारभौम रूप में दोनों में अभेद है। सम्पूर्ण जगत् त्रिगुणात्मक है तथा व्यक्त एवं अव्यक्त भी त्रिगुणात्मक है।

जगत् में नानात्व का आधार त्रिगुण है जो अब्यक्त का स्वरूप हैं। सभी प्राणी अपने-अपने शरीर के अनुरूप ही आचरण करते हैं यदि ऐसा न हो तो सृष्टि ब्यवस्था का अपलाप हो जायेगा तथा सारा विज्ञान शिथिल हो जायेगा। यहाँ इस बात पर विशेष बल दिया गया है कि प्राणियों की प्रवृत्ति का कोई उत्प्रेरक तत्त्व (ईश्वरादि) सांख्यशास्त्र को स्वीकृत नहीं है।

अव्यक्त एक है। उसके विभिन्न परिणाम कैसे होते हैं–इसीको सोलहवीं कारिका में बतलाया जा रहा है। अव्यक्त त्रिगुणात्मक है। ये तीनों गुण परस्पर मिश्रित रूप में रहते हैं—पृथक् रूप में नहीं रह सकते। एक गुण के उत्कट होने से शेष दो गुण अभिभूत हो जाते हैं। परन्तु वे परस्पर एक दूसरे के आश्रय एवं सहचारी रूप में बने रहते हैं। यह परिणाम जल की तरह होता है। जैसे—जल जिस वर्तन में रखा जाता है उसी आकार का हो जाता है। वैसे ही जीवात्मा जिस शरीर को धारण करता है उसकी उसी के अनुरूप प्रवृत्ति हो जाती है। देवयोनि में जाने पर देवत्व जैसी सत्व प्रधान, मानवयोनि में जाने पर तदनुरूप रजस् प्रधान तथा तिर्यक्योनि में तद्रूप तमस् प्रधान प्रवृति हो जाती है। इस प्रकार अव्यक्त एक होते हुए भी अनेक रूपों में परिणित होता हुआ प्रवृत्त होता है। इस नानात्व का आधार त्रिगुण भेद है।

विशेष—व्याख्याकारों ने व्यक्त और कार्य को एकार्थक माना है तथा महदादि कार्यों के आधार पर प्रकृति की सत्ता सिद्ध की है। प्रथम पद 'भेदानां परिमाणात्' का अर्थ आचार्यों ने इस प्रकार किया है—महदादि परिमित है। अतएव उनका कारण कोई अवश्य होगा, जिससे ये कार्य उत्पन्न होते हैं। वह कारण प्रकृति है।[1] आचार्यों की दृष्टि में भिन्नों की समानता ही समन्वय है। जैसे—मिट्टी, सोना आदि कारणों से सम्बद्ध घट, मुकुट रूप कार्य, मिट्टी, सुवर्ण आदि कारण वाले होते हैं। उसी प्रकार महदादि त्रिगुणात्मक कार्य का कारण त्रिगुण रूप प्रकृति अवश्य है। 'शक्तितः प्रवृत्तेश्च' की व्याख्या आचार्यों ने इस प्रकार की है—कारण की शक्ति से ही कार्य प्रवृत्त होते हैं। उस शक्ति का जो सञ्चालक है, वह प्रकृति है। 'कारणकार्यविभागाद्' पद की व्याख्या में आचार्य माठर ने कारणरूप मृत्पिण्ड तथा कार्यरूप घट के सामर्थ्य भेद की चर्चा की है। वाचस्पतिमिश्र[2] का कथन है कि जिस प्रकार कूर्म शरीर में विद्यमान अंगों के बाहर निकलने पर यह कूर्म का शरीर है और ये इसके अंग हैं—इस प्रकार की पृथक् प्रतीति होती है। इसी रूप में सत् पृथ्वी आदि कार्य स्व कारण तन्मात्र से प्रकट होने पर पृथक् प्रतीत होते हैं। तन्मात्र अहंकार से, अहंकार महत्

१. एवं व्यक्तं परिमितम्। एवमेतत् परिमितं व्यक्तं दृष्ट्वाऽनुमानेन। साधयामोऽस्त्यस्य कारणं प्रधानं यद्व्यक्तं परिमितुमुत्पादयति। माठर०

२. तथा च यथा कूर्मशरीरे सन्त्ये वाङ्गानि निःसरन्ति विभज्यन्ते इदं कूर्म शरीरं, एतान्येतस्याङ्गानि इति। सां० त० कौ०

से तथा महत् प्रकृति से पृथक् प्रतीत होता है। अन्तिम पद की व्याख्या आचार्य माठर ने इस प्रकार की है—विश्व रूप का होना ही 'वैश्वरूप' है। उसके अविभाग से भी सिद्ध है कि प्रधान है। त्रैलोक्य पञ्चमहाभूतों में, महाभूत तन्मात्र में, तन्मात्र एकादशेन्द्रिय अहंकार में, अहंकार महत् में, महत् प्रकृति में—इस[1] प्रकार प्रलयकाल में तीनों लोक प्रधान में लीन हो जाते हैं। जयमंगलाकार[2] का कथन है कि ईश्वर में निर्गुण होने से लीन नहीं हुआ जा सकता। परम्परागत सभी व्याख्याकारों ने आचार्य माठर का का ही अनुसरण किया है।

अगली कारिका की व्याख्या में आचार्य माठर ने सलिलवत् परिणाम को बड़ा ही सुन्दर ढंग से समझाया है। जैसे—आकाश से एक ही प्रकार का जल गिरता है, परन्तु पृथ्वी पर आकर भिन्न भिन्न पदार्थों से भिन्न भिन्न प्रकार का हो जाता है। उसी प्रकार ये तीन लोक प्रकृति से उत्पन्न होकर गुणों की विषमता के कारण भिन्न-भिन्न रूप में दिखाई देता है। सभी आचार्यों ने माठर के आशय को ही ग्रहण किया है।

टिप्पणी—कार्य तथा व्यक्त एक नहीं हो सकते। प्रकृति की सत्ता आठवीं कारिका में सिद्ध की जा चुकी है। पुनः उसकी आवृत्ति अनावश्यक प्रतीत होती है। प्रकृति, अव्यक्त तथा प्रधान पद का सांख्यकारिका में अपना विशिष्ट रहस्य है यद्यपि वे तात्त्विक रूप में एक हैं। सत्कार्यवाद के प्रतिष्ठित हो जाने पर सृष्टि एवं प्रलय का निरूपण निष्प्रयोजन प्रतीत होता है। सलिलवत् परिणाम की व्याख्या संतोष जनक नहीं है क्योंकि इसमें भू विकार ही मुख्य कारण बनता है, त्रिगुण भेद नहीं।

भोग तथा कैवल्य रूप द्विविध पुरुषार्थ जीवात्मा द्वारा ही सिद्ध होते हैं। वह जीवात्मा न तो पुरुष है न प्रकृति। बल्कि दोनों का संयोग रूप है। इसे ही यहाँ कहा जा रहा है—

संघातपरार्थत्वात् त्रिगुणादिविपर्ययादधिष्ठानात्।
पुरुषोऽस्ति भोक्तृभावात् कैवल्यार्थं प्रवृत्तेश्च ॥१७॥

अनुवाद—शरीर इन्द्रियादि संघात रूप प्रकृति तथा उससे परे त्रिगुणादि से भिन्न अधिष्ठानरूप पुरुष (के संयोग) से युक्त, भोग तथा कैवल्यरूप द्विविध पुरुषार्थों की सिद्धि में प्रवृत्त जीवात्मा की सत्ता सिद्ध होती है।

---

१. इत्थं त्रयोलोकाः प्रलयकाले प्रधानेऽविभक्ताः। माठर०
२. न चेश्वरे लयनं सम्भवति, तस्य निर्गुणत्वेन। जय०

व्याख्या--सांख्य में अनुभवकर्ता, भोक्ता न तो पुरुष है न प्रकृति क्योंकि ये दोनों शरीरधारी प्राणी नहीं हैं। विषय बोध शरीर से सम्बन्धित है। अतएव दुःख सुख का भोक्ता जीवात्मा है, जिसे पुरुष प्रकृति संयोग रूप में समझा जा सकता है। यह संयोग परम्परा अनादिकाल से चली आ रही है। दोनों की पृथक् रूप में व्याख्या सम्भव नहीं है। अतएव कारिकाकार ने जो 'संघातपरार्थत्वात्' पद रखा है, वह उचित ही है। संघातपरार्थत्वात् पद से दोनों (प्रकृति एवं पुरुष) का बोध होता है। इसे संघातत्वात् परार्थत्वात् रूप में समझा जा सकता है। संघात जिसका तात्पर्य शारीरिक संघटन से है, से प्रकृति का बोध होता है। परार्थत्वात् पद का संबंध पुरुष से है–जो संघात से परे अर्थात् असंहत है। अगले पद त्रिगुणादि विपर्ययात् से इसे और पुष्ट कर दिया गया है। त्रिगुण के साथ आदि पद आया है, जिसका अर्थ यह है कि पुरुष गुण, क्रिया, धर्मव्यापार से परे है। पुरुष को अधिष्ठान रूप कहा गया है। वह प्राणियों की प्रवृत्ति के प्रकाशन का आधार है। भोग तथा कैवल्य की सिद्धि के लिए जीवात्मा प्रवृत्त होता है। बिना जीवात्मा की सत्ता सिद्ध किये द्विविध पुरुषार्थों की चरितार्थता संभव नहीं। अतएव प्रकृत कारिका का विषय जीवात्मा की सत्ता सिद्ध करना है, जो पुरुष-प्रकृति संयोग रूप है।

विशेष—प्रकृत कारिका में व्याख्याकारों ने पुरुष की सत्ता सिद्ध की है। प्रथम पद 'संघातपरार्थत्वात्' के प्रसंग में आचार्य माठर[1] गौड़पाद का कहना है कि संसार में जितने भी संघात पाये जाते हैं, सभी दूसरे के लिए होते हैं। संघात संघात के लिए नहीं होता। उसी प्रकार महदादि संघात अपने स्वार्थ के लिए नहीं होते, अपितु दूसरे के प्रयोजन के लिए हैं। वह दूसरा पुरुष है। वाचस्पति मिश्र[2] का कहना है कि संघात से संघात का ही अनुमान होता है असंहत पुरुष का नहीं। 'त्रिगुणादि विपर्ययात्' का अर्थ आचार्यों ने त्रिगुण से भिन्न किया है। पुरुष के[3] अधिष्ठान रूप की व्याख्या में आचार्यों ने रथ और सारथी का दृष्टान्त दिया है। डॉ० रामशंकर भट्टाचार्य[4] ने

---

१. एवममी महदादयश्चक्षुरादयो न स्वार्थाः न च परस्परार्थाः, किन्तु परार्थाः। यश्चासौ परः स चात्मा। माठर०

२. तस्मात् संघातात्तन्तरमेव परं गमयेयुः, न त्व संहतमात्मानम्। सां० त० कौ०

३. तद्यथेह लोके लङ्घनप्लवनधावनसमर्थैरश्वैर्युक्तो रथः सारथिनाधिष्ठितः प्रवर्तते। माठर०

४. सां० त० कौ० (ज्योतिष्मती) पृ० १४०

'अधिष्ठान' का अर्थ नियन्त्रण विशेष किया है। 'भोक्तृभावात् पद' की व्याख्या में आचार्यों ने पुरुष को भोक्ता कहा है। आचार्य माठर[1] ने पुरुष को परमात्मा कहा है जो प्रकृति का भोक्ता है। नारायण तीर्थ ने भोक्तृत्व का साक्षित्व[2] अर्थ किया है। 'कैवल्यार्थ प्रवृत्तेश्च' पद की व्याख्या में आचार्य माठर ने केवल यही कहा है कि मोक्ष के लिए प्रधान की प्रवृत्ति होती है। युक्तिदीपिकाकार तथा जयमंगलाकार[3] ने कैवल्य के लिए प्रधान की प्रवृत्ति हेतु पुरुष की सत्ता को स्वीकार किया है। वाचस्पति मिश्र[4] का मत है कि शास्त्रों तथा मतिमान महर्षियों की कैवल्य की चेष्टा होने से यह सिद्ध होता है कि बुद्धि इत्यादि से भिन्न कोई पुरुष तत्त्व है।

टिप्पणी—पुरुष की सत्ता अनुमान प्रमाण से सिद्ध नहीं हो सकती। त्रिगुण से परे चिद्रूप पुरुष भोक्ता नहीं हो सकता। भोग एवं कैवल्य जीवात्मा के प्रयोजन हैं चिद्रूप पुरुष के नहीं।

पूर्व कारिका में जीवात्मा की सत्ता सिद्ध की गयी। जीवात्मा अनेक हैं। उनका अनेकत्व किन-किन आधारों पर प्रतिष्ठित हैं, इसे कहते हैं—

जन्म[5]मरणकरणानां प्रतिनियमादयुगपत्प्रवृत्तेश्च ।
पुरुषबहुत्वं सिद्धं त्रैगुण्यविपर्ययाच्चैव ॥१८॥

अनुवाद—जन्म, मरण तथा करणों की व्यवस्था से, एक साथ प्रवृत्ति के अभाव से तथा त्रिगुण-भेद से भी जीवात्मा का अनेकत्व सिद्ध होता है।

व्याख्या—जीवात्मा की अनेकता की सिद्धि में कारिकाकार ने पाँच युक्तियों को उपस्थित किया है—(१) जन्म प्रतिनियम (२) मरण प्रतिनियम (३) करण प्रतिनियम (४) अयुगपत् प्रवृत्ति का होना तथा (५) त्रिगुण भेद। यहाँ प्रत्येक युक्तियों की व्याख्या की जा रही है—

प्रथम युक्ति है—जन्मनियमात्—भावों से अनुरञ्जित लिङ्ग का स्थूलभूतों से सम्बन्ध ही जन्म है। प्रतिनियम का अर्थ है व्यवस्था। जन्म की व्यवस्था के आधार पर प्राणियों को तीन कोटियों में बाँटा जा सकता है। (१) जरा-

---

१. एवमिदं व्यक्ताव्यक्तं दृष्टा साधयामोऽस्त्यसौ परमात्मा पुरुषः।
यस्येदं भोक्तुर्व्यक्ताव्यक्तं भोग्यमिति। माठर

२. भोक्तृभावादिति साक्षित्वादित्यर्थः सां० चं०

३. कैवल्यं मोक्षः तदन्यार्थंप्रधानस्यषा प्रवृत्तिः। जय०

४. तस्मात् कैवल्यार्थं प्रवृत्तेरागमानाम् महाधियां चास्ति बुद्ध्यादि व्यतिरिक्त आत्मेति सिद्धम्। सां० त० कौ०

५. जनन। जय०

युज् (पिण्डज-अण्डज) (२) स्वेदज तथा (३) उद्भिज्ज। जरायुज् में मनुष्य पशु, पक्षी आदि, स्वेदज में खटमल, जूएँ आदि तथा उद्भिज्ज में लता वृक्षादि की गणना की जाती है।

दूसरी युक्ति है—मरणनियमात्—गृहीत शरीर का त्याग ही मरण या मृत्यु हैं। जो पैदा होता है वह मृत्यु को अवश्य प्राप्त होता है। यहाँ कोई अमर नहीं है। परन्तु इसके पीछे भी एक व्यवस्था है। प्रत्येक प्राणी की एक आयु सीमा है। चींटी से ब्रह्मा तक यह व्यवस्था लागू होती है। इस प्रकार 'मरण प्रतिनियम' के आधार पर प्राणी अनेक हैं।

तीसरी युक्ति है--करणप्रतिनियमात्—प्रत्येक जीवात्मा का एक स्वतंत्र शारीरिक संघटन है तथा उसी के अनुसार उनमें त्रयोदशकरणों की एक व्यवस्था है। इस प्रकार 'करणप्रतिनियम' से भी जीवात्मा अनेक हैं।

चौथी युक्ति है—अयुगपत्प्रवृत्तेश्च जगत में सभी प्राणी अपनी अपनी रुचि के अनुसार अभीष्ट की प्राप्ति में प्रवृत्त होते हैं। इस प्रकार 'रुचिभेद' से भी जीवात्मा अनेक हैं।

पाँचवीं एवं अन्तिम युक्ति है--त्रिगुणभेद (त्रैगुण्यविपर्ययात्)--कुछ प्राणी सत्त्वगुण की प्रधानता से युक्त होते हैं। जैसे--देवतादि। कुछ रजोगुण की प्रधानता से युक्त होते हैं। जैसे–मनुष्य तथा कुछ तमोगुण की प्रधानता से युक्त होते हैं। जैसे—तिर्यक्योनि के पशु-पक्षी आदि।

इस प्रकार उपर्युक्त पाँच युक्तियों के आधार पर जीवात्मा का बहुत्व सिद्ध होता है।

विशेष—व्याख्याकारों ने पुरुषबहुत्व के सम्बन्ध में प्रयुक्त प्रथम तीन युक्तियों का अर्थ इस प्रकार किया है—यदि पुरुष एक होता तो सभी का जन्म साथ ही होता। एक के मरने पर सभी मर जाते, एक के इन्द्रिय वैकल्य अर्थात् बहरा, गूँगा या अंधा होने पर सभी लोग उसी दशा को प्राप्त हो जाते। इस[1] सम्बन्ध में आचार्य माठर का विचार कुछ भिन्न है। युक्तिदीपिकाकार[2] ने सूक्ष्म शरीर का संस्कारों के साथ बाह्य शरीर सम्बन्ध को

---

१. जन्म नियमादिह केचिन्नीचजन्मानः, केचिन्मध्यमजन्मानः, केचिदुत्कृष्ट जन्मानः। मरणेऽपिनियमोदृष्टः मम भ्राता मृतो मम पिता च। माठर०

२. जन्मेति महदादेः सूक्ष्मशरीराश्रिव्यतस्य लिंगस्य यथा संस्कारवाह्येन शरीरेण सम्बन्धः। युक्ति०

जन्म कहा है। वाचस्पतिमिश्र[1] के अनुसार अभिनव शरीर इन्द्रिय, मन, अहंकार, बुद्धि एवं वेदना के साथ पुरुष का सम्बन्ध ही जन्म है।

टिप्पणी—व्याख्याकारों ने पुरुष बहुत्व को प्रतिपादित करने वाली युक्तियों का संतोषजनक प्रतिपादन नहीं किया है। वाचस्पतिमिश्र कृत जन्म की परिभाषा सांख्य सम्मत नहीं है। युक्तिदीपिकाकार का कथन भी संगत नहीं है।

अब पुरुष का जीवात्मा से भेद बतलाते हैं—

तस्माच्च विपर्यासात्सिद्धं साक्षित्वमस्य पुरुषस्य।
कैवल्यं माध्यस्थं द्रष्टृत्वमकर्तृभावश्च ॥१९॥

अनुवाद—और उस जीवात्मा से भेद के कारण इस चिद्रूप पुरुष का साक्षित्व सिद्ध होता है। तथा उसका कैवल्य माध्यस्थ, द्रष्टृत्व तथा अकर्त्तापन सिद्ध होता है।

व्याख्या—कारिका में 'तस्मात्' पद जीवात्मा के लिये प्रयुक्त हुआ है, जिसका बहुत्व पूर्व कारिका में सिद्ध किया गया है। यहाँ विपरीत, विपर्यय और विपर्यास पदों का स्वारस्य समझना आवश्यक है। विपरीत का अर्थ उलटा होता है। जैसे-पूर्व का विपरीत पश्चिम्, धर्म का अधर्म। विपर्यय का तात्पर्य भिन्न होना है। जैसे-पुरुष त्रिगुण से भिन्न हैं। विपर्यास का अर्थ पृथक् या भिन्न होना ही है, परन्तु इसका प्रयोग दो समान वस्तुओं में भेद प्रकट करने के लिए भ्रम के निवारणार्थ होता है। जैसे-रज्जु तथा सर्प में भेद बतलाने के लिए शुक्ति तथा रजत में भेद करने के लिए। सांख्यकारिका में जीवात्मा के लिये भी पुरुष पद प्रयुक्त है तथा चिद्रूप पुरुष को पुरुष पद से ही अभिहित किया गया है। कहीं दोनों के समझने में भ्रम न हो जाय इसलिए उनमें भेद रूप विपर्यास का प्रयोग हुआ है। श्रुति[2] तथा स्मृति[3] इस विषय में प्रमाण हैं। साक्षित्व से पुरुष के चिद्रूप का बोध होता

---

१. निकायविशिष्टाभिरपूर्वाभिर्देहेन्द्रियमनोऽहंकारबुद्धिवेदनाभिः पुरुषस्याभि सम्बन्धो जन्म। सां० त० कौ०

२. द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति।
ऋ० १।१६४।२०, मु० उ० ३।१।१, श्वे० उ० ४।६

३. द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते॥ गी० १५।१६

है। कैवल्य का अर्थ सदा स्वरूप में विद्यमान रहना है। पुरुष त्रिगुण से परे होने के कारण अखण्ड एवं अपरिणामी है। यही उसका कैवल्य है। माध्यस्थ का अर्थ तटस्थ है। यह पद पुरुष की असंगतता का बोधक है। इस विषय में श्रुति[1] प्रमाण है। द्रष्टृत्व का अर्थ है निर्विकारिता। पुरुष प्रकृति की प्रवृत्तियों का प्रकाशक है परन्तु उसमें किसी प्रकार का विकार नहीं आता। इसलिए उसे द्रष्टा कहा गया है। निष्क्रिय होने से पुरुष को अकर्त्ता कहा गया है।

विशेष—व्याख्याकारों ने कारिकागत तस्मात् पद को ग्यारहवीं कारिका में उक्त तद् पद से सम्बद्ध किया है तथा पुरुष को त्रिगुणादि से भिन्न मानकर उसके साक्षित्व रूप की व्याख्या की है। इस विषय में वाचस्पति मिश्र[2] का कथन इस प्रकार है—कारिका में आये हुए 'तस्माच्च' में 'च' पद पुरुष के 'बहुत्व' धर्म के साथ उसके अन्य धर्मों का समुच्चय करता है। समीपस्थ अर्थ 'इदम्' का विषय होता है और दूरस्थ अर्थ 'तद्' का विषय होता है। इसलिए 'तस्मात्' से दूरस्थ त्रिगुण-मविवेकि इत्यादि ही उपस्थित होता है। आचार्य माठर ने भिक्षुका दृष्टांत देकर पुरुष को साक्षी कहा है। जयमंगलाकार ने साक्षी को उदासीन का वाचक कहा है। नारायणतीर्थ[3] ने पुरुष के ज्ञानरुपत्व को साक्षी कहा है। कैवल्य का अर्थ आचार्य माठर एवं गौड़पाद ने पुरुष को त्रिगुण से परे होना किया है। गौड़पाद[4] के मत में देखना और कर्म न करना ही द्रष्टृत्व है। जयमंगलाकार[5] तथा नारायणतीर्थ ने पुरुष के चेतन होने से द्रष्टा कहा है।

टिप्पणी—आचार्यों ने विपर्यासात् पद के सूक्ष्म रहस्य की ओर ध्यान नहीं दिया है। वाचस्पति मिश्र का प्रयास सार्थक नहीं है। उनका कौशल निष्प्रयोजन प्रतीत होता है।

अब व्यक्त के साथ पुरुष के संयोग तथा उसके अकर्तृत्व की व्याख्या करते हैं—

तस्मात्तत्संयोगादचेतनं चेतनावदिव लिंगम्।
गुणकर्तृत्वेऽपि तथा कर्तेव भवत्युदासीनः ॥२०॥

---

१. बृ० उ० ४।३।१५

२. सन्निधानादिदमो विषयो विप्रकृष्टं च तद। सां० त० कौ०

३. साक्षित्वं ज्ञानैकस्वरूपत्वम्। सां० चन्द्रिका

४. यस्मान्मध्यस्थस्तस्मात् द्रष्टा तस्मादकर्ता। गौ०

५. चेतनत्वाच्च द्रष्टृत्वमिति। जय०, सां० चं०

अनुवाद—अतः उसके (पुरुष) संयोग से अचेतन लिंग चेतन की तरह प्रतीत होते हैं तथा गुणों के कर्त्ता होने पर भी उदासीन पुरुषकर्त्ता-सा प्रतीत होता है।

व्याख्या—'तद्' पद पुरुष के लिए आया है। यहाँ लिंग का अर्थ व्यक्त है, जो त्रिगुणात्मक है। संसार में सभी प्राणियों की प्रवृत्ति त्रिगुणात्मक है जिसे सांख्य में अव्यक्त कहा गया है। अव्यक्त की सत्ता व्यक्त के द्वारा ही सिद्ध होती है। इसलिए व्यक्त को लिंग कहा गया है। पुरुष जीवात्मा की प्रवृत्तियों का प्रकाशक है। व्यक्त अचेतन हैं। पुरुष के संयोग से जो उनमें सक्रियता आती है, वही अचेतन का 'चेतनवद्' होना है। यहाँ चेतन चिद्रूप पुरुष का परिचायक नहीं है, अपितु चैतन्य विशिष्ट धर्म का बोधक है। गुणों का कर्ता होना क्या है? यह समझना आवश्यक है। संसार में नानात्व का आधार त्रिगुण भेद है। गुणों की अलग-अलग प्रधानता से ही प्राणियों की भिन्न-भिन्न वृत्तियाँ हैं। प्रत्येक जीवात्मा अपनी प्रकृति के अनुसार ही अपने कार्यों में प्रवृत्त होता है। इसलिए त्रिगुण का कर्ता होना युक्तियुक्त हैं। पुरुष को अकर्ता होना ही उसकी उदासीनता है। 'कर्ता' पद के साथ 'इव' शब्द लगा हुआ है, जिसका तात्पर्य यह है कि वस्तुत पुरुषः कर्ता नहीं है अपितु उसमें कर्तापन की भ्रान्ति होती है।

विशेष—लिंग का अर्थ माठर तथा गौड़पाद ने महदादि कार्य समूह किया है। जयमंगलाकार तथा वाचस्पतिमिश्र ने महदादि से सूक्ष्म पर्यन्त लिंग रूप माना है। नारायणतीर्थ ने बुद्धि तत्त्व किया है। पुरुष और व्यक्त के सम्बन्ध[२] के विषय में आचार्य माठर, गौड़पाद ने घड़े का, युक्तिदीपिकाकार ने स्फटिकमणि का, जयमंगलाकार ने अग्नि और लोहे का दृष्टांत दिया है।

पूर्व कारिका में व्यक्त के साथ पुरुष के संयोग तथा उसके अकर्तापन की विवेचना हुई। अब जगत् में पुरुष-प्रकृति का संयोग किस प्रकार का है तथा यह संयोग कब तक बना रहता है। इसे कहते हैं—

---

१. महदादि लिङ्गम्। माठर०, गौ०
लिङ्गम्महदादिसूक्ष्मपर्यन्तं। जय०, सा० त० कौ०
लिङ्गम् बुद्धि तत्त्वं। सां० चं०

२. तद्यथा अनुष्णाशीतो घटः शीताभिरद्भिः संस्पृष्टः शीतो भवति। अग्निना संयुक्त उष्णोभवति। माठर, गौ०
यथाग्नि संयोगाल्लोह मणिरित्युच्यते। जय०

पुरुषस्य दर्शनार्थं कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य ।
पङ्ग्वन्धवदुभयोरपि संयोगस्तत्कृतः सर्गः ॥२१॥

अनुवाद—पुरुष का संयोग दर्शन के लिए तथा प्रधान का कैवल्य के लिए है। दोनों का संयोग लंगड़े तथा अंधे के पारस्परिक संयोग की तरह है और वह संयोग ही सृष्टि रूप है।

व्याख्या—सांख्य इस आनुभविक जगत् की व्याख्या पुरुष-प्रकृति संयोग रूप में करता है। प्रकृति प्रवृत्तिशील है तो पुरुष एक प्रकाशक तत्त्व है। ग्यारहवीं कारिका में पुमान् को प्रधान के अनुरूप बतलाया गया है। वहाँ पुमान् तथा प्रधान के रहस्य को भी समझाया गया है। स्पष्ट है कि प्रधान पद उस मनुष्य की प्रवृत्ति से सम्बन्धित है जिसे कैवल्य प्राप्त करना है, उसे ही पुमान् कहा गया है। प्रधान या पुरुष कोई शरीरधारी प्राणी नहीं है जो बंधन या मोक्ष को प्राप्त हो। पुरुष में दृक्शक्ति है। वह प्रकाश स्वरूप है परन्तु निष्क्रिय होने के कारण उसमें प्रवृत्ति का अभाव है। इसलिए उसे लंगड़ा कहा गया है। प्रकृति में प्रवृत्ति है तो उसमें दृक्शक्तिका अभाव है। इसलिए उसे अंधी कहा गया है। पङ्ग्वन्धवत् संयोग की संगत व्याख्या तभी संभव है, जब गन्तव्य स्थल एक हो। यहाँ वह गन्तव्य स्थल मोक्ष की प्राप्ति है। इस प्रकार मनुष्य के मोक्ष प्राप्ति तक (उस शरीर में) पुरुष तथा प्रकृति का संयोग पङ्गु अंधवत् है। इसी को दूसरे क्रम में कहने पर 'अपि' शब्द का स्वारस्य भी समझ में आ जाता है—जिस प्रकार लंगड़े और अंधे का संयोग दोनों के गन्तव्य स्थान पर पहुँचने के लिए सार्थक होता है, उसी प्रकार मनुष्य को कैवल्य प्राप्त करने के लिए पुरुष-प्रकृति संयोग भी सार्थक सिद्ध होता है।

अन्तिम पद तत्कृतः सर्गः का तात्पर्य यह है कि यह संयोग ही सृष्टि है। इस प्रकार जहाँ जीवन है, वहाँ पुरुष एवं प्रकृतिका पङ्गु-अंधवत् संयोग है। जबतक मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती, जीवात्मा बराबर जन्म लेती रहती हैं। इस प्रकार जो उनके नये-नये शरीर बनते हैं, सभी पुरुष-प्रकृति संयोग रूप होते हैं।

विशेष—आचार्य माठर और गौड़पाद[1] की दृष्टि में प्रकृति एवं पुरुष दोनों प्रयोजनवान हैं। पुरुष का प्रकृति के साथ संयोग दर्शन के लिए तथा प्रकृति

---

१. तथा प्रधान पुरुषयोरप्यर्थ हेतुकः सम्बन्ध संयोगः। माठर०

का संयोग पुरुष के साथ कैवल्य के लिए होता है। युक्तिदीपिकाकार[1] ने दर्शन का अर्थ भोग किया है। जयमंगलाकार[2] के अनुसार पुरुष के दोनों प्रयोजन प्रधान से ही सिद्ध होते हैं। अतएव दर्शनार्थ तथा कैवल्यार्थ प्रकृति-पुरुष संयोग होता है। वाचस्पतिमिश्र[3] ने भोग्य और भोक्ता रूप में प्रकृति पुरुष दोनों की सत्ता को आवश्यक माना है। उनके अनुसार पुरुष को कैवल्य के लिए प्रधान की आवश्यकता रहती है। अन्त में व्याख्याकारों ने पुरुष-प्रकृति संयोग से सृष्टि की व्याख्या की है। आचार्य माठर[4] गौड़पाद ने स्त्री-पुरुष का दृष्टान्त दिया है।

टिप्पणी—व्याख्याकारों ने प्रधान पद के स्वारस्य पर ध्यान नहीं दिया है। पुरुष या प्रकृति का कोई भी प्रयोजन इस जगत् में नहीं है। पङ्गु-अंधवत् संयोग केवल उपमा की भाषा है। इसे दार्शनिक विवाद का विषय नहीं बनाया जा सकता। पुरुष एवं प्रकृति दो मूल स्वतंत्र सत्ताओं को देशस्थ खड़ाकर किसी काल विशेष में उनके पारस्परिक संयोग से सृष्टि की उत्पत्ति की व्याख्या करना हास्यास्पद है। सांख्य में सृष्टि सत्य है। वास्तविक है।

प्रकृति सूक्ष्म है। उसकी सत्ता उसके महदादि कार्यों से सिद्ध होती है। प्रकृति की कार्य शृंखला किस प्रकार है। उसे कहते हैं—

प्रकृतेर्महांस्ततोऽहंङ्कारस्तस्माद् गणश्च षोडशकः।
तस्मादपि षोडशकात् पञ्चभ्यः पञ्चभूतानि।२२॥

अनुवाद—प्रकृति से महान्, उससे अहङ्कार, अहंकार से सोलह का समूह उस सोलह में भी पञ्चन्मात्रों से पञ्चमहाभूत प्रवृत्त होते हैं।

व्याख्या—प्रकृति पुरुष तथा महदादि तेइस कार्य–ये सांख्यीय प्रमेय हैं। प्रकृति से महत् की उत्पत्ति नहीं होती और न महत् से अहङ्कार की ही उत्पत्ति होती है। सांख्यशास्त्र में कारण कार्य से सूक्ष्म है तथा कार्य कारण गुणों से युक्त है। सत्कार्यवाद के अनुसार महदादि कार्य सत् हैं। इनकी न तो उत्पत्ति होती है और न विनाश।

---

२. पुरुषः प्रधानेन सह भोक्तृत्वेन सम्बध्यते। यु०

३. पुरुषस्यार्थो द्विविधः, विषयोपभोगः कैवल्यं च तदुभयं प्रधानेन संपाद्यम्। जय०

४. प्रधानेन सम्भिन्नः······।······प्रधानमन्तरेणेति कैवल्यार्थं पुरुषः प्रधानमपेक्षते। सां० त० कौ०

५. तद्यथा स्त्री-पुरुषसंयोगात्पुत्रः सम्भवति। एवं प्रधानपुरुषसंयोगात्सर्गोत्पत्ति-र्भवति। माठर०, गौ०

विशेष—आचार्य माठर[१] एवं गौड़पाद ने प्रकृति को ब्रह्म तथा माया का पर्याय कहा है। माठर[२] ने महान् के पर्यायों को भी उपस्थित किया है। जयमंगलाकार[३] ने अहंकार, इन्द्रियों तथा तन्मात्रों के पर्यायों को बतलाया है। युक्तिदीपिकाकार[४] ने प्रकृति तथा महत् के बीच किसी एक और तत्त्व का संकेत किया है। पञ्चतन्मात्रों से पञ्चमहाभूतों के विकास के सम्बन्ध में आचार्यों में मतभेद है। गौड़पाद[५] का कहना है कि ये पञ्चमहाभूत पृथक्-पृथक् तन्मात्रों से पृथक् रूप में विकसित होते हैं। माठर, वाचस्पतिमिश्र, जयमंगलाकार[६] आदि की यह मान्यता है कि पूर्व तन्मात्रों से युक्त होकर ही अगली तन्मात्रा अपने विशेष को उत्पन्न करती है। योगसूत्रकार[७] की भी यही मान्यता है।

टिप्पणी—तन्मात्रों से पञ्चमहाभूतों के विकास की शृङ्खलाविषयक वाचस्पतिमिश्र आदि आचार्यो का विचार संगत नहीं है, क्योंकि यहाँ कार्य कारण का स्थूल रूप है।

पूर्व कारिका में प्रकृति के महदादि कार्यों की शृंखला का विवेचन किया गया है। अब प्रकृति के प्रथम विकार महत् का लक्षण तथा उसके सात्त्विक-तामस रूपों की विवेचना करते हैं—

अध्यवसायोबुद्धिर्धर्मो ज्ञानं बिराग ऐश्वर्यम्।
सात्त्विकमेतद्रूपं तामसमस्माद्विपर्यस्तम् ॥२३॥

अनुवाद—अध्यवसाय ही बुद्धि है। धर्म, ज्ञान, वैराग्य तथा ऐश्वर्य इसके सात्त्विक रूप हैं तथा इसके विपरीत अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य और अनैश्वर्य इसके तामस रूप हैं।

---

१. प्रकृतिः प्रधानमधिकुरुते। ब्रह्म अव्यक्तं बहुधात्मकं मायेतिपर्यायाः। मा० गौ०

२. महान् बुद्धिः मतिः प्रज्ञा, संवित्तिः, ख्यातिः, चितिः, स्मृतिरासुरी, हरिः, हरः हिरण्यगर्भ इति पर्यायाः। माठर०

३. बुद्धिर्मतिः प्रत्यय उपलब्धिरिति बुद्धिपर्यायाः। अहङ्कार सुपर्णपणि तानिहृषीकाणीन्द्रियाणीति पर्यायाः। सूक्ष्मा, अतिशया, अणवः इति तन्मात्रपर्यायाः। जय०

४. केचिदाहुः प्रधानादनिर्देश्य स्वरूपम् तत्त्वान्तरमुत्पद्यते। ततोमहानिति। यु०

५. एवं पञ्चभ्यः परमाणुभ्यः—पंचमहाभूतान्युत्पद्यन्ते। गौ०

६. तेभ्य एकोत्तरवृद्ध्या पंचमहाभूतानि भवन्ति। जय०

७. योगसूत्र २।१९

व्याख्या—अध्यवसाय का अर्थ है 'निश्चय'। मनुष्य किसी विषय का निश्चयात्मक ज्ञान बुद्धि के द्वारा प्राप्त करता है। वेदविहित कर्मों की ओर मनुष्य की प्रवृत्ति का होना बुद्धि के सात्त्विक रूप धर्म का स्वरूप है। यथा यज्ञादि के अनुष्ठान में प्रवृत्ति का होना। तत्त्वों के अभ्यास से अहं भाव का समाप्त हो जाना ही बुद्धि का ज्ञान रूप है। सांसारिक वस्तुओं में विरक्ति का भाव होना ही बुद्धि का विराग रूप है। सर्व समर्थ होना बुद्धि का ऐश्वर्य रूप है।

विशेष—वाचस्पतिमिश्र[1] के अनुसार जो बुद्धि का 'निश्चय' है और जिसे वह चेतन पुरुष के सानिध्य से चैतन्यवती होकर करती है वही 'अध्यवसाय' है। आचार्य माठर[2] ने वर्णाश्रम व्यवस्था के अनुकूल यम-नियम के लक्षण को जयमंगलाकार[3] ने अनिर्विषय अनुष्ठानात्मक अध्यवसाय को, गौड़पाद[4] ने दया-दान-यम-नियम के लक्षण को धर्म कहा है। वाचस्पतिमिश्र[5] का कहना है कि धर्म वह है जो लौकिक सुख और पारलौकिक कल्याण का कारण बनता है। नारायणतीर्थ[6] ने धर्म से गंगा स्नान तथा अष्टांगयोग अर्थ ग्रहण किया है। आचार्य माठर[7] तथा गौड़पाद के अनुसार बाह्य और आभ्यन्तर भेंद से ज्ञान दो प्रकार का होता है। गणित, व्याकरण, शिक्षा, कल्पादि शास्त्रों का ज्ञान बाह्य ज्ञान है तथा प्रकृति-पुरुष का भेद ज्ञान आभ्यन्तर ज्ञान है। माठर तथा गौड़पाद ने विराग के भी दो भेंद माने हैं। लौकिक विषयों के उपार्जन, रक्षण एवं क्षय आदि में हिंसादि दोष देखकर उनके प्रति विरक्ति का भाव बाह्य वैराग्य है। आभ्यन्तर वैराग्य मोक्ष की इच्छा रखने वाले विरक्त व्यक्ति के उस अवस्था को कहते हैं जबकि वह

---

१. चितिसन्निधानादापन्न चैतन्याया बुद्धेः, सोऽध्यवसायः। सां० त० कौ०

२. तत्रधर्मोनाम वर्णिनामाश्रमिणां च समया विरोधेन यः प्रोक्तो यमनियमलक्षणः स धर्मः। माठर०

३. तत्र धर्मोनाम-दयादानयमनियमलक्षणः। गौ०

४. तत्रयोऽयमनिर्विषयमनुष्ठानात्मकोऽध्यवसायः स धर्मः। जय०

५. धर्मोऽभ्युदयनिःश्रेयसहेतुः। सां० त० कौ०

६. धर्मोगङ्गास्नानादि जन्योऽष्टाङ्गयोगजन्यश्च। सां० चन्द्रिका

७. अधुनाज्ञानमाह—ज्ञानं द्विविधं। वाह्यमाभ्यन्तरं च। तत्र वाह्यम्—वीणापणव गधर्व चित्रकथागणितव्याकरणशास्त्राणि-आभ्यन्तरम्—गुणपुरुषान्तरोपलब्धिः लक्षणम्। माठर०

विषयों को स्वप्न या इन्द्रजाल की तरह समझने लगता है। जयमंगलाकार[१] के अनुसार विषय शरीर एवं इन्द्रियों में दोष देखकर उनके प्रति विमुखता ही वैराग्य है तथा उनमें अभिलाषा का बना रहना ही राग है। वाचस्पति-मिश्र[२] के अनुसार विराग का अर्थ वहाँ वैराग्य है जो राग का अभाव है। योगसूत्र[३] में सुख को प्राप्त करने की कामना को राग कहा गया है। पतञ्जलि[४] का कहना है कि लौकिक तथा पारलौकिक विषयों की तृष्णा समाप्त हो जाने पर चित्त का पूर्ण रूप से वश में हो जाना वैराग्य है। आचार्य माठर तथा[५] गौड़पाद ने ऐश्वर्य का अर्थ ईश्वरभाव किया है। आचार्यों ने मनोवाञ्छित सफलता के निमित्त अणिमादि सिद्धियों को ऐश्वर्य रूप कहा है। भागवत[६] के एकादश स्कंध के एक श्लोक में धर्म, ज्ञान, वैराग्य एवं ऐश्वर्य—इन चारों का बड़ा ही संक्षिप्त किन्तु सारगर्भित लक्षण दिया गया है।

टिप्पणी—वाचस्पतिमिश्र-कृत बुद्धि के अध्यवसाय रूप की व्याख्या न्याय से प्रभावित है। माठर तथा गौड़पाद कृत ज्ञान तथा वैराग्य का द्विविध विभाजन संगत नहीं है।

पूर्व कारिका में बुद्धि (महत्) तथा उसके आठ रूपों का निरूपण हुआ है। अब उसके विकार (कार्य) अहंकार का लक्षण कहते हैं—

अभिमानोऽहङ्कारस्तस्माद् द्विविधः प्रवर्तते सर्गः।
एकादशकश्च गणस्तन्मात्रपञ्चकश्चैव[७] ॥२४॥

अनुवाद—'मैं' इस प्रकार के अभिमान को अहङ्कार कहते हैं। उससे दो ही प्रकार के परिणाम प्रवृत्त होते हैं। एक तो ग्यारह इन्द्रियों का समूह और दूसरा तन्मात्रों का।

---

१. विषयशरीरेन्द्रियेभ्यो दोषदर्शनाद्वैमुख्यं विरागः। तेष्वभिलाषो रागः। जय०

२. विरागो वैराग्यं रागाभावः। सां० त० कौ०

३. सुखानुशयी रागः। योगसूत्र २।७

४. दृष्टानुश्रविक वितृष्णस्य वशीकार संज्ञा वैराग्यम्। योगसूत्र १।१५

५. ऐश्वर्यं ईश्वरभावेनेत्यष्ठविधम्। अणिमा, लघिमा, गरिमा, महिमा, प्राप्तिः प्राकम्यमीशित्वं, वशित्वं यत्र कामावसायित्वमिति। माठर०

६. धर्मोमद्भक्तिकृत प्रोक्तो, ज्ञानश्चैकात्म्यदर्शनम्,
गुणेष्वसङ्गो वैराग्यमैश्वर्यं चाणिमादयः।

७. (i) ऐन्द्रिय एकादशकस्तन्मात्रपञ्चकश्चैव। युक्ति० माठर०
(ii) एकदशकश्च गणस्तन्मात्रः पञ्चकश्चैव। गौड़पाद

व्याख्या—'अहंकार' बुद्धि का स्थूल रूप है। बुद्धि की अपेक्षा इसकी स्थूलता को देखकर बुद्धि को अहंकार का कारण कहा जाता है। जो यह गृहीत है और विचारित विषय है। इसमें मैं ही अधिकृत हूँ, मैं ही इसे करने में समर्थ हूँ, ये विषय मेरे लिए हैं। मेरे अतिरिक्त अन्य कोई इसमें अधिकृत नहीं है। अतः मैं ही (अधिकृत) हूँ—इस प्रकार का यह अभिमान 'अहंकार' का असाधारण कार्य होने के कारण 'अहंकार' है[1]। अहंकार से दो प्रकार के परिणाम प्रवृत्त होते हैं—एक ग्यारह इन्द्रियों का समूह और दूसरा पञ्चतन्मात्रों का। एकादशकश्चगणः का उल्लेख करके कारिकाकारने मन और इन्द्रिय को एक जातीय माना है। मन की जो इन्द्रियरूपता है, वह वस्तुतः इन्द्रियाधीशता है। 'एव' पद इस बात पर बल देता है कि अहंकार से केवल दो प्रकार के कार्य ही प्रवृत्त होते हैं, उनके अतिरिक्त कोई नहीं। अहंकार के कार्यों को दो भागों में इसलिए विभक्त किया गया है कि इंद्रियाँ केवल कार्य हैं, जबकि पञ्चतन्मात्र कार्य होने के साथ-साथ पञ्चमहाभूतों के कारण भी हैं। इन्द्रियाँ विषयी हैं और तन्मात्र विषय।

विशेष—जयमंगलाकार[2] ने अभिमति को 'अभिमान' कहा है तथा तन्मात्र का अर्थ स्वरूपमात्र किया है। आचार्य माठर[3] ने अभिमान की व्याख्या की है।

टिप्पणी—अहंकार इन्द्रियों एवं तन्मात्रों का सूक्ष्म रूप है।

एक ही अहंकार से दो प्रकार के कार्य (विषयी और विषय) किस प्रकार प्रवृत्त होते हैं। कहते हैं—

सात्त्विक एकादशकः प्रवर्तते वैकृतादहङ्कारात्।
भूतादेस्तान्मात्रः[4] स तामसस्तैजसादुभयम् ॥२५॥

अनुवाद—वैकृत् अहंकार से सात्त्विक ग्यारह इंद्रियों का समूह तामस अहंकार से पञ्चमहाभूतों के कारण भूत पञ्चतन्मात्रों का समूह प्रवृत्त होता है तथा राजस अहंकार से दोनों ही प्रवृत्त होते हैं।

---

१. सां० त० कौ० प्रभा, पृ० २३४

२. अभिमतिरभिमानः। तन्मात्रतस्मादत्र (तन्मात्र) शब्दादि स्वरूपमात्र इत्यर्थः। जयमंगला०

३. रूपे अहम् रसे अहम् गन्धे अहम्, अहं विद्वान्, अहं दर्शनीय इत्येवमाद्यभिमानोऽहङ्कारः। माठर०

४. तन्मात्रः माठर०, जय०, सां० त० कौ०

व्याख्या—जिस अहंकार[1] में रजस् और तमस् को दबाकर सत्त्वगुण की प्रधानता होती है, उस अहंकार को आचार्यों ने वैकृतिक संज्ञा दी है। सत्त्व-गुण की प्रधानता से ही एकादश इन्द्रियों का समूह सात्त्विक कहलाता है। सात्त्विक होने के कारण ही इन्द्रियां अपने-अपने विषयों को ग्रहण करने में समर्थ होती हैं। भूतादेः[2] पद का अर्थ है भूतों का कारण अर्थात् पंचतन्मात्र। इस प्रकार तामस अहंकार से पञ्चतन्मात्रों का समूह प्रवृत्त होता है। तमस्-गुण की प्रधानता के कारण ये तामस कहे जाते हैं। चूँकि राजस उत्प्रेरक या क्रियाशील होने के कारण सात्त्विक और तामस दोनों को गति देता है। इसलिए राजस् अहंकार से दोनों के प्रवृत्त होने की बात कही गयी है।

विशेष—आचार्यों ने 'भूतादेः'[3] पद का अर्थ भूनादि नामक तामस अहंकार किया है। डॉ० रामशंकर भट्टाचार्य[4] कहते हैं कि बाह्य विषय एवं इनके ग्राहक (प्रकाशक और चालक) इन्द्रियाँ एक कारणक हैं। चूँकि भूतादि भी अहंकारमूलक है और इन्द्रियाँ भी अहंकारमूलक हैं। अतः दोनों में सजातीयता है, सादृश्य है। यही कारण है कि ग्राह्य विषय इन्द्रियों द्वारा ही गृहीत होते हैं। यदि इन्द्रिय और विषय मूलतः विजातीय होते तो इन्द्रियों द्वारा विषयों का प्रकाशन और चालन नहीं होता।

टिप्पणी—भूतादि नामक कोई अहंकार नहीं। पञ्चमहाभूतों का कारण होने के कारण ही तन्मात्रों को 'भूतादि' कहा जाता है। डॉ० रामशंकर भट्टाचार्य का रचनात्मक प्रयास प्रशंसनीय एवं अनुकरणीय है।

अहंकार के द्विविध परिणामों की विवेचना के बाद अब कर्मेंद्रियों तथा ज्ञानेन्द्रियों का नामतः परिगणन करते हैं—

बुद्धीन्द्रियाणि चक्षुः श्रोत्रघ्राणरसनत्वगाख्यानि।
वाक्पाणिपादपायूपस्थान्[5] कर्मेन्द्रियाण्याहुः ॥२६॥

---

१. यदासत्त्वमुत्कटं भवति अहङ्कारे तेन च सत्त्वेन रजस्तमसीअभिभूतेस्यातां तदा सात्त्विकोहङ्कार उच्यते। तस्य सात्त्विकस्य वैकृतिक इति पूर्वाचार्यैः संज्ञा कृता। माठर०

२. भूतानामादिभूतः। गौ०

३. भूतादेस्तमोवाहुल्याद् गौणीभूतसत्त्वरजसो भूतादिनाम्नः पूर्वाचार्यैर्निरूपिता। माठर०

भूतादेस्तामसादहङ्कारात्तन्मात्रः स तामसः। जय०

भूतादेस्त्वहङ्कारात्तामसात्तन्मात्रो गणः प्रवर्तते। सां० त० कौ०

४. सां० त० कौ० ज्योतिष्मती, पृ० १८५

५. वाक्पाणिपादपायूपस्थाः—यु०

अनुवाद—चक्षु, श्रोत, घ्राण, रसन तथा त्वक् नामक पांच ज्ञानेन्द्रियाँ और वाक्, पाणि (हाथ) पाद, पायु (मलत्यागेन्द्रिय) उपस्थ (जनेन्द्रिय) पाँच कर्मेन्द्रियाँ कही गयी हैं।

व्याख्या—कारिका में बुद्धि शब्द ज्ञान का वाचक है। चक्षु श्रोत्रादि पांच ज्ञानेंद्रियां तथा वाक्, पाणि आदि पंच कर्मेंद्रियाँ हैं। ये इन्द्रियां सर्वसाधारण प्राणिगत हैं। देव, तिर्यक् और मनुष्य जाति में ये इन्द्रियाँ प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में विद्यमान हैं। इन इंद्रियों के व्यापार प्राणियों के स्वभाव के अनुसार हुआ करते हैं। विभिन्न प्राणियों के इन्द्रिय व्यापार और विषय शरीर भेद के कारण भिन्न-भिन्न हुआ करते है, जबकि मौलिक रूप में वे समान हैं। चूँकि कैवल्य की प्राप्ति जो, सांख्य-शास्त्र का मूल उद्देश्य है, मनुष्य शरीर से ही संभव है। अतएव इंद्रियों का यहाँ जो विवेचन हुआ है उसे मानव शरीर के परिप्रेक्ष्य में ही समझना चाहिये।

विशेष—आचार्य माठर[1] के अनुसार जो विषयों के ग्रहण में प्रवृत्त होती है उन्हें ही इन्द्रिय कहा जाता है। जिनसे शब्दादि का ज्ञान हो उन्हें ज्ञानेन्द्रियाँ तथा जो कर्म में प्रवृत्त होती है, उन्हें कर्मेंद्रियाँ कहते हैं। जयमंगलाकार[2] का कथन है कि जो बुद्धिपूर्वक अपने अर्थ का आलोचन करती हैं, वे ज्ञानेन्द्रियाँ हैं तथा जो कर्म से सम्बन्धित हैं वे कर्मेंद्रियाँ। वाचस्पतिमिश्र[3] का मत है कि जिसकी उत्पत्ति में सात्त्विक अहंकार उपादान कारण हो वह इंद्रिय है। उनके अनुसार दोनों ही प्रकार की इन्द्रियाँ इन्द्र अर्थात् आत्मा के लिंग होने के कारण इन्द्रिय कहलाती हैं।

टिप्पणी—इन्द्रियों के स्वरूप के सम्बन्ध आचार्य माठर का व्याख्यान मौलिक है। वाचस्पतिमिश्र का सुझाव मान्य नहीं।

अब इन्द्रियाधीश मन का निरूपण करते हैं—

उभयात्मकमत्र मनः संकल्पकमिन्द्रियं च साधर्म्यात्।
गुणपरिणामविशेषान्नानात्वं ग्राह्यभेदाच्च[4] ॥२७॥

---

१. इन इति विषयाणाणां नाम, तानिनः विषयान् प्रतिद्रवन्तीति इन्द्रियाणि। श्रोत्रादीनि बुद्धिन्द्रियाणीति उच्यन्ते शब्द स्पर्श रूपरसगन्धान् बुद्धयन्ति इति बुद्धिन्द्रियाणि। कर्मं कुर्वन्ति कारयन्ति च कर्मेंद्रियाणां वृत्तिः। माठर०

२. बुद्धिपूर्वकमर्थालोचनमिति बुद्धीन्द्रियाण्याहुः सांख्याचार्याः। कर्मेन्द्रियाणि कर्माभिनिर्वतनात्। जय०

३. सात्त्विकाहङ्कारोपादानकत्वमिन्द्रियत्वम्। उभयमप्येत् इन्द्रस्यात्मनाश्चिह्नत्वादिन्द्रिय मुच्यते। सां० त० कौ०

४. बाह्यभेदाश्च, गौ० यु०, जय०, सां० त० कौ०

अनुवाद—यहाँ संकल्प करने वाला मन उभयात्मक है। इंद्रियों के सजातीय होने से इंद्रिय भी है। गुणों के परिणाम विशेष से तथा (इंद्रियों के) ग्राह्य भेद से मन अनेक रूपों वाला हो जाता है।

व्याख्या—ग्यारह इन्द्रियों में मन दोनों प्रकार का इंद्रिय है क्योंकि मन से संयुक्त होकर चक्षु इत्यादि ज्ञानेन्द्रियाँ तथा वाक् इत्यादि कर्मेन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों में प्रवृत्त होती हैं। अन्य इंद्रियों की भाँति यह भी सात्त्विक-अहंकार का परिणाम होने के कारण सजातीय होने से इन्द्रिय है। जीवात्मा की अनेकता का मुख्य आधार त्रिगुण भेद तथा करण भेद है। कुछ जीवात्मा सत्त्व प्रधान जैसे देवतादि, कुछ रजः प्रधान जैसे मनुष्य शेष तमस प्रधान जैसे तिर्यक् पश्वादि है। प्रत्येक जीवात्मा का स्वतंत्र शारीरिक संघटन है एवं तदनुरूप ही इनमें त्रयोदश करणों की पृथक् व्यवस्था है। प्रत्येक इन्द्रिय का विशिष्ट स्वभाव है और उसी के अनुरूप वह बाह्य विषयों को ग्रहण करती है। जीवात्मा के अनेक होने से उनकी विषयों की ग्राह्य क्षमता भी अनेक होगी। इस प्रकार इन्द्रियों के ग्राह्य क्षमता में अन्तर अवश्य होगा। चूँकि इंद्रियों द्वारा गृहीत विषयों के सम्बन्ध में ही मन संकल्प करता है। अतएव मन की संकल्प क्षमता भी अनेक होगी। इस प्रकार सत्त्वादि गुणों के वैषम्य से तथा इन्द्रियों के ग्राह्य भेद से मन अनेक रूपों में अभिव्यक्त होता है, यद्यपि वह एक है।

विशेष—मन के उभयात्मकत्व के संदर्भ में आचार्य माठर ने इस प्रकार का दृष्टान्त दिया है। यथा—देवदत्तो गोपाल मध्ये स्थितो गोपालत्व कुरुते, मल्ल मध्ये स्थितो मल्लत्वं कुरुते। सुवर्णसप्तति शास्त्र में भी इसी प्रकार का दृष्टान्त मिलता है। यथा—एकः पुरुषः कदाचित् कर्मकर उच्यते, कदाचित् प्रवक्ता एवं मन इन्द्रियमपि। गौड़पाद ने[1] संकल्प का अर्थ 'प्रवृत्ति' कल्पयति किया है। जो दोनों प्रकार के इन्द्रियों के व्यापार का निर्धारण करता है। वाचस्पतिमिश्र[2] ने इसका अर्थ विशेषण विशेष्य भाव से विवेचन करना किया है। सूर्यनारायण[3] ने वाचस्पति की व्याख्या को संगत माना है। उनका कहना है कि मन इन्द्रियों द्वारा गृहीत विषयों पर संकल्प कर सकता है। इतर विषयों पर नहीं। डॉ० रामशंकर भट्टाचार्य[4] का मत है कि बाह्येन्द्रिय

---

१. बुद्धीन्द्रियाणां प्रवृत्ति कल्पयति, कर्मेन्द्रियाणां च। गौ०

२. सम्यक्कल्पयति विशेषण विशेष्य भावेन विवेचयति। सां० त० कौ०

३. Samkhya. Karika, PP. 61–62

४. सां० त० कौ० ज्योतिष्मती, पृ० १९९

साध्य विषय ज्ञान होने पर उन ज्ञानों को लेकर पूर्वानुभूत विषयों को मिलाकर जो चिन्तन होता रहता है, वह संकल्प है। स्मृति की सहायता से अतीत ज्ञान के साथ वर्तमान ज्ञान का संयोजन करना मुख्य संकल्प है। वाचस्पतिमिश्र[1] ने अदृष्ट की विभिन्नता को गुणों का परिणाम कहा है। अन्य व्याख्याकारों ने 'गुण परिणाम विशेष'[2] का अर्थ 'त्रिगुण परिणाम विशेष' किया है। आचार्य[3] माठर एवं गौड़पाद का मत है कि यह नानात्व न तो ईश्वर ने किया है, न अहङ्कार ने न बुद्धि ने और न पुरुष ने, बल्कि स्वभाव से ही होने वाले गुणों के परिणाम से ही यह होता है। निष्कर्ष रूप में आचार्यो का यही कथन है कि चूँकि बाह्य विषय अनेक हैं। अतएव उनके ग्राहक इन्द्रियाँ भी अनेक होगी।

टिप्पणी—प्रकृत कारिका इन्द्रियाधीश मन की व्याख्या के लिए प्रवृत्त हुई हैं। नानात्व से एकादश इन्द्रियों की व्याख्या संगत नहीं प्रतीत होती। भट्टाचार्य का कथन अधिक संगत है।

इस प्रकार ग्यारह इन्द्रियों के स्वरूप का उल्लेख करके अब दस इन्द्रियों (पाँच ज्ञानेन्द्रियों और पाँच कर्मेन्द्रियों) के असाधारण व्यापारों का निर्देश करते हैं—

रूपादिषु पञ्चानामालोचनमात्रमिष्यते वृत्तिः।
वचनादानविहरणोत्सर्गानन्दाश्च पञ्चानाम् ॥२८॥

अनुवाद—रूप, रस इत्यादि पाँचों विषयों का केवल "आलोचन" पाँच ज्ञानेन्द्रियों का व्यापार कहा जाता है, तथा भाषण, ग्रहण, गमन, मल, त्याग और रमण पाँच कर्मेन्द्रियों के व्यापार कहे जाते हैं।

व्याख्या—चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, त्वक्—ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। इनके विषय क्रमशः रूप, शब्द, गंध, रस तथा स्पर्श हैं। इस प्रकार चक्षु आदि ज्ञानेन्द्रियों का रूपादि विषयों के प्रति जो व्यापार है, वह केवल आलोचन कहा जाता है। सही निश्चयात्मक ज्ञान के लिए मन अहङ्कार

---

१. अदृष्टभेदोऽपि गुणपरिणाम एव। सां० त० कौ०

२. सत्त्वादयस्त्रयो गुणास्ते यथा परिणमन्ति तस्माद् गुणपरिणामविशेषादि मान्येकादशेन्द्रियाणिनाना। मा०

३. अथैतन्नानात्वं नेश्वरेण न बुद्ध्या नाहङ्कारेण न प्रधानेन न पुरुषेण न स्वभावेन कृतम्, गुणपरिणामेनेति। मा० गौ०

और बुद्धि भी भागीदार बनते हैं। कर्मेन्द्रियों में वाक् का व्यापार वचन, हाथ का ग्रहण, पैर का गमन, पायु का मल-मूत्रादि का त्याग तथा उपस्थ का कार्य आनन्द है, जो मूत्र त्याग और रमण में सम्पन्न होता है।

विशेष—आचार्य माठर[1] तथा गौड़पाद ने आलोचन मात्र से विशिष्ट इन्द्रिय से विशिष्ट विषय का ग्रहण अर्थ किया है। जयमंगलाकार[2] ने मात्र विषय प्रकाशन तथा नारायणतीर्थ[3] ने निर्विकल्पक अर्थ किया है। वाचस्पतिमिश्र के[4] अनुसार ज्ञानेन्द्रियों द्वारा अविविक्त वस्तु का अस्पष्ट या निर्विकल्प प्रत्यक्ष ज्ञान आलोचन है। जयमंगलाकार[5] ने उपस्थ को वीर्यस्खलन रूप वृत्ति तथा गौड़पाद[6] ने सुतोत्पत्ति विषयक वृत्ति कहा है। डॉ० रामशंकर भट्टाचार्य[7] के अनुसार शब्दादि गुणों में कर्ण आदि ज्ञानेन्द्रियों की जो वृत्ति है वह आलोचन कहलाता है। यह आलोचन नाम जाति के सम्बन्ध से शून्य है। मुसलगाँवकर[8] का कहना है कि रूप, रस, गंधादि विषयों को सामान्य रूप से जानना ही आलोचन है। ब्रजमोहन चतुर्वेदी[9] कहना चाहते हैं कि कारिका में 'आलोचन' पद का अर्थ का ज्ञान नहीं अपितु प्रकाश मात्र है।

टिप्पणी—बाह्य विषयों के ग्रहण में समर्थ होने पर इन्द्रियों से सही एवं सार्थक ज्ञान नहीं होता।

त्रयोदश करणों का विवेचन करने के बाद अब अन्तःकरणों के असाधारण व्यापार तथा सभी करणों के सामान्य व्यापार का निरूपण करते हैं—

स्वालक्षण्यं वृत्तिस्त्रयस्य सैषा भवत्यसामान्या।
सामान्यकरणवृत्तिः प्राणाद्या वायवः पञ्च ॥२९॥

---

१. एकैकस्य प्रतीन्द्रियं स्वविषयग्रहणसामर्थ्यमेव। मा०
मात्रशब्दो विशेषार्थोऽविशेषव्यावृत्त्यर्थो:। गौ०

२. श्रोत्रादीनि हि विषयस्य प्रकाशनमात्रं कुर्वन्ति। जय०

३. आलोचनं निर्विकल्पकं। सां० चं०

४. सां० त० कौ० प्रभा पृ० २४८

५. शुक्रविसृष्टि संसृष्टि सुखं। जय०

६. सुतोत्पत्तिविषयावृत्ति। गौ०

७. सां० त० कौ० ज्योतिष्मती पृ० २०३

८. सां० त० कौ० तत्त्वप्रकाशिका पृ० १९४

९. सांख्यकारिका बसुमतिव्याख्या पृ० १७२

अनुवाद—तीनों अन्तःकरणों के अपने-अपने लक्षण ही व्यापार हैं और यह व्यापार असाधारण होता है। प्राणादि पाँच वायु सब करणों के सामान्य व्यापार हैं।

व्याख्या—अतःकरणों में जिसका जो लक्षण है, वही उसका व्यापार है। अध्यवसाय ही बुद्धि का लक्षण है। अतएव वही बुद्धि का व्यापार हुआ। अभिमान ही अहंकार का लक्षण है। अतः वही उनका व्यापार हुआ। संकल्प ही मन का लक्षण है। अतएव वही उसका व्यापार हुआ। बुद्धि, अहंकार और मन इन तीनों का स्वलक्षणात्मक व्यापार असाधारण होता है। असाधारण होने का तात्पर्य यह है कि बुद्धि निश्चय कर सकती है, अभिमान या संकल्प नहीं। इसी प्रकार अन्य करणों ने लिए भी समझना चाहिये। प्राण वह जीवनी शक्ति है, जो प्राणियों के शरीर का निर्माण, वर्धन तथा पोषण करती है। मनुष्यादि शरीरों को जीवित रखने के लिए प्राणवायु रूप में सहायक होता है। यह हवा या गैस जैसी कोई चीज नहीं हैं। प्राण, आपान, समान, उदान और ब्यान यहीं पञ्च वायु हैं। 'सामान्य करण' में करणों से तात्पर्य त्रयोदश करणों से है। इस विषय[२] में श्रुति भी प्रमाण है।

विशेष—सामान्य करण में 'करण' पद का अर्थ वाचस्पति मिश्र[३] ने केवल अन्तःकरण किया है, जबकि अन्य आचार्यों ने इसका अर्थ त्रयोदश-करण किया है। करणों के साथ पांच वायु की वृत्ति की व्याख्या में आचार्यों के शुक और पिजरे का दृष्टान्त दिया है।[४]

---

१. स्वालक्षण्या—मा०

२. वृ० उ० १।३।६–१७

३. त्रयाणामपि करणानां पञ्चवायवो जीवनं वृत्तिः। सां० त० कौ०

४. त्रयोदशविधेनकरणेन कृतम्। ययश्चैनं तस्मात् प्राणकर्म सर्वस्य करण ग्रामस्य-वृत्तिः सामान्या। यथा कस्मिश्चिद् राजगृहे पंजरे शुकाः प्रतिवसन्ति। ओदनं दृष्ट्वा सर्वे प्रचलिताः तदा पंजरकमपि चलितम्। मा०

यथा पञ्जरे शुकः। शुकचलनात् पञ्जरं चलति तथा इन्द्रियाण्यपि। प्राणवायु-चलनात् त्रयोदशेन्द्रियाणि सर्वाणिचलन्ति। सुवर्णपप्ततिशास्त्रम्

एतेत्रयोदशानामपि करणानां सामान्यवृत्तिः। जय०

त्रयोदशविधस्यापि करणसामान्यावृत्तिरित्यर्थः। प्राणोऽपि पञ्चरशकुनिवत् सर्वस्य चलनं करोतीति। गौ०

टिप्पणी—पञ्च प्राण बाह्य रूप में त्रयोदश करणों के व्यापार हैं, केवल अन्तः करणों के नहीं।

अब त्रयोदशकरणों में चारों का व्यापार किस प्रकार होता है। कहते हैं—

युगपच्चतुष्टयस्य तु वृत्तिः क्रमशश्च तस्य निर्दिष्टा।
दृष्टे तथाप्यदृष्टे त्रयस्य तत्पूर्विका वृत्तिः ॥३०॥

अनुवाद—प्रत्यक्ष के विषय में चारों एक साथ प्रवृत्त होते हैं तथा उनका निर्देश क्रमशः होता है, किन्तु अदृष्ट के विषय में तीनों का इन्द्रिय पूर्वक ही व्यापार होता है।

व्याख्या—बुद्धि, अहंकार और मन, एक इन्द्रिय के साथ मिलकर चार कहे जाते हैं। ये चारो किसी विषय के प्रत्यक्ष ज्ञान में एक साथ प्रवृत्त होते हैं। जैसे—बुद्धि, अहंकार और मन चक्षु इन्द्रिय के साथ मिलकर रूप के निश्चयात्मक ज्ञान में एक साथ प्रवृत्त होते हैं। इसी प्रकार अन्य इन्द्रियों श्रोत्र, घ्राणादि तथा उनके विषयो शब्द गंधादि के ज्ञान के सम्बन्ध में समझना चाहिये। यहाँ युगपत् के साथ तु निश्चयात्मक अर्थ का बोधक है।

काल विशेष में जब कोई बाह्येन्द्रिय विषय से संयुक्त होती है तब उसके साथ ही मन, अहंकार और बुद्धि भी संयुक्त हो जाते हैं। तीनों अन्तःकरण तथा एक इन्द्रिय का निर्देश क्रमशः होता है अर्थात् पहले वह इन्द्रिय बाह्य विषय के संयुक्त होती है, फिर मन संकल्प करता है, अहंकार अभिमान करता है, तब बुद्धि निश्चय करती है। यह कार्य इतना शीघ्र होता है कि सामान्य रूप से यह ज्ञात होता है कि चारों करण एक साथ ही प्रवृत्त होते हैं। जहाँ तक अप्रत्यक्ष विषयों का सम्बन्ध है, उनके सम्बन्ध में तीनों अन्तः-करणों का व्यापार इन्द्रियपूर्वक होता है। अप्रत्यक्ष में बाह्य इन्द्रिय का सम्बन्ध नहीं रहता परन्तु वह विषय पहले से ही अनुभूत या ज्ञात रहता है। रूप ज्ञान में तीनों अन्तःकरण चक्षु पूर्वक ही प्रवृत्त होते हैं। इसी प्रकार अन्य के सम्बन्ध में समझना चाहिये। 'तथापि' पद अदृष्ट को दृष्ट से पृथक् करता है। 'तद्' पद उस विशिष्ट इन्द्रिय के लिए प्रयुक्त हुआ है, जो कभी उस विषय के साथ संयुक्त रहा हो।

विशेष—करणों के क्रमिक व्यापार तथा युगपत् व्यापार के सम्बन्ध में व्याख्याकारों में मतभेद है। आचार्य माठर[1] तथा युक्तिदीपिकाकार का

---

१ बुद्ध्यहङ्कारमनश्चक्षुश्चतुष्टयस्य क्रमशोवृत्तिर्भवति। द्वारिद्वारविभागोपदेशाद् ह्रस्वकालाद् विभागो न शक्यते वक्तुं ततो युगपदित्युच्यते यथा वालपत्रशतं

मत है कि करणों का व्यापार क्रमशः ही होता है। करणों की वृत्तियों के बीच समय का व्यवधान इतना कम रहता है कि इस क्रम का बोध नहीं हो पाता। गौड़पाद[1] ने प्रत्यक्ष में युगपत् और क्रमशः दोनों वृत्तियों को तथा अप्रत्यक्ष में क्रमशः वृत्ति को स्वीकार किया है। जय मंगलाकार[2] तथा वाचस्पतिमिश्र[3] ने दृष्ट तथा अदृष्ट में दोनों व्यापारों को युक्तिसंगत माना है। नारायणतीर्थ की भी यही मान्यता है। सांख्य सूत्र[4] में भी क्रम और अक्रम दोनों व्यापार कहे गये हैं। सांख्य सूत्रों के टीकाकार अनिरुद्ध[5] ने युगपत् व्यापार को सार्थक नहीं माना है, जबकि विज्ञानभिक्षु[6] क्रम तथा अक्रम दोनों व्यापारों को वास्तविक मानते हैं।

टिप्पणी—यद्यपि चारों करणों का व्यापार एक साथ होता है परन्तु उनका निर्देश क्रमशः ही होता है। वाचस्पति मिश्र तथा अन्य आचार्यों के करणों के प्रवृत्ति विषयक विचारों से अनेक भ्रान्तियाँ उत्पन्न हो सकती हैं। आचार्यों का यह कथन संगत है कि चित्चाञ्चल्य से करणों की प्रवृत्तियाँ युगपत् ही जान पड़ती हैं।

करणों की प्रवृत्ति का निरूपण करने के बाद उनकी प्रवृत्ति क्यों होती है? क्या इसमें कोई प्रेरक तत्त्व भी हैं? इसे कहते हैं—

स्वां स्वां प्रतिपद्यन्ते परस्पराकूतहेतुकां वृत्तिम्।
पुरुषार्थ एव हेतुर्न केनचित् कार्यते करणम् ॥३१॥

अनुवाद—ये करण पारस्परिक अभिप्राय या संकेत के कारण अपने-अपने व्यापार में प्रवृत्त होते हैं। करणों की इस व्यापारशीलता में पुरुषार्थ ही एकमात्र कारण है, अन्य कोई प्रयोजक या कारण नहीं है।

सूच्यग्रेण विद्धमिति। मा०

मेघस्तनितादिषु क्रमानमुगतेर्युगपच्चतुष्टयस्य वृत्तिरित्येतदयुक्तम्। यु० दी०

१. अनागते भविष्यतिकालेऽतीते च तत्पूर्विका क्रमशः वृत्तिः वर्तमाने युगपत् क्रमशश्चेति। गौ०

२. जय० का० ३०

३. सां० त० कौ० का० ३०

४. क्रमशोऽक्रमश्चेन्द्रियवृत्तिः सां० सू० २।३२

५. सां० सू० वृत्ति २।३२

६. सां० प्र० भा० २।३२

व्याख्या—बाह्यान्तःकरण त्रयोदश हैं। पुरुषार्थ का अर्थ है प्रयोजन। प्रयोजन भोग और कैवल्य दो हैं। इन द्विविध प्रयोजनों की सिद्धि के लिए सभी करण अपने-अपने व्यापार में स्वतः प्रवृत्त होते हैं। इनका पारस्परिक प्रवृत्त होना साभिप्राय है। जैसे—रूप-ज्ञान में पहले चक्षु बाह्येन्द्रिय प्रवृत्त होती है, पुनः मन संकल्प करता है, अहंकार अभिमान करता है तथा बुद्धि निश्चय करती है कि यह अमुक वस्तु है। इन करणों की व्यापारशीलता में कोई बाह्य प्रेरक या प्रयोजक तत्त्व नहीं है। इस कारण कारिकाकार ने 'पुरुषार्थ एव' पद रखा है कि कहीं चिद्रूप पुरुष को भूल से अध्येता-प्रेरक तत्त्व न समझ लें।

विशेष—आकूत का अर्थ आचार्यमाठर[1] और नारायण तीर्थ ने अभिप्राय जयमंगलाकार[2] ने स्ववृत्तिभोग, गौड़पाद[3] ने आदर संभ्रम तथा वाचस्पति मिश्र[4] ने स्वकार्याभिमुख होना किया है। करण शब्द से आचार्य माठर[5] ने त्रयोदश करण, जयमंगलाकार[6] ने चतुष्टयकरण गौड़पाद[7] ने अन्तःकरण तथा वाचस्पतिमिश्र[8] ने दोनों चतुष्टय तथा अन्तःकरण अर्थ किया है। 'न केनचित् कार्यते करणम्' का अभिप्राय आचार्य माठर, गौड़पाद[9] तथा नारायणतीर्थ[10] के अनुसार यह है कि इन अचेतन करणों का प्रेरक-तत्त्व कोई विशिष्ट जीव–ईश्वर या पुरुष नहीं है। जयमंगलाकार[11] का कथन है कि प्रधान से भिन्न कोई अन्य शक्ति बुद्धि आदि करणों को उनकी

---

१. आकूतं नामाभिप्रायः। मा०, सां० चं०

२. परस्परस्य यदाकूतं स्ववृत्तिभोगस्तदेव हेतुः। जय०

३. आकूतमादरसम्भ्रमः। गौ०

४. करणस्याकूतात् स्वकार्यकरणाभिमुख्यादन्यतमं करणं प्रवर्तते। सां० त० कौ०

५. तस्मादेतत् त्रयोदशविधम् करणं पुरुषार्थः प्रवर्तयति। मा०

६. तत्रभूतां परस्पराकूत हैतुकीं वृत्ति चत्वारि करणानि प्रतिपद्यन्ते। जय०

७. पुरुषार्थकरणाय बुद्ध्यहङ्कारादयः। गौ०

८. चतुर्णां त्रयाणां वा वृत्तयो। सां० त० कौ०

९. अचेतनानि करणानि कथं प्रवर्तन्तइति। अत्र ब्रूमः न केनचित् कार्यते करणम् नेश्वरेणनापि पुरुषेण। माठर० गौ०

१०. प्रेर्यते तत्रच्छावान जीवः कर्ता आवश्यकः, ईश्वरस्तु न। सां० चं०

११. प्रधान व्यतिरेकेण न कश्चिद् बुद्ध्यादि करणं स्वां स्वां वृत्ति कारयतीत्यर्थः। प्रकृतेः सचेतनोऽधिष्ठाता कर्ताऽपरो गवेष्यत इति चेतपुरुष एवाधिष्ठाता। जय०

क्रियाओं को प्रवृत्त नहीं करती पुरुष इन क्रियाओं का कर्ता नहीं अपितु अधिष्ठाता है। वाचस्पतिमिश्र[1] कहते हैं कि करण तो अचेतन हैं अतएव स्वयं किसी क्रिया में प्रवृत्त नहीं हो सकते। इसलिए उनका कोई अधिष्ठाता होना चाहिए, जो इनके स्वरूप सामर्थ्य एवं उपभोग को समझने वाला हो और यह प्रयोजन पुरुषार्थ ही है।

टिप्पणी—करणों के अचेतन स्वरूप की सामान्यता उपलब्धि नहीं होती। क्योंकि पुरुष संयोग विहीन करणों की व्याख्या सम्भव नहीं है।

पूर्व कारिका में जिन करणों की स्वतः प्रवृत्ति का उल्लेख किया गया, उनके भेद प्रयोजन तथा संपाद्यकार्यों का विवेचन करते हैं—

करणं त्रयोदशविधं तदाहारणधारणप्रकाशकरम्।
कार्यं च तस्य दशधाऽऽहार्यं धार्यं प्रकाश्यं च ॥३२॥

अनुवाद—करण त्रयोदश हैं वह आहरण, धारण तथा प्रकाश करने वाला है। उसका आहार्य, धार्य और प्रकाश्य—प्रत्येक कार्य दश प्रकार का होता है।

व्याख्या—मन सहित एकादश इन्द्रियाँ अहङ्कार, बुद्धि-ये तेरह प्रकार के करण हैं। ये यथायोग्य आहरण, धारण तथा प्रकाशन का कार्य करते हैं। विषयों का ग्रहण दश इन्द्रियाँ (पञ्च ज्ञानेद्रिय तथा पञ्च कर्मेन्द्रिय) करती हैं। इसलिए आहरण इनका कार्य हुआ। इन्द्रियों द्वारा गृहीत विषय का मन द्वारा संकल्प तथा अहंकार द्वारा अभिमान किया जाता है। इस प्रकार मन तथा अहङ्कार धारण का कार्य करते हैं। निश्चय करने वाला तत्त्व बुद्धि है। मन तथा अहङ्कार द्वारा परीक्षित विषय का निश्चय बुद्धि ही करती है। इस प्रकार बुद्धि का कार्य प्रकाशन है। चूँकि ग्रहण का कार्य दश इन्द्रियाँ ही करती हैं, मन अहंकार तथा बुद्धि उनके द्वारा गृहीत विषय पर ही विचार करते हैं। अतएव यह आहार्य, धार्य और प्रकाश्य दश प्रकार का होता है।

विशेष—आचार्य माठर[2] के अनुसार आहरण एकादश इन्द्रियों का धारण

---

१. करणानि त्वचेतनानि, तस्मान्नैवं प्रवर्तितुमुत्सहन्ते। तेषां अधिष्ठात्रा करणानां स्वरूपसामर्थ्योपयोगाभिज्ञेन भवितव्यमित्यत आह-पुरुषार्थ एव हेतुः, सां०त०कौ०

२. तत्राहारकमिन्द्रिय लक्षणं। धारकमभिमानलक्षणं। प्रकाशकं बुद्धि लक्षणम्। मा०

अभिमान का तथा प्रकाशन बुद्धि का लक्षण है। युक्तिदीपिकाकार[1] का मत है कि आहरण कर्मेन्द्रियाँ करती हैं, धारण बुद्धेन्द्रियां तथा प्रकाशन अन्तःकरण करते हैं। गौड़पाद[2] का कहना है कि आहरण तथा धारण कर्मेन्द्रियाँ तथा प्रकाशन बुद्धेन्द्रियाँ करती हैं। जयमंगलाकार[3] के अनुसार कर्मेन्द्रियाँ आहरण का कार्य करती हैं, बुद्धि अहङ्कार, मन, धारण का कार्य करते हैं, बुद्धेन्द्रियाँ प्रकाशन का कार्य करती हैं। वाचस्पतिमिश्र तथा नारायणतीर्थ की भी यही मान्यता है। आचार्य माठर तथा गौड़पाद[4] ने बाह्येन्द्रियों, (कर्मेन्द्रियों, ज्ञानेन्द्रियों) के व्यापारों को दश प्रकार का कार्य कहा है। अन्य[5] आचार्यों ने दिव्य और अदिव्य भेद से अहार्य, धार्य और प्रकाश्य को दश प्रकार का माना है।

टिप्पणी—दश बांध्येन्यिाँ ही आहरण, मन अहंकार धारण तथा बुद्धि प्रकाशन का कार्य करती हैं। सांख्यकारिका से यह स्पष्ट है। दिव्य अदिव्य भेद निष्प्रयोजन प्रतीत होता है।

अब त्रयोदश करणों के व्याप्य धर्म का निरूपण करते हैं—

अन्तःकरणं त्रिविधं दशधा बाह्यं त्रयस्य विषयाख्यम्।
साम्प्रतकालं बाह्यं त्रिकालमाभ्यन्तरं करणम् ॥३३॥

अनुवाद—अन्तःकरण तीन प्रकार के हैं और तीनों अन्तःकरणों के विषय को उपस्थित करने वाला बाह्यकरण दश प्रकार का है। बाह्यकरण वर्तमान विषयक होते हैं और अन्तःकरण त्रिकाल विषयक।

---

१. तदाहारणं कर्मेन्द्रियाणि कुर्वन्ति विषयार्जनसमर्थत्वात्, धारणं बुद्धीन्द्रियाणि कुर्वन्ति, विषयसन्निधानेसति श्रोत्रादिवृत्तेस्तद्रूपा पत्ते, प्रकाशमन्तः करणं करोति निश्चय सामर्थ्यात्। यु०

२. तदाऽऽहारणम् धारणं कर्मेन्द्रियाणि कुर्वन्ति। प्रकाशं बुद्धीन्द्रियाणि। गौ०

३. तत्र कर्मेन्द्रियाण्याहरणं कुर्वन्ति, बुद्ध्यहङ्कार मनांसि धारणम्, बुद्धीन्द्रियाणि प्रकाशमिति। जय०, सां० त० कौ०

४. कार्यमिति शब्द स्पर्शरसरूपगंधाः पञ्च, वचनादानविहरणोत्सर्गानन्दाः पञ्च।
माठर०, गौ०

५. पूर्वे द्विविधाः सूक्ष्मास्तन्मात्र लक्षणाः सुखैकस्वभावत्भावत्वाद्दिव्या, स्थूलाकाशदयः सुखदुःखमोहात्मकत्वाददिव्या इति। जय-
ते च यथायथं दिव्यादिव्यतया दशेत्याहार्यं दशधा……। सां० त० कौ०

व्याख्या—अन्तःकरण बुद्धि, अहंकार तथा मन तीन प्रकार के हैं। बाह्यकरण दश प्रकार के हैं—ये बाह्यकरण तीनों अन्तःकरणों के विषयों को प्रस्तुत करते हैं। इस प्रकार बाह्येन्द्रियां अन्त करणों द्वारा विवेचित होने के कारण उनका विषय बन सकती हैं। बुद्धि, अहंकार तथा मन बाह्य-विषयों के सम्बन्ध में होने वाले अपने निश्चय, अभिमान तथा संकल्प इत्यादि व्यापारों के लिए बाह्येन्द्रियों पर ही आश्रित रहते हैं। किसी भी प्रकार के शब्द, रूप, रस, गन्धादि के विषय में मन के संकल्प वृत्ति का उदय होने के लिए श्रोत्र, त्वक्, रसन घ्राणेन्द्रियों का विषय बनना आवश्यक है क्योंकि इन बाह्येन्द्रियों के द्वारा ही बाह्य विषयों तक पहुँचा जा सकता है और मन के उन विषयों तक पहुँचकर संकल्प करने पर ही अहंकार अभिमान करता हैं तथा बुद्धि निश्चय करती है। बाह्येन्द्रियाँ वर्तमान काल-विषयक होती हैं, परन्तु अन्तःकरण वर्तमान के साथ अतीत और अनागत विषयों को भी ग्रहण करते हैं।

विशेष—आचार्य माठर ने विषय का अर्थ उपभोग[1], गौड़पाद[2] ने भोग एवं जयमंगलाकार[3] ने द्वार तथा भोग किया है।

टिप्पणी—सांख्य दर्शन में काल की मान्यता है, परन्तु वह प्रकृति की सत्ता में ही समाहित है।

अब ज्ञानेन्द्रियों के असाधारण विषय तथा कर्मेन्द्रियों के सामान्य बिषय का निरूपण करते हैं—

बुद्धीन्द्रियाणि तेषां पञ्च विशेषाविशेषविषयाणि।
वाग्भवति शब्दविषया शेषाणि तु[4] पञ्चविषयाणि[5] ॥३४॥

अनुवाद उन त्रयोदश करणों में पञ्च ज्ञानेन्द्रियों के पञ्च असाधारण विषय अविशेष हैं। कर्मेन्द्रियों में वाक् इन्द्रिय केवल शब्द विषया होती है, शेष पाँचों विषय वाली होती हैं।

व्याख्या—इन्द्रियाँ विषयी हैं तथा तन्मात्र विषय। चक्षुका विषय रूप है, श्रोत्र का शब्द, त्वक् का स्पर्श, जिह्वा का रस तथा घ्राण का विषय गंध

---

१. विषयाख्यम् विषय उपभोग्यमिति। मा०

२. त्रयस्यान्तः करणस्य विषयाख्यं बुद्धयहङ्कार मनसा भोग्यम्। गौ०

३. तेनान्तः करणस्य 'द्विविधो विषयः-द्वारं भोग्यचेति। जय०

४. शेषाण्यपि। माठर०, यु०

५. पञ्चविषयीणि। जय०

है। ये विषय ज्ञानेन्द्रियों के असाधारण विषय हैं अर्थात् चक्षु का विषय रूप ही हो सकता है शब्द या स्पर्श नहीं। इसीप्रकार अन्य इन्द्रियों के लिए भी समझना चाहिए। कर्मेन्द्रियों के विषय में ऐसी बात नहीं है। वाक् इन्द्रिय केवल शब्द विषय वाली होती है, परन्तु शेष चार इन्द्रियों के विषय (शब्द, रूप, रस, गंध एवं स्पर्श) सर्व साधारण रूप में हैं। वाक् का विषय शब्द नहीं है अपितु मुख से जो उच्चारण या भाषण होता है, वह शब्द गुण से युक्त होता है। इसलिए 'भवति' पद आया है। हाथ जिसे ग्रहण करता है जैसे—घटादि। वह शब्द, रूप, रस, गंध, स्पर्श से युक्त होता है। इसी प्रकार अन्य इन्द्रियों के लिए भी समझना चाहिए। शब्द श्रोत्र इन्द्रिय का असाधारण विषय है, वह उसे ग्रहण करती है। परन्तु वाक् से शब्द उत्पन्न होता है, शब्द ग्रहण नहीं। इसलिए सामान्यतया उसके विषय कहे जा सकते हैं। शब्द का उद्गम श्रोत होने से उसे शब्द विषया कहा गया है।

विशेष—आचार्यों ने 'विशेष विषयाणि' पद का अर्थ पञ्च ज्ञानेन्द्रियों का स्थूल एवं सूक्ष्म विषय किया है। आचार्य माठर[१] का कथन है कि देवताओं की इन्द्रियाँ निर्विशेष विषयक तथा मनुष्य की ज्ञानेन्द्रियाँ सविशेष विषयक होती हैं। वाचस्पति मिश्र[२] कहते हैं कि पूर्व श्रोताओं या योगियों की श्रवणेन्द्रियाँ स्थूल एवं सूक्ष्म दोनों ही प्रकार के शब्दों को ग्रहण करती है, परन्तु हम लोगों की श्रवणेन्द्रियाँ केवल स्थूल शब्दों को ही ग्रहण करती हैं।

टिप्पणी—अविशेष के साथ विशेष पद के रहस्य को समझना आवश्यक है, जिस ओर आचार्यों का ध्यान नहीं रहा है। बाह्य करणों का निरूपण मानव शरीर के परिप्रेक्ष्य में किया गया है। देवताओं, योगियों, ब्रह्मज्ञानियों के इन्द्रिय विशेष की चर्चा अनावश्यक प्रतीत होती है।

अब त्रयोदश करणों में अन्तःकरणों की प्रधानता का विवेचन करते हैं—

सान्तःकरणा बुद्धिः सर्वं विषयमवगाहते यस्मात्।
तस्मात् त्रिविधं करणं द्वारि द्वाराणि शेषाणि ॥३५॥

---

१. बुद्धीन्द्रियाणि श्रोत्रत्वक्चक्षुर्जिह्वा घ्राणानि पञ्चतानि सविशेष गृह्णन्ति अविशेषमपि विषयं गृहणन्ति। देवानां तन्मात्रसंज्ञिता निर्विशेषाः केवल-सुखलक्षणणत्वात्। मनुष्याणां सविशेषा, माठर० गो०

२. तत्रोर्ध्वस्रोतसां योगिनाञ्च श्रोत्रंशब्दतन्मात्रविषयं स्थूलशब्द विषयं च, तस्मादादीनाम् तु स्थूल शब्द विषयमेव। सां० त० कौ०

अनुवाद—चूँकि अन्य दो करणों (मन एवं अहंकार) के सहित बुद्धि ही समस्त विषयों को ग्रहण करती है। इसलिये ये तीनों अन्त:करण द्वारि हैं अन्य (इंद्रियाँ) द्वार या साधन-मात्र हैं।

व्याख्या—बाह्य इन्द्रियाँ विषयों का आलोचन करके मन को सौंपती हैं। मन संकल्प करके अहंकार को तथा अहंकार अहं के साथ बुद्धि को सौंपता है। इस प्रकार बुद्धि से ही निश्चयात्मक ज्ञान होता है। इस प्रक्रिया में बाह्य इन्द्रियाँ केवल साधन मात्र हैं। इसलिए उन्हें 'द्वार' कहा गया है तथा अन्त:-करण 'द्वारि' हैं क्योंकि अन्त:करणों के द्वारा ही वस्तु के स्वरूप का निश्चय हो पाता है। बाह्यकरण किसी गृह के द्वार के समान हैं जिनके माध्यम से बाह्य विषयों की सूचना अन्त:करण तक पहुँचती है। अन्त:करण गृह के समान है, जहाँ विषय का निश्चयात्मक स्वरूप निर्धारित होता है।

विशेष—आचार्य माठर[1] ने द्वारि का अर्थ साधन तथा द्वाराणि का प्रतीतानि किया है। वाचस्पतिमिश्र[2] ने 'द्वारि' का प्रधान तथा द्वाराणि का अप्रधान अर्थ किया है। नन्दलाल सिनहा ने द्वारि का अनुवाद house तथा द्वाराणि का gates' सूर्यनारायण शास्त्री ने द्वारि का अंग्रेजी अनुवाद principal तथा द्वाराणि का doors किया है।

टिप्पणी—विषय ज्ञान में इन्द्रियाँ अपरिहार्य हैं परन्तु ज्ञान उत्पत्ति चूँकि अन्त:करणों से होती है। अत: अन्त:करण बाह्य करणों की तुलना में अधिक महत्त्व के हैं।

अब करणों में बुद्धि की प्रधानता को कहते हैं—

एते प्रदीपकल्पाः परस्परविलक्षणा गुणविशेषाः ।
कृत्स्नं पुरुषस्यार्थं प्रकाश्य बुद्धौ प्रयच्छन्ति ।।३६।।

अनुवाद—ये विशिष्ट गुणवाले, आपस में एक दूसरे से भिन्न स्वभाव वाले दीपक की तरह विषय को प्रकाशित करने वाले, समस्त पुरुषार्थ को प्रकाशित कर बुद्धि को समर्पित कर देते हैं।

व्याख्या—करणों का पारस्परिक अभिप्राय या संकेत (एक दूसरे की स्वकार्योन्मुखता) के कारण अपने-अपने व्यापार में प्रवृत्त होना ही विशिष्ट गुण है। इसीप्रकार इन करणों का स्वभाव भी भिन्न-भिन्न है। बाह्येन्द्रियाँ विषयों का आलोचन कर सकती हैं। मन संकल्प कर सकता है तथा

---

१. त्रिविधमेव करणं साधनं…। बाह्येयानि बुद्धिकर्मेन्द्रियतया प्रतीतानि…। मा०
२. द्वारि प्रधानम् । सां० त० कौ०

अहंकार अभिमान में ही प्रवृत्त हो सकता है। इसलिए उन्हें परस्पर विलक्षण कहा गया है। जिस प्रकार बत्ती तेल तथा अग्नि परस्पर विरोधी स्वभाव के होते हुए भी सहयोग के साथ मिलकर वस्तु का प्रकाशन करते हैं। उसीप्रकार ये विशेष गुण वाले, परस्पर भिन्न स्वभाव वाले बाह्यान्तःकरण (इन्द्रियाँ + मन एवं अहंकार) पुरुष के भोग एवं अपवर्ग रूप प्रयोजन के विषय बुद्धि में प्रकाशित होने के लिए समर्पितकर देते हैं। प्रदीप का दृष्टांत त्रिगुण विवेचन में भी दिया गया है, परन्तु वहाँ त्रिगुण का स्वभाव अन्योन्याभिभवादि रूप में दिया गया है। यहाँ पात्रस्थ जो दीपशिखा है वह बुद्धिरूप है। यहाँ प्रदीप-पात्र विशेष नहीं है।

विशेष—आचार्यों[1] ने गुण विशेष का अर्थ सत्त्वादि गुणों के विकारभूत या गुणों से उत्पन्न किया है। वाचस्पतिमिश्र[2] ने करणों के पारस्परिक सहयोग के सम्बन्ध में एक दृष्टांत भी दिया है।

टिप्पणी—कारिकागत 'गुणविशेषाः' पद का अपना एक विशिष्ट रहस्य है।

अब बुद्धि के भोग एवं कैवल्य प्राप्क रूप का विवेचन करते हैं—

सर्वं प्रत्युपभोगं यस्मात्पुरुषस्य साधयति बुद्धिः।
सैव च विशिनष्टि पुनः प्रधानपुरुषान्तरं सूक्ष्मम् ॥३७॥

अनुवाद—चूँकि जीवात्मा के समस्त विषयों से सम्बन्धित उपभोग को बुद्धि ही सम्पादित करती है और वही उसे प्रकृति-पुरुष भेद का ज्ञान कराती है।

व्याख्या—प्रथम पंक्ति में पुरुष का अर्थ जीवात्मा है। भोग एवं अपवर्ग दोनों जीवात्मा के प्रयोजन या स्वार्थ हैं। बुद्धि के धर्माधर्मादि आठ रूप हैं। इनमें से सात रूपों से वह जीवात्मा के भोग रूप प्रयोजन को सिद्ध करती हैं। आठवें रूप ज्ञान से मनुष्य विशेष कों कैवल्य प्राप्त कराती हैं। इस प्रकार जीवात्मा के द्विविध प्रयोजनों को बुद्धि ही सिद्ध करती है। अतएव वही करणों में प्रधान है। प्रधान पद के रहस्य के सम्बन्ध में पहले ही कहा जा चुका है। सांख्य में कैवल्य की प्राप्ति मनुष्य शरीर से ही सम्भव है, उसे भी लाखों में कोई विरला ही प्राप्त करता है। ज्ञान के उत्पन्न होने पर कैवल्य प्राप्त होता है। यह ज्ञान पुरुष तथा प्रकृति के सूक्ष्म भेद से उत्पन्न होता है।

---

१. त्रय एव गुणा अन्योऽन्याभिभवद्वारेण परिणताः श्रोत्रादिव्यपदेशभाज इत्यर्थः। जय०
गुणविशेषाः गुणेभ्योजाताः। गौ०

२. सां० त० कौ०

विशेष—आचार्य माठर[1] ने सूक्ष्म का अर्थ दुर्विज्ञेय किया है तथा प्रधान पुरुषान्तरं का 'नानात्व'। गौड़पाद[2] ने सूक्ष्म का अर्थ तपश्चर्या से अप्राप्त किया है। जयमंगलाकार[3] का कथन है कि जब बुद्धि में सत्त्व का आधिक्य होता है, प्रकृति पुरुष का विभाग करती है।

वाचस्पतिमिश्र का कथन है कि पुरुष के सन्निहित होने के कारण बुद्धि पर पुरुष का प्रतिबिम्ब पड़ता है, जिससे बुद्धि पुरुषवत् चेतन होती हुई पुरुष के लिए समस्त विषयों के उपभोग को सम्पादित करती है।[4]

टिप्पणी—प्रकृति पुरुष विवेक का अर्थ मानव शरीर के सन्दर्भ में ही समझना श्रेयस्कर है। विषय भोग की वाचस्पतिमिश्र कृत व्याख्या संगत नहीं है।

अब विशेष और अविशेष का विवेचन करते हैं--

तन्मात्राण्यविशेषास्तेभ्यो भूतानि पञ्च पञ्चभ्यः।
एते स्मृता विशेषाः शान्ता घोराश्च मूढाश्च ॥३८॥

अनुवाद—पञ्चतन्मात्र अविशेष कहे जाते हैं। उन पञ्चतन्मात्रों के पञ्च महाभूत विकार या कार्य हैं। ये विशेष हैं तथा शान्त घोर एवं मूढ रूप से जाने जाते हैं।

व्याख्या—तामस अहंकार से शब्द, रूप, रस आदि तन्मात्र प्रवृत्त होते हैं। ये अविशेष हैं। ये अविशेष इसलिए कहे जाते हैं कि ये पंचभूतों के सूक्ष्म रूप हैं। शब्दतन्मात्र से आकाश, रूप से तेज, रस से जल, स्पर्श से वायु और गन्ध से पृथ्वी प्रवृत्त होती है। इन महाभूतों को विशेष कहा जाता है। ये विशेष सदैव पंचभौतिक रूप में ही दृष्टिगोचर होते हैं। पृथक् आकाश, पृथक् तेज, पृथक् वायु की व्याख्या सम्भव नहीं हैं। बिना पंच भौतिक शरीर के भोग एवं कैवल्य द्विविध पुरुषार्थों की व्याख्या सम्भव नहीं है। जगत् में सभी प्राणियों का शरीर पंचभौतिक ही होता है। सत्त्व प्रधान देवों में ये विशेष शान्त रूप में सुखदायक, रजः प्रधान मनुष्यों में घोर रूप में

---

१. सूक्ष्मं दुर्विज्ञेयं। प्रधान पुरुषान्तरं नानात्वम्। माठर०

२. सूक्ष्ममिति अनधिकृततपश्चरणैरप्राप्यम्, प्रधानपुरुषान्तरं नानात्वमित्यर्थः। गौ०

३. यदासत्त्वाधिका बुद्धिर्भवति, तदा ज्ञान संगता प्रधानपुरुषान्तरं विशिनष्टि। प्रधानपुरुषयोर्विभागं करोतीत्यर्थः। जय०

४. बुद्धिर्हिपुरुषसन्निधानात् तच्छायापत्त्या तद्रूपेव सर्वं विषयोपभोगं पुरुषस्य साधयति। सां० त० कौ०

दुःखदायक तथा तिर्यक् योनियों में मूढ़ रूप में मोहप्रद होते हैं। इसीलिए देवता शान्त, मनुष्य क्रियाशील तथा पशु-पक्षी आदि मूढ़ कहे जाते हैं।

विशेष—आचार्य माठर[1] तथा गौड़पाद ने सूक्ष्मतन्मात्रों को देवताओं का विषय कहा है। जयमंगलाकार[2] तथा वाचस्पतिमिश्र ने इन्हें सूक्ष्म कहा है जो शान्तादि धर्मों से युक्त नहीं हैं। माठर[3] तथा गौड़पाद ने स्वतन्त्र रूप से आकाशादि प्रत्येक महाभूतों के शान्त, घोर तथा मूढ़ रूप की व्याख्या की है। आचार्य माठर, जयमंगलाकार[4], वाचस्पतिमिश्र प्रभृति अन्य टीकाकारों के अनुसार पूर्व पूर्वतन्मात्रों से युक्त होकर ही अगली तन्मात्र अपने विशेष महाभूत को उत्पन्न करती है। गौड़पाद तथा युक्तिदीपिकाकार का मत इससे भिन्न है।

टिप्पणी—पंच महाभूतों की पृथक् रूप में व्याख्या सम्भव नहीं। पंचतन्मात्रों से पंचमहाभूतों की वाचस्पतिमिश्र-कृत व्याख्या सन्तोषजनक नहीं है।

पूर्वकारिका में विशेष एवं अविशेष का निरूपण किया गया। अब विशेषों के अवान्तर भेद को कहते हैं—

सूक्ष्मा माता पितृजाः सह प्रभूतैस्त्रिधा विशेषाः स्युः।
सूक्ष्मास्तेषां नियता मातापितृजा निवर्तन्ते ॥३९॥

अनुवाद—सूक्ष्म शरीर, माता पिता से उत्पन्न स्थूल शरीर तथा पञ्चमहाभूतों के साथ विशेष तीन प्रकार के होते हैं। इनमें सूक्ष्म शरीर नियत रहते हैं तथा माता-पिता से उत्पन्न शरीर विनष्ट हो जाते हैं।

---

१. देवानां तन्मात्राणि सुखलक्षणा विषयाः। माठर०
देवानां एते सुखलक्षणाविषया दुःख मोहरहिताः। गौ०

२. सूक्ष्मविषयास्तन्मात्राणीत्युच्यन्ते। जय०
शब्दादि तन्मात्राणि सूक्ष्माणि। न चैषां शान्तत्वादिरस्ति। सां० त० कौ०

३. माठरवृत्ति, गोड़पादभाष्य

४. शब्दादिभ्यः पञ्चभ्यः आकाशादीनि पञ्चमहाभूतानि पूर्वपूर्वानुप्रवेशदेकद्वित्रिचतुष्पञ्च गुणान्युत्पद्यन्ते। माठर०
शब्दतन्मात्रादेक गुणमाकाशमुत्पद्यते। एवं स्पर्शादितन्मात्राद् द्वित्रिचतुः पञ्च गुणा वाय्वादय उत्पद्यन्ते। जय०
तेभ्यस्तन्मात्रेभ्यो यथा संख्यमेकद्वित्रिचतुः पञ्चभ्योभूतान्याकाशानिलानल सलिलावनिरूपाणि पञ्चपञ्चभ्यः तन्मात्रेभ्यः। सां० त० कौ०

व्याख्या—विषयोपभोग के लिए विशेष की सत्ता अपरिहार्य मानी गयी है। ये विशेष तीन प्रकार के कहे गये हैं—सूक्ष्म शरीर, माता-पिता से उत्पन्न स्थूल शरीर तथा पंचभौतिक। लिंग का, जिसके विषय में अगली कारिका में समझाया जायगा, अधिष्ठान या आश्रय ही सूक्ष्म शरीर है। यहाँ नियत का अर्थ अवश्य है। स्थूल शरीर माता-पिता के संयोग से उत्पन्न होता है। यहाँ जिस स्थूल शरीर की व्याख्या की गयी है, उसे मानव शरीर के परिप्रेक्ष्य में ही समझना चाहिए। अन्य योनियों में माता-पिता की संगत व्याख्या संभव नहीं है। चूँकि स्थूल शरीर उत्पन्न होता है, अतएव विनाशी है। पंचमहाभूत के बिना भोग नहीं हो सकता। इसलिए यह दोनों शरीर से संबंधित है। पृथक् रूप में इसकी चर्चा नहीं हुई है।

विशेष—माता-पितृजा के विषय में युक्तिदीपिकाकार का मत है कि लोम, रुधिर तथा माँस का सम्बन्ध माता[२] से तथा अस्थि, स्नायु और शुक्र का सम्बन्ध पिता से है। जयमंगलाकार के अनुसार[१] लोम लोहित तथा मांस का सम्बन्ध माता से तथा स्नायु अस्थि और मज्जा का सम्बन्ध पिता से है। वाचस्पतिमिश्र की भी यही मान्यता है। युक्तिदीपिकाकार[३] ने प्रभूत का अर्थ उद्भिज्ज तथा स्वेदज किया है। नारायणतीर्थ[४] ने प्रभूत से पर्वत वृक्षादि विषय समझा है। डॉ० रामशंकर भट्टाचार्य[५] का मत है कि स्थूल शरीर किसी बाह्य निमित्त की सहायता से होते हैं, जबकि सूक्ष्म शरीर बिना निमित्त के।

टिप्पणी—सूक्ष्म शरीर संसरण नहीं करता।

अब पुनर्जन्म का आधार स्वरूप लिंग का विवेचन करते हैं—

पूर्वोत्पन्नमसक्तं नियतं महदादिसूक्ष्मपर्यन्तम्।
संसरति निरुपभोगं भावैरधिवासितं लिङ्गम् ॥४०॥

अनुवाद—लिङ्ग उत्पन्न से पूर्व विद्यमान, असक्त, नियत, महत् से तन्मात्र पर्यन्त रूपवाला, भोग से रहित, भावों से उपरंजित, संसरण करता रहता है।

---

१. तत्र लोमरुधिर मांसानां मातृत संभवः, अस्थिस्नायुशुक्राणां पितृतः। यु० दी०

२. मातृपितृजाः षट्। तत्र मातृतो लोमलोहित मांसानि, पितृतः स्नाय्वस्थि मज्जानः। जय०

३. प्रभूतास्तूद्भिज्जाः स्वेदजाश्च। यु० दी०

४. प्रभूताः पर्वतवृक्षाद्याः। सां० च०

५. सां० त० कौ० ज्योतिष्मती, पृष्ठ २४६

व्याख्या—सांख्य में पुनर्जन्म का आधार लिङ्ग है। लिङ्ग शरीर नहीं है। शरीर धारण से पूर्व विद्यमान रहने के कारण इसे पूर्वोत्पन्न कहा गया है। लिंग ही शरीर का निर्माण करता है, इसलिए इसे शरीर का पूर्वभावी कहा गया है। इसकी गति लोक-लोकान्तर में बाधित नहीं होती। यह शिला में प्रवेश कर सकता है तथा आकाश में गमन कर सकता है। प्रत्येक जीवात्मा का लिंग निर्धारित रहता है, इसलिए उसे नियत कहा गया है। यह महत्, अहंकार, एकादशेन्द्रिय-पंचतन्मात्र इन अठारह अवयवों से युक्त होता है। लिङ्ग विशेष विहीन होने के कारण विषय-भोग नहीं कर सकता। भोग शरीर से ही सम्भव है, चाहे स्थूल हो या सूक्ष्म। जीवात्मा जो कुछ भी भला-बुरा करता है, उसके संस्कार बनते हैं जो फलित होकर भाव रूप में नये शरीर धारण करने में कारण बनते हैं। लिंग भावों से अनुरञ्जित होकर ही संसरण करता है अर्थात् देव, मानुष, तिर्यक् नाना योनियों में नाना रूप धारण करता है।

विशेष—व्याख्याकारों ने लिंग[1] का अर्थ सूक्ष्म शरीर किया है तथा उसे सृष्टि में प्रथम उत्पन्न तत्त्व माना है। आचार्य माठर[2] ने नियत का अर्थ नित्य गौड़पाद और जयमंगलाकार ने ज्ञान प्राप्ति तक स्थायी रहना, वाचस्पतिमिश्र ने प्रलय काल तक बने रहना तथा नारायणतीर्थ ने प्रत्यात्म भिन्न किया है। 'भाव'[3] का अर्थ आचार्य माठर ने देव, मानुष

१. सर्गोत्पन्नमित्यर्थः। माठर॰
यदालोका अनुत्पन्नाः प्रधानादिसर्गे तदा सूक्ष्म शरीरमुत्पन्नमिति। गौ॰
प्रधानेनादि सर्गे प्रतिपुरुषमुत्पादितत्वात् पूर्वोत्पन्नम्। जय॰
पूर्वोत्पन्नं प्रधानेनादि सर्गे प्रतिपुरुष मेकैकमुत्पादितम्। सां॰ त॰ कौ॰
पूर्वस्मिन्नादि सर्गे पूर्वस्मात् प्रधानादुत्पन्नमाविर्भूतम्। सां॰ च॰

२. नियतं नित्यमित्यर्थः। माठर
'नियतं' नित्यं, ज्ञानोत्पत्तेः प्रागित्यर्थः। जय॰
यावन्न ज्ञानमुत्पद्यते तावत् संसरति। गौ॰
आचादि सर्गादा च महाप्रलयादवतिष्ठते। सां॰ त॰ कौ॰
नियतं प्रत्यात्मभिन्नम्। सां॰ च॰

३. देवमानुषतिर्यक्भाव। माठर॰
भावैर्यागादिभिरन्तभावै। सां॰ चं॰
धर्मादिभिरुपरक्तमित्यर्थः। जय॰
पुरस्ताद् भावान् धर्मादीन्। गौ॰

तिर्यक् भाव नारायणतीर्थ ने यागादि, अन्य व्याख्याकारों ने धर्मादि आठ भाव किया है। 'अधिवासितं' से नारायणतीर्थ ने यागज संस्कार, अन्य व्याख्याकारों ने उपरंजित[1] भाव लिया है। वाचस्पतिमिश्र[2] ने कांच का एक बहुत सुन्दर दृष्टान्त दिया है। लिंग[3] का अर्थ आचार्य माठर आदि आचार्यों ने प्रलय काल में प्रधान में लय होना किया है। सांख्यसूत्र[4] में लिंग को एक कहा गया है तथा उसे सत्रह अवयवो से युक्त माना गया है। डॉ० रामशंकर भट्टाचार्य[5] ने 'महदादि सूक्ष्म पर्यन्तम्' में सूक्ष्म का अर्थ सूक्ष्म शरीर किया है।

टिप्पणी—लिङ्ग का अर्थ सूक्ष्म शरीर नहीं हो सकता। वह उत्पन्न भी नहीं हो सकता। लिङ्ग में स्थायित्व का अभाव है। भाव का अर्थ धर्माधर्मादि नहीं है।

अब लिङ्ग निराश्रय नहीं रह सकता। इसे कहते हैं—

चित्रं यथाश्रयमृते स्थाण्वादिभ्यो बिना यथाच्छाया।
तद्वद्विना विशेषैर्न तिष्ठति[6] निराश्रयं लिङ्गम्॥४१॥

अनुवाद—चित्र जैसे आधार के बिना, छाया स्तम्भ आदि के बिना नहीं रहती है, उसी प्रकार विशेषों के बिना निराश्रित लिङ्ग नहीं रह सकता।

व्याख्या—यहां 'विशेष' का अर्थ विशेष निर्मित शरीर है, जिसे सूक्ष्म शरीर कहा जाता है। यह सूक्ष्म शरीर लिङ्ग का आश्रय है। लिङ्ग के साथ संसरण रूप क्रिया है। अतएव उसका अधिष्ठान रूप सूक्ष्म शरीर की स्थिति आवश्यक है।

विशेष—माठरवृत्ति[7], गौड़पादभाष्य तथा जयमंगला में विशेष की

धर्माधर्म ज्ञानाज्ञान वैराग्यावैराग्यैश्वर्यानैश्वर्याणि भावा:। सां० त० कौ०
यागजसंस्कारोऽदृष्टमेव। सां० चं०

१. अधिवासितं उपरञ्जितम्। गौ०
२. यथा सुरभिचम्पक कुसुम सम्पर्काद्वस्त्रं तदा मोदवासितं भवति। सां० त० कौ०
३. प्रलयकाले प्रधानेलयं गच्छतीति लिङ्गम्। माठर०
लयंगच्छतीति लिङ्गम्। जय०, सां० त० कौ०
४. सप्तदशैकं लिङ्गम्। सां० सू० ३।९
५. सां० त० कौ० ज्योतिष्मती, पृ० २५५
६. अविशेषैर्न—माठर०, गौ०, जय०
७. अविशेषा इति तन्मात्राणि......। त्रयोदशकरणाख्यंलिङ्गम्। माठर०

जगह 'अविशेष' पाठ हैं, जिसका अर्थ पंचतन्मात्र है। उनके अनुसार लिङ्ग का अर्थ यहाँ त्रयोदश करण है। वाचस्पतिमिश्र[1] ने 'लिंग' का अर्थ बुद्धि आदि तथा 'विशेष' का अर्थ सूक्ष्म शरीर किया है। नारायणतीर्थ[2] ने वाचस्पतिमिश्र के आशय को ग्रहण किया है तथा अन्य मत के अनुसार विशेष का अर्थ स्थूल शरीर किया है।

टिप्पणी—अविशेष पाठ संगत नहीं है। लिंग का अर्थ बुद्धि आदि तथा त्रयोदश करण नहीं है। विशेष का संगत अर्थ सूक्ष्म शरीर है।

पूर्वकारिका में लिंग के आश्रय रूप की व्याख्या हुई। अब वह लिंग क्यों किसके सामर्थ्य से किस प्रकार संसरण करता है, कहते हैं—

पुरुषार्थहेतुकमिदं निमित्तनैमित्तिकप्रसङ्गेन।
प्रकृतेर्विभुत्वयोगान्नटवद् व्यवतिष्ठते लिङ्गम्॥ ४२॥

अनुवाद – पुरुषार्थ हेतु यह लिंग निमित्त और नैमित्तिक प्रसंग से, प्रकृति के विभुत्व शक्ति के संयोग से नट के समान व्यवहार करता है।

व्याख्या—पुरुषार्थ दो हैं, भोग तथा अपवर्ग। दोनों प्रयोजन शरीरधारी प्राणियों से ही सिद्ध होते हैं। इन प्राणियों के शरीर रचना में धर्माधर्मादि कारण है, इसलिए ये निमित्त हैं। उर्ध्वगमनादि नैमित्तिक है। लिंग इन्हीं कारणों से नाना योनियों में संसरण करता रहता है। जैसे नट रंगमंच पर नाना प्रकार के वेशभूषा बदलकर नाना रूपों में दिखाई देता है, उसी प्रकार यह लिंग भी आचरण करता है। प्रकृति सर्वव्यापक है, लिंग का गठन भी प्रकृति-घटकों से हुआ है। अतएव लिंग प्रकृति के विभुत्व-शक्ति के संयोग से इतनी क्षमता रखता है।

विशेष—नैमित्तिक का अर्थ माठर[3], गौड़पाद आदि ने 'उर्ध्वगमनादि' तथा वाचस्पतिमिश्र[4] और नारायणतीर्थ ने 'स्थूल शरीर' किया है।

अविशेषास्तन्मात्राणि। लिङ्गम् त्रयोदशविधम् करणम्। जय०

अविशेषैस्तन्मात्रैः। लिङ्गम् त्रयोदशविधम् करणमित्यर्थः। गौ०

१. लिङ्गनाज्ज्ञापनाद् बुद्ध्यादयो लिङ्गम्। 'विनाविशेषै' इति सूक्ष्मैः शरीरैरित्यर्थः। सां० त० कौ०

२. केचित्तु स्थूल शरीरावश्यकत्वाभिप्रायकमिदमिति वर्णयन्ति। सां० चं०

३. तत्रनिमित्तं धर्माद्यष्टविधम्। तत् पुरस्तात् वक्ष्यामः 'धर्मेणगमनमूर्ध्वम्' इत्यादि माठर०

निमित्तं धर्मादि। नैमित्तिकम्–उर्ध्वगमनादि। गौ० जय०

४. एवं तत्ततस्थूलशरीर–परिग्रहणात्। सां० त० कौ०

निमित्तं धर्मादि, नैमित्तिकं धर्मादिकारणकं स्थूलदेहादि। सां० चं०

टिप्पणी—प्रत्येक जीवात्मा का एक निर्धारित लिंग होता है, जो उसे पूर्वजन्म के संस्कारों के अनुरूप नाना योनियों में ले जाता है।

चालीसवीं कारिका में लिंग को भावों के साथ अनुरंजित होने की बात कही गयी है। ये भाव कितने प्रकार के हैं ? धर्मादि किसके आश्रित है तथा कललादि किसके आश्रित हैं। कहते हैं—

सांसिद्धिकाश्च भावाः प्राकृतिका वैकृताश्च धर्माद्याः।
दृष्टा करणाश्रयिणः कार्याश्रयिणश्च कललाद्याः ॥४३॥

अनुवाद—सांसिद्धिक भाव प्राकृतिक तथा वैकृत दो प्रकार के होते हैं धर्मादिनिमित रूप बुद्धि के आश्रित हैं तथा कललादि कार्यरूप स्थूल शरीर के आश्रय से रहते हैं।

व्याख्या—'भवतीतिभावः' अर्थात् जो फलित होता है वह भाव है। संस्कारों का फलित रूप भाव कहलाता है। जीवात्मा जब पूर्व शरीर त्यागकर नया शरीर धारण करता है तो पूर्व जन्म के संस्कार फलित होकर भावरूप में उसके साथ सम्बद्ध हो जाते हैं। इसीलिये भावों को सांसिद्धिक कहा गया है। सांसिद्धिक का अर्थ होता है स्वतः सिद्ध या स्वतः प्राप्त। जो भाव जन्म से ही प्राप्त होते हैं, वे प्राकृतिक कहलाते हैं तथा जो उपाय विशेष या प्रयत्न से जन्म के कुछ बाद प्राप्त होते हैं, वे वैकृत कहलाते हैं। धर्माधर्मादि निमित्तरूप बुद्धि के आश्रित रहते हैं तथा कललादि कार्यरूप शरीर के आश्रित रहते हैं। गर्भ स्थित शरीर के भाव कलल, बुद्बुद्, मांस, पिण्ड, अंकुर, अंग तथा प्रत्येक अंग के विभाग और गर्भ से निकले हुए शरीर के शैशव, कौमार्य, यौवन तथा वृद्धत्व—यही कललादि है। प्रकृत कारिका का आशय मानव शरीर के परिप्रेक्ष्य में ही समझना चाहिए। धर्मादि और कललादि की सार्थक व्याख्या इसी के सम्बन्ध में सम्भव है।

विशेष—आचार्य माठर एवं गौड़पाद ने सांसिद्धिक प्राकृतिक और वैकृतिक तीन प्रकार के भाव बतलाए हैं। युक्तिदीपिकाकार के मत से बुद्धि के धर्म, ज्ञान आदि भावों में से प्रत्येक सांसिद्धिक प्राकृतिक एवं वैकृतिकरूप में तीन प्रकार का होता है। जयमंगलाकार[1] ने सांसिद्धिक को ही प्राकृतिक भाव कहा है। वाचस्पतिमिश्र[2] का कथन है कि प्राकृतिक भाव ही सांसिद्धक

---

१. ये प्राकृतस्वभावास्ते सांसिद्धिका उच्यन्ते। जय०

२. वैकृता नैमित्तिकाः, प्राकृतिकाः स्वाभाविकाः भावाः सांसिद्धिकाः। तथा हि सर्गादावादिविद्वान् भगवानकपिलो महामुनि धर्मज्ञानवैराग्यैश्वर्यसम्पन्नः प्रादूर्बभूवेतिस्मरन्ति। सां० त० कौ०

भाव है। जैसे यह कहा जाता है कि सृष्टि के आरम्भ में आदि विद्वान महामुनि कपिल धर्म, ज्ञान, वैराग्य तथा ऐश्वर्य से सम्पन्न होकर उत्पन्न हुए थे। वैकृत भाव वे हैं, जो सहज या जन्मसिद्ध न होकर उपाय विशेष से उत्पन्न होते हैं। जैसे—बाल्मीकि इत्यादि महर्षियों के धर्म, ज्ञानादि। इसी-प्रकार अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य और अनैश्वर्य भी प्राकृतिक और वैकृतिक होते हैं। डॉ० रामशंकर भट्टाचार्य[1] का कहना है कि प्राकृतिक और वैकृत में कोई भेद नहीं है। किन्तु व्यवहारतः भेद है।

टिप्पणी—धर्मादि भाव नहीं है। ये बुद्धि के आठ रूप हैं। भाव सांसिद्धिक ही होते हैं। त्रिधा विभाजन युक्तिसंगत नहीं है। भट्टाचार्य जी का कथन विचारणीय है।

अब बुद्धि के धर्म, अधर्म, ज्ञान, अज्ञान रूप निमित्तों तथा उनके नैमित्तिकों को कहते हैं—

धर्मेण गमनमूर्ध्वं गमनमधस्ताद्भवत्यधर्मेण।
ज्ञानेन चापवर्गो विपर्ययादिष्यते बन्धः ॥४४॥

अनुवाद—धर्म से उर्ध्वलोक में, अधर्म से अधःलोक में गति होती है। ज्ञान से मोक्ष तथा अज्ञान से बंधन कहा गया है।

व्याख्या—धर्माधर्मादि बुद्धि के आठ रूप हैं। मनुष्य की धर्म में प्रवृत्ति होने पर स्थूल शरीर त्यागने के बाद वह उर्ध्व लोक में अर्थात् देवयोनियों में जाता है। अधर्म में प्रवृत्ति होने पर अधः लोक में अर्थात् तिर्यक् योनियों में गमन होता है। ज्ञान से कैवल्य की प्राप्ति होती है। इसके विपरीत अर्थात् अज्ञान से बंधन होता है। अहं भाव का विद्यमान रहना ही अज्ञान है। अज्ञान से जन्म लेना पड़ता है।

विशेष—वाचस्पतिमिश्र[2] ने अधःलोक को पातालादि तथा नारायण-तीर्थ[3] ने रौरवादि नरक के रूप में समझा है। ज्ञान का अर्थ आचार्य माठर[4]

---

१. सां० त० कौ ज्योतिष्मती

१. 'गमनमधस्ताद्भवत्यधर्मेण' सुतलादिषु लोकेषु। सां० त० कौ०

३. अधस्ताद् रौरवमहारौरववह्निवैतरणीकुम्भीपाकतामिसान्धतामिस्रादिनरकेषु अधर्मेण। सां० चं०

४. यत् पञ्चविंशति तत्त्वज्ञानं तेन ज्ञानेन तस्सूक्ष्मशरीरं निवर्तते परमात्माऽपवर्गं प्राप्नोति मोक्षं गच्छतीत्यर्थः। माठर०
अपवर्गञ्च पञ्चविंशतितत्त्वज्ञानं। ततः सूक्ष्मशरीरं निवर्तते। परम-आत्माउच्यते। गौ०

तथा गौड़पाद ने पच्चीस तत्त्वों का ज्ञान, जयमंगलाकार[1] तथा वाचस्पति-मिश्र ने प्रकृति पुरुष पार्थक्य ज्ञान तथा नारायणतीर्थ[2] ने आत्म-साक्षात्कार किया है। माठर तथा गौड़पाद का मत है कि ज्ञान प्राप्त होने पर आत्मा परमात्मा हो जाता है। व्याख्याकारों ने 'बंध' पद[3] का अर्थ प्राकृतिक, वैकृतिक, दाक्षिणक तीन बंध किया है।

टिप्पणी—सांख्य में सम्यक् ज्ञान, विशुद्ध ज्ञान तथा अज्ञान का स्वरूप विचारणीय है, जिस ओर प्रायः व्याख्याकारों का ध्यान नहीं रहा है।

अब बुद्धि के चार रूपों (वैराग्य, अवैराग्य, ऐश्वर्य तथा अनैश्वर्य) के नैमित्तिकों को कहते हैं—

वैराग्यात् प्रकृतिलयः संसारो भवति राजसाद्रागात् ।
ऐश्वर्यादविघातो विपर्ययात् तद्विपर्यासः ॥४५॥

अनुवाद—वैराग्य से प्रकृतिलय तथा राजस राग से संसार की प्राप्ति होती है। ऐश्वर्य से कामनाओं की सफलता तथा अनैश्वर्य से इच्छाओं की सफलता में बाधा होती है।

व्याख्या—वैराग्य का अर्थ है विषयों के प्रति अनाशक्ति भाव। प्रकृतिलय का अर्थ है—अन्तर्मुखी होना। जब मनुष्य में वैराग्य की प्रवृत्ति होती है, तब उसकी इन्द्रियाँ बाह्य विषयों की ओर उदासीन हो जाती हैं। उसका चित्त स्थिर हो जाता है। राग का अर्थ है विषयों के प्रति आसक्ति भाव। इसके साथ राजस विशेषण रूप में प्रयुक्त है। राजस रजोगुण के रूप में उत्प्रेरक या क्रियाशीलता का द्योतक माना गया है। इस प्रकार राजस राग से विषयों के प्रति आसक्ति गाढ़तर होती जाती है, जो संसार में बार-बार जन्म लेने का कारण बनती है। ऐश्वर्य का अर्थ है ज्ञान, समृद्धि, सम्पत्ति, यश, बल और पराक्रम से युक्त होना अथवा सर्व समर्थ होना। ऐश्वर्य से मनोवाञ्छित फल प्राप्त होते हैं तथा अनैश्वर्य से कामनाओं की सफलता में बाधा पहुँचती है।

विशेष—आचार्य माठर[4] ने प्रकृतिलय का अर्थ अष्ट प्रकृति में लीन होना

---

१. प्रधान पुरुषान्तर ज्ञानाख्येन ज्ञानेन। जय०

२. ज्ञानेनात्म साक्षात्कारेण। सां० चं०

३. स च बंधस्त्रिविधः। प्रकृतिबंधो, वैकारिक बंधो, दक्षिणाबंधश्चेति। माठर०
प्राकृतिको वैकृतिको दाक्षिणकश्चेति। सां० त० कौ०

४. केवलमष्टासु प्रकृतिषु लयो भवति प्रधानबुद्ध्य हङ्कारतन्मात्रेषु। मा० जय० गौ०

किया है। वाचस्पतिमिश्र[1] का कहना है कि वैराग्य से युक्त किन्तु पुरुष तत्त्व के ज्ञान से रहित व्यक्ति को प्रकृतिलय प्राप्त होता है। प्रकृति के ग्रहण से प्रकृति महत्, अहंकार, महाभूत तथा इन्द्रियों का ग्रहण होता है। आत्मा समझकर इनकी उपासना करने वाले उपासक का इन्हीं में लय हो जाता है। नारायणतीर्थ को भी यही अर्थ मान्य है। अन्य व्याख्याकारों ने आचार्य-माठर का अनुसरण किया है। नारायणतीर्थ[2] ने राग का अर्थ काम, क्रोधादि किया है।

टिप्पणी—प्रकृतिलय पद का अर्थ विवेच्य है।

निमित्त रूप आठ बुद्धि के रूपों तथा उनके नैमित्तिकों का निरूपण करने के बाद अब भाव सर्ग का विवेचन किया जा रहा है—

एष प्रत्ययसर्गो विपर्ययाशक्तितुष्टिसिद्ध्याख्यः।
गुणवैषम्यविमर्दात् तस्य च[3] भेदास्तु पञ्चाशत् ॥४६॥

अनुवाद—यह भाव सर्ग विपर्यय, अशक्ति, तुष्टि, और सिद्धि नाम से हैं और गुणों के न्यूनाधिक्य रूप अभिभव से इनके पचास भेद होते हैं।

व्याख्या—प्रत्यय[4] सर्ग का अर्थ भाव सर्ग है। विपर्यय, अशक्ति, तुष्टि और सिद्धि-ये चार भाव सर्ग हैं। मिथ्या ज्ञान विपर्यय है, प्रयोजन सिद्ध होने में असमर्थता अशक्ति है, उपयोगी प्रयत्न से विरत होना तुष्टि है तथा इष्ट की प्राप्ति सिद्धि है। सत्व, रजस्, तमस् परस्पर एक दूसरे के अभिभव करने वाले होते हैं। उनके वैषम्य या विशिष्ट गुणों की उत्कटता से भाव सर्ग के पचास भेद होते हैं।

विशेष—व्याख्याकारों ने प्रत्यय[5] सर्ग का अर्थ बुद्धिसर्ग किया है। आचार्य माठर तथा[6] गौड़पाद ने विपर्यय, अशक्ति, तुष्टि और सिद्धि को इस

---

१. पुरुषतत्त्वानभिज्ञस्य वैराग्यमात्रात् प्रकृतिलयः। सा० त० कौ०

२. रागात् कामक्रोधादेः। सां० चं०

३. तस्य भेदास्तु। माठर०, जय०

४. स भावाख्यः-प्रत्ययसर्गो, गौ० का० ५२

५. प्रत्ययात् बुद्धेरुत्पन्नो यस्मात् तस्मात् प्रत्ययसर्ग इत्युच्यते। माठर०
प्रत्यय शब्देन बुद्धिरुच्यते। जय०
प्रतीयतेऽनेनेति प्रत्ययोबुद्धिः, तस्य सर्गः। सां० त० कौ०

६. माठरवृत्ति, गौड़पादभाष्य

प्रकार समझा है। संशय रूप अज्ञान ही विपर्यय है—जैसे किसी खूँटा को देखने पर यह खूँटा है या मनुष्य ऐसा संशय होता है। उसी खूँटे को अच्छी प्रकार देखर संशय निवारण नहीं कर सकना अशक्ति है। उसी स्थाणु को देखकर न तो जानने की चेष्टा करना और न संशय की। इस प्रकार उपेक्षा कर देना ही तुष्टि है। स्थाणु पर आरूढ़ हुए पक्षी को या उस पर लगी हुई लता को देखकर उसका निश्चय हो जाना कि यह स्थाणु ही है, सिद्धि है। इस सम्बन्ध में युक्तिदीपिकाकार[1] का कथन अधिक संगत है। जयमंगलाकार[2] का कथन कुछ भिन्न है। वाचस्पतिमिश्र[3] ने विपर्यय का अर्थ अज्ञान किया है तथा विपर्यय, अशक्ति और तुष्टि में ज्ञान के अतिरिक्त धर्मादि सातो का यथायोग्य अन्तर्भाव तथा ज्ञान का सिद्धि में अन्तर्भाव होने की बात कही है। इस सन्दर्भ में आद्याप्रसादमिश्र[4] ने अज्ञातया विपर्यय में अधर्म, अवैराग्य तथा अनैश्वर्य का अशक्ति में, धर्म वैराग्य तथा ऐश्वर्य का तुष्टि में अन्तर्भाव किया है। योग[5] में मिथ्या ज्ञान को विपर्यय कहा गया है। डॉ० रामशंकर भट्टाचार्य[6] के अनुसार विपर्यय असंगत चिन्तन विशेष है, अशक्ति कार्य करने में करणों की अपेक्षित सामर्थ्य का अभाव है, अकर्मण्यता है, ज्ञान और सामर्थ्य रहने पर भी क्रिया कों फल सिद्ध पर्यन्त ले जाने से पहले ही किसी असंगत मत के आधार पर निवृत्त हो जाना तुष्टि है। इष्ट का साधन सिद्धि है।

टिप्पणी—प्रत्यय सर्ग का अर्थ बुद्धि सर्ग नहीं हो सकता। वाचस्पतिमिश्र ने जो धर्मादि के अन्तर्भाव की बात कही है, वह संगत नहीं प्रतीत होती धर्मादि बुद्धि के आठ रूप हैं, ये भाव सर्ग नहीं हैं।

पूर्व कारिका में चार प्रकार के प्रत्यय सर्ग का कथन हुआ, अब प्रत्येक भेदों को बतलाते हैं—

---

१. तत्राश्रेयसः श्रेयस्त्वेनरभिधानं विपर्ययः। वैकल्यादसामर्थ्यमशक्तिः। चिकीर्षितादूनेननिर्वृत्तिस्तुष्टिः। यथेष्टस्य साधनं सिद्धिः। युक्ति०

२. तत्र विपर्यमज्ञानम्, अशक्तिर्ज्ञानाधिगमासामार्थ्यं, सत्यामप्यधिजिर्गासायाम्, तुष्टिर्मोक्षापायेषु वैमुख्यं, सिद्धिर्ज्ञान प्राप्तिः। जय०

३. तत्रविपर्यमाशक्ति तुष्टिषुयथायोग सप्तानां धर्मदीनां ज्ञानवर्जमन्तर्भावः सिद्धौ च ज्ञानस्येति। सां० त० कौ०

४. सां० त० कौ० प्रभा पृ० २८९

५. विपर्ययोमिथ्या ज्ञानमतद्रूप प्रतिष्ठम्। यो० सू० १।८

६. सां० त० कौ० ज्योतिष्मती पृ० २७७

पञ्चविपर्ययभेदा भवन्त्यशक्तिश्च करण[1] वैकल्यात् ।
अष्टाविंशतिभेदा तुष्टिर्नवधाऽष्टधा सिद्धिः ।।४७।।

अनुवाद—विपर्यय के पाँच भेद होते हैं। करणों के दोष के कारण अशक्ति के अट्ठाइस भेद, तुष्टि के नौ भेद तथा सिद्धि के आठ भेद होते हैं।

व्याख्या—विपर्यय के तम, मोह, महामोह, तामिस्र तथा अन्धतामिस्र नाम से पाँच भेद होते हैं। अशक्ति, तुष्टि एवं सिद्धि के भेदों का निरूपण अगली कारिकाओं में होगा।

विशेष—जयमंगलाकार[2] तथा वाचस्पतिमिश्र[3] ने सांख्य के तम, मोह महामोह, तामिस्र तथा अन्धतामिस्र को योग के अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष तथा अभिनिवेश के रूप में समझा है। नारायणतीर्थ[4] ने विपर्यय को संसार का बीज कहा है। आद्याप्रसाद मिश्र[5] एवं व्रजमोहन चतुर्वेदी[6] ने पंचविपर्यय की व्याख्या में योगशास्त्र का आश्रय लिया है।

टिप्पणी—विपर्यय के पंचभेदों का स्वरूप अनुसंधेय है। योग के अविद्यादि पंचक्लेशों से इनकी तुलना संगत नहीं प्रतीत होती।

अब विपर्यय के ६२ अवान्तर भेदों को कहते हैं—

भेदस्तमसोऽष्टविधो मोहस्य च दशविधो महामोहः ।
तामिस्रोऽष्टादशधा तथा भवत्यन्धतामिस्रः ।।४८।।

अनुवाद—तम और मोह के आठ-आठ भेद, महामोह के दश प्रकार तामिस्र तथा अन्धतामिस्र के अठारह प्रकार होते हैं।

व्याख्या—विपर्यय के तम, मोह, महामोह, तामिस्र तथा अन्धतामिस्र, पाँच भेद होते हैं। इनमें तम और मोह के आठ-आठ, महामोह के दश, तामिस्र तथा अन्धतामिस्र के अठारह भेंद होते हैं।

---

१. भवन्त्यशक्तेश्च । माठर०

२. एते एव सांख्यप्रवचने क्लेशा उच्यन्ते 'अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः (पञ्च) क्लेशाः । पा० योग० सू० २।३

३. अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशा यथा संख्यं तमो मोह महामोह तामिस्रान्धतामिस्रञ्ज्ञकाः, । सां० त० कौ०

४. विपर्यय; संसारबीजम् । सां० चं०

५. सां० त० कौ० प्रभा, पृष्ठ २९१

६. सांख्यकारिका बसुमति, पृष्ठ २०९

विशेष—आचार्य माठर[1] एवं गौड़पाद ने विपर्यय के भेदों को इस प्रकार समझा है—जिसमें प्रलय शब्द के अर्थ की अज्ञानमूलक विवेचना होती है, वह तमस् है। प्रकृति, महत्, अहङ्कार तथा पंच तन्मात्रों में लीन मनुष्य जब अपने को मुक्त समझता है, तब यही आठ तमस् के भेद कहलाते हैं। चूँकि प्रकृति आठ हैं, इसलिए यह (तमस्) आठ प्रकार का होता है। अणिमादि आठ ऐश्वर्य से भोग में आसक्त रहना मोह के आठ भेद हैं। शब्दादि पंच दिव्य तथा अदिव्य भेद से महामोह दश हैं। आठ अणिमादि ऐश्वर्य तथा दश दिव्यादिव्य भेद से तामिस्र अठारह प्रकार के होते हैं। ऐसे ही अन्धतामिस्र भी अठारह हैं। तामिस्र में भोगों के मिलने पर प्रसन्न होना तथा न मिलने पर दुःखी होना पड़ता है। अतः भोग में व्यवधान होने पर क्रोध होता है। अन्धतामिस्र में सदा मृत्यु आदि का भय बना रहता है। युक्तिदीपिकाकार[2] ने दश प्रकार के महामोह की व्याख्या विशिष्ट रूप में की है। अन्य व्याख्याकारों ने माठर का ही अनुसरण किया है। मुसलगाँवकर[3] तथा व्रजमोहन चतुर्वेदी[4] ने इन्हें सूचीबद्ध किया है।

टिप्पणी—तम, मोह, महामोहादि के ६२ भेदों का स्वरूप कारिकाकार की दृष्टि में क्या था ? यह अज्ञात है।

अगली कारिका में अशक्ति के अट्ठाइस भेदों का निरूपण करते हैं—

एकादशेन्द्रियवधाः सह बुद्धिवधैरशक्तिरुद्दिष्टा।
सप्तदश बधा बुद्धेर्विपर्ययात्तुष्टिसिद्धीनाम् ॥४९॥

अनुवाद—एकादश इन्द्रियबध वुद्धिबधों के साथ अशक्ति कहलाते हैं। तुष्टि और सिद्धियों के भेद से सत्रह बध होते हैं।

व्याख्या—एकादशेन्द्रियाँ चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, त्वक्, रसना, वाक्, हस्त, पाद, उपस्थ, पायु तथा मन हैं। इनसे सम्बन्धित दोष क्रमशः अन्धापन, बहरापन, अजिघ्रता, कोढ़, स्वादों का ज्ञान न होना, मूँकता, लूलापन, लँगड़ापन, नपुंसकत्व, गुदा दोष तथा मनःप्रमाद है। यही एकादश इन्द्रियबध

---

१. माठरवृत्ति, गौड़पादभाष्य

२. दशविधमहामोहः-मातृपितृस्वसृपत्नीपुत्रदुहितृगुरु-मित्रोपकारिलक्षणेदशविधे कुटुम्बे योऽयं ममेत्यभिनिवेशः। यु०

३. सां० त० कौ० तत्त्वप्रकाशिका पृ० २४५-२४७

४. सांख्यकारिका बसुमति, पृ० २११

हैं[१]। त्रयोदश करणों में बुद्धि प्रधान है। क्योंकि वही जीवात्मा के समस्त भोगों को सम्पन्न करती है। तुष्टि तथा सिद्धि दोनों बौद्धिक परिणाम हैं। तुष्टि तथा सिद्धि मिलकर सत्रह होते हैं। अतः सत्रह प्रकार के बौद्धिक विकार होते हैं। यही सप्तदश बुद्धिबध हैं। तुष्टि तथा सिद्धि के आधार पर इनका नामकरण नहीं किया जा सकता। ये अन्तःकरण की अस्थिरता के सूचक हैं। यहाँ विपर्यय का अर्थ भेद है, विपरीत या अभाव नहीं।

विशेष—आचार्य माठर[२] एवं गौड़पाद[३] ने सत्रहबुद्धिबधों का तुष्टियों तथा सिद्धियों के विपरीत संज्ञक नामकरण किया है। अन्य व्याख्याकारों ने भी इसी आशय को ग्रहण किया है। डॉ० रामशंकर भट्टाचार्य[४] ने विपर्यय का अर्थ विपरीत तथा गजाननशास्त्रीमुसलगाँवकर[५] ने अभाव किया है। ब्रजमोहन चतुर्वेदी[६] का कहना है कि तुष्टियों एवं सिद्धियों की असफलता ही अशक्ति है।

टिप्पणी—तुष्टियों एवं सिद्धियों के आधार पर सत्रहबुद्धिबधों का परिगणन नहीं किया जा सकता। विपर्यय का अर्थ यहाँ भेद है।

अव क्रम-प्राप्त नौ तुष्टियों का परिगणन करते हैं—

आध्यात्मिक्यश्चतस्रः प्रकृत्युपादान कालभागाख्याः।
बाह्या विषयोपरमात् पञ्च च नव तुष्टयोऽभिमताः ॥५०॥

अनुवाद—प्रकृति, उपादान, काल और भाग्य नामक चार आध्यात्मिक तथा विषयों के शान्त होने से पांच बाह्य (इस प्रकार) नौ तुष्टियाँ मानी गयी हैं।

व्याख्या—अभीष्ट अर्थ की प्राप्ति के प्रति उदासीनता का भाव तुष्टि है। प्रकृति ही सब करती है। पुरुषार्थ का कोई महत्त्व नहीं है—ऐसा सोच कर

---

१. आन्ध्यबाधिर्यंघ्राणपाकजडत्वकुष्ठत्वमूकत्वकुणित्वपङ्गुत्वगुदावर्तक्लैब्योन्मादा इत्येकादशेन्द्रियबधाः। माठर०

२. आसां विपरीता अतुष्टयोऽनम्भ इत्याद्याः। माठर का० ५०
अष्टानां सिद्धीनां विपर्यया अनूहादयः। माठर का० ५१

३. तद्यथा अनम्भोऽसलिलममेघ इत्यादिवैपरीत्याद् बुद्धिबधा इति। गौ० का० ५०
यथाऽतारमसुतारमतारतारमित्यादि द्रष्टव्यम्। गौ० का० ५१

४. सां० त० कौ० ज्योतिष्मती-पृ० २८६

५. सां० त० कौ० तत्त्व प्रकाशिका-पृ० २५०

६. सांख्यकारिका, वसुमति-पृ० २१२

अपने उद्देश्य के प्रति निष्क्रिय हो जाना प्रकृतितुष्टि है। हमें इस प्रयोजन की सिद्धि के लिए उपयुक्त साधनों को इकट्ठा करना पड़ेगा जो हमारे सामर्थ्य के बाहर हैं--ऐसा सोचकर प्रयत्न से विरत हो जाना उपादानतुष्टि है। अभीष्ट की प्राप्ति के लिए उपयोगी प्रयत्न की आवश्यकता नहीं है। जब समय होगा, अपने आप सफलता मिल जायेगी। ऐसा सोचकर फलोपयोगी क्रियाओं से विरत हो जाना काल नामक तुष्टि है। भाग्य से ही सब कुछ होता है। परिश्रम करने से क्या लाभ–ऐसा सोचकर अभीष्ट फल की प्राप्ति में उपयोगी प्रयत्न से बिरत हो जाना भाग्यतुष्टि है। अन्तःकरण से संबंधित होने के कारण तुष्टियाँ आध्यात्मिक कहलाती हैं।

बाह्य विषय शब्द, रूप, रस, गंध, स्पर्श पंच गुणों से युक्त होते हैं। ये अर्जन, रक्षण, क्षय, सग और हिंसा दोष से युक्त होते हैं। अपनी सम्पत्ति को बढ़ाने के लिए खेती व्यापार एवं नौकरी करना आदि कष्ट सहने पड़ते हैं। ऐसा सोचते हुए धनोपार्जन निमित्त उपयोगी क्रियाओं से विरत होना प्रथम बाह्य तुष्टि है। उपार्जित धन राजा, चोर, अग्नि आदि से नष्ट हो सकता है, इस कारण उसके रक्षण में महान कष्ट है। ऐसा सोचकर जो उसके प्रति विरक्ति होती है, वह दूसरी बाह्य तुष्टि कहलाती है। उपार्जित धन भोग करने से नष्ट हो जाता है, इस भावना से उसके प्रति जो उदासीनता आती है, वह भोग से सम्बन्धित तीसरी बाह्य तुष्टि हैं। विषयों के भोग से कामनाएँ बढ़ती हैं, इस दोष से विषयों के प्रति विरक्ति होती है, यह चतुर्थ बाह्य तुष्टि है। बिना दूसरे प्राणियों को कष्ट पहुँचाए, इन विषयों का उपभोग नहीं होता। इस भावना से जो विरक्ति होती है, वह पांचवी बाह्य तुष्टि है। इस प्रकार अर्जनादि दोषों से पांचों विषयों से जो विरक्ति होती है—ये ही पांच बाह्य तुष्टियाँ हैं। इस तरह चार आध्यात्मिक और पाँच बाह्य मिलाकर कुल नौ तुष्टियाँ हैं।

विशेष--आचार्य माठर[1] एवं गौड़पाद के अनुसार चार आध्यात्मिक-तुष्टियों का स्वरूप इस प्रकार हैं—केवल प्रकृति मात्र को जानते हुए तुष्ट हो जाना प्रकृतितुष्टि है। त्रिदण्ड, अक्ष, माला आदि को मोक्ष का साधन मानकर तुष्ट हो जाना उत्पादनतुष्टि है। मोक्ष समय पर ही प्राप्त होगा यह कालतुष्टि है तथा भाग्य से मोक्ष होता है भाग्यतुष्टि है। जयमंगला में इन्हीं भावों का संकेत है। वाचस्पतिमिश्र[2] का कहना है कि प्रकृति से

१. माठरवृत्ति, गौड़पादभाष्य

२. सांख्यतत्त्वकौमुदी

सर्वथा भिन्न आत्मा है, ऐसा समझ कर भी जो व्यक्ति असद् उपदेश से संतुष्ट होकर आत्मा के श्रवण, मनन इत्यादि के द्वारा उसके विवेक ज्ञान के लिए प्रयत्न नहीं करता। उसकी आध्यात्मिक तुष्टियां चार प्रकार की होती हैं। प्रकृति से भिन्न आत्मा के विषय में होने के कारण ये तुष्टियाँ आध्यात्मिक या आत्मविषयक कहलाती हैं। आचार्य माठर ने इन नौ तुष्टियों की अम्भ, सलिल, ओघ, वृष्टि, तार, सुतार, सुनेत्र, सुमरीच तथा उत्तमाम्भसिक संज्ञा दी है। गौड़पाद भाष्य में इसका क्रम इस प्रकार है— अम्भ, सलिल, मेघ, वृष्टि, सुतम, पार, सुनेत्र, नारीक, अनुत्तमाम्भसिक। वाचस्पतिमिश्र ने इन तुष्टियों का अम्भ, सलिल, मेघ वृष्टि, पार, सुपार, पारावार, अनुत्तमाम्भ और उत्तमाम्भ रूप में नामकरण किया है।

टिप्पणी—तुष्टि को मोक्ष विरोधी मात्र समझना, जिस ओर प्रायः सभी व्याख्याकारों की दृष्टि रही है, श्रेयस्कर नहीं है।

अब अष्ट सिद्धियों को बतलाते हैं—

ऊहः शब्दोऽध्ययनं दुःखविघातास्त्रयः सुहृत्प्राप्तिः।
दानं च सिद्धयोऽष्टौ सिद्धेः पूर्वोऽङ्कुशस्त्रिविधः ॥५१॥

अनुवाद—ऊह, शब्द, अध्ययन, सुहृद्प्राप्ति, दान तथा तीन दुःख विनाशक—ये आठ सिद्धियाँ हैं। पूर्वागत तीनों विपर्यय, अशक्ति और तुष्टि सिद्धि के विरोधी हैं।

व्याख्या - अभिमत, फल की प्राप्ति सिद्धि है। सदसद् का विवेक होना विचार सामर्थ्य आदि का नाम ऊह है। शब्दों का अर्थ सहित सम्यक् ज्ञान, वाक् प्रतिभा से सबको आकर्षित करने की शक्ति शब्दसिद्धि है। दूसरों के विचारों एवं मनोभावों को समझने की शक्ति अध्ययन है। प्राणी सामान्य क्रूर से क्रूर, शत्रुभावापन्न प्राणियों को स्वानुकूल बनाने की सामर्थ्य सुहृत्प्राप्ति नामक सिद्धि है। दुःख आध्यात्मिक, आधिभौतिक तथा आधि-दैविक तीन हैं—इनके निवारण का सामर्थ्य रखना—यही तीन सिद्धियाँ हैं। यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि सिद्धियाँ लौकिक उत्कर्ष के सूचक हैं— इनसे मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती। अतएव यहाँ हमने तीन वास्तविक दुःख-जन्म, जरा तथा मरण रूप नहीं कहा, अपितु लौकिक दुःखों की चर्चा की है। अपने पास जिस वस्तु का उत्कर्ष या आधिक्य हो, प्रत्युपकार विहीन होकर उसे सुपात्र को दे देना, जिससे प्रत्युपकारी का अर्थ सिद्ध हो जाय, दान नामक आठवीं सिद्धि है। ये सिद्धियाँ पूर्व-कथित विपर्यय, अशक्ति,

तुष्टि तीनों के प्रतिरोधक हैं। पूर्वोक्त तीनों भाव अपकर्ष के परिचायक हैं, जबकि सिद्धियाँ उत्कर्ष की।

विशेष—आचार्य माठर[1] एवं गौड़पाद ने अष्ट सिद्धियों को इस प्रकार समझा है—तर्क के बल पर जो ज्ञान प्राप्त होता है कि पुरुष प्रधान बुद्धि आदि से भिन्न हैं तथा उससे जो मोक्ष होता है, वह ऊह नामक प्रथम सिद्धि है। शब्द ज्ञान से जो पुरुष प्रकृत्यादि विषयों का ज्ञान होता है और उससे जो मोक्ष होता है, शब्द नामक दूसरी सिद्धि है। गुरुमुख से वेद-शास्त्रों का अध्ययन करके पचीस तत्त्वों का ज्ञान होने से जो मोक्ष होता है, वह अध्ययन सिद्धि है। आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक त्रिबिध दुःख का नाश करने के लिए गुरु के पास जाकर उपदेश से जो मोक्ष होता है—उनके निवारक रूप की तीन सिद्धियाँ हैं। कोई ज्ञानीमित्र की प्राप्ति से ही तत्त्व ज्ञान प्राप्त कर लेता है—यह सुहृत्प्राप्ति सिद्धि है। कोई तत्त्वज्ञानियों को आश्रय, औषधि, दण्ड, कण्मडल, भोजन, आच्छादन आदि देकर बदले में उनसे तत्त्व-ज्ञान प्राप्त कर मोक्ष प्राप्त कर लेता है। यह आठवीं दान नामक सिद्धि है। शास्त्रान्तरों[2] में इन्हें तार, सुतार, तारतार, प्रमोद, प्रमुदित, प्रमोदमान, रम्यक् तथा सदा मुदित कहा गया है। उक्त आचार्यो[3] ने सिद्धियों के सापेक्ष विपर्य, अशक्ति तथा तुष्टि की व्याख्या में अंकुश और हाथी का दृष्टान्त दिया है। युक्तिदीपिकाकार तथा जयमंगलाकार ने इसी आशय को ग्रहण किया। वाचस्पतिमिश्र[4] का कथन है कि आठ सिद्धियों में प्रथम अध्ययन नामक सिद्धि केवल कारण है। दुःख विघात रूप तीन मुख्य सिद्धियाँ केवल कार्य हैं और मध्य पठित शब्दादि सिद्धियाँ हेतु और हेतुमान दोनों हैं। शास्त्र-विधि पूर्वक गुरुमुख से अध्यातम विद्या के पारायण का श्रवण, अध्ययन नामक प्रथम सिद्धि है। उसका कार्य शब्द है। कार्य में कारण के आरोप द्वारा शब्द पद से शब्दोत्पन्न अर्थ ज्ञान सूचित होता है। तर्क अर्थात् शास्त्रानुकूल युक्तियों से शास्त्रोक्त विषयों की परीक्षा ऊह है। साधक युक्तियों के द्वारा संदिग्ध पूर्वपक्ष के परित्याग द्वारा उत्तर पक्ष या सिद्धान्त की जो स्थापना है। इसे ही शास्त्रज्ञ मनन कहते हैं। साधक युक्तियों के द्वारा

---

१. माठर वृत्ति, गौडपादभाष्य

२. तारं सुतारं तारतारं प्रमोदं प्रमुदितं, प्रमोदमानं रम्यकं, सदाप्रमुदितमिति। गौ०

३. यथाऽङ्कुशेन गृहीतो गजोवश्योभवति। माठर०, गौ०

४. सां० त० कौ० प्रभा पृ० ३०२

स्वयं परीक्षा किये हुए शास्त्रार्थ या सिद्धान्त में तबतक विश्वास नहीं करता जबतक कि गुरु शिष्य और सहयोगियों के साथ संवाद नहीं कर लेता। इसलिए सुहृदों अर्थात् गुरु-शिष्य तथा सहाध्यायियों का संवाद प्राप्त होना "सुहृत्प्राप्ति" है। और दान पद की निष्पत्ति "शोधन" अर्थवाली दैपधातु से होने के कारण उसका अर्थ 'विवेक ज्ञान' की शुद्धि है—ब्रजमोहन चतुर्वेदी[1] का कहना है कि अध्यात्म विधाओं के परम प्रतिपाद्य पुरुष तत्त्व का गुरुमुख से विधिवत् ग्रहण ही अध्ययन है। डॉ० रामशंकर भट्टाचार्य[2] ने सिद्धियों के स्वरूप को स्पष्ट करने का प्रयास किया है।

टिप्पणी—सिद्धियों से मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती। वाचस्पतिमिश्र का कथन कल्पना प्रसूत है। डॉ० रामशंकर भट्टाचार्य का प्रयास सार्थक एवं प्रशंसनीय है।

पूर्व कारिकाओं में (४६–५१) भाव सर्ग का निरूपण किया गया। अब भाव और लिंग के अन्योन्याश्रय सम्बन्ध को कहते हैं—

न विना भावैर्लिङ्गं न विना लिङ्गेन भावनिर्वृत्तिः[3] ।
लिङ्गाख्यो भावाख्यस्तस्माद् द्विविधः[4] प्रवर्तते सर्गः । ५२॥

अनुवाद—भावों के बिना लिंग नहीं होता और बिना लिङ्ग के भाव की स्थिति नहीं होती। अतएव भाव और लिंग नामक दो प्रकार से सर्ग चलता है।

व्याख्या—प्रत्यय सर्ग ही भाव सर्ग है। लिंग का विवेचन '४०–४२' कारिकाओं में किया गया। सांख्य में पुनर्जन्म का आधार लिंग है, जो पूर्व-जन्म के संस्कारों के फलित रूप भावों से अनुरंजित हो नए-नए शरीर धारण करता रहता है। बिना लिंग के भाव नहीं रह सकता तथा बिना भाव के लिंग की स्थिति नहीं होती। इस प्रकार लिंग और भावों का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध अनादिकाल से चला आ रहा है।

---

१. सांख्यकारिका वसुमति पृ० २१९

२. सां० त० कौ० ज्योतिष्मती पृ० २९८

३. भावसंसिद्धिः—यु०, भावनिष्पत्तिः—जय०

४. भवति द्विधा सर्गः, माठर०

विशेष—आचार्य माठर[1] एवं युक्तिदीपिकाकार ने पूर्वार्द्ध का अनुवाद मात्र कर दिया है। गौड़पाद[2] तथा वाचस्पतिमिश्र ने लिंग का अर्थ तन्मात्र सर्ग किया है, तथा सृष्टि प्रवाह को अनादि कहा है।

टिप्पणी—लिंग का अर्थ तन्मात्र सर्ग कथमपि संगत नहीं कहा जा सकता। लिंग का ईदृश व्याख्यान सांख्य योग में कही नहीं मिलता।

लिङ्ग और भाव के अन्योन्याश्रय सम्बन्ध का निरूपण करने पर अब भौतिक सृष्टि का विवेचन करते हैं—

अष्टविकल्पो दैवस्तैर्यग्योनश्च पञ्चधा भवति ।
मानुषकश्चैकविधः[3] समासतो भौतिकः सर्गः ॥५३॥

अनुवाद—देवसृष्टि आठ प्रकार की और तिर्यक्सृष्टि पाँच प्रकार की होती है। मानव जाति एक प्रकार की है। यही संक्षेप में भौतिक सृष्टि है।

व्याख्या—"देवो[4] दानाद्वा, दीपनाद्वाद्युस्थानो भवति" कथन के अनुसार देवता प्रकाशयुक्त होते हैं। ब्रह्मा, प्रजापति, इन्द्र, पितृ, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, और पिशाच–यह आठ प्रकार का देवसर्ग है। तिर्यक् सृष्टि, पशु, मृग, पक्षी, सरीसृप तथा वृक्षादि हैं। मानव जाति एक प्रकार की होती है। यह विभाजन त्रिगुणानुसार है। संसार में प्राणी अनेक हैं, परन्तु उनका अन्तर्भाव बौद्धिक स्तर पर इन्हीं तीन कोटियों में हो जाता है। पशु का सामान्य अर्थ जानवर है, जिसके अन्दर मनुष्य भी आ जाते हैं। मनुष्य के अतिरिक्त अन्य पशुओं को ऋग्वेद[5] में तीन वर्गों में विभाजित किया गया है। जो वायुमण्डल में रहते हैं (वायव्य) जो वन में रहते हैं (आरण्यक) तथा जो गाँवों में रहते हैं। अतएव पशु एवं मृग का विभाजन उचित है।

विशेष—जयमंगलाकार ने देव एवं तिर्यक् योनियों का वर्णन इस प्रकार किया है—'देवानामयं दैवः। सोऽष्टविधः। तद्यथा ब्राह्मः प्राजापत्यः, सौरः, आसुरः, गान्धर्वः, याक्षः, राक्षसः, पैशाश्चेति। ·····। पशु-मृग-पक्षि-

---

१. लिंगेन विनाभावो न भवति भावैश्च विना लिंगं न भवति यथाग्निना नोष्णत्व-मुष्णत्वं विना नाग्निः। माठर०

२. लिंगेन-तन्मात्रसर्गेण ।········। अनादित्वाच्च सर्गस्य बीजांकुरवदन्योन्याश्रयो न दोषाय। गौ०
'लिङ्गम्' इति तन्मात्र सर्गमुपलक्षयति,
अनादित्वाच्च बीजाङ्कुरवन्नान्योन्याश्रयदोषमावहति ॥ सां० त० कौ०

३. मानुष्यः। मा० गौ०

४. यास्क-निरुक्त ७।१५

५. Vedic Index of Names & Subjects, Vo I P. 510

सरीसृप-स्थावर-भेदात् पंचबिधः। तत्र गवाद्या रासभान्ताः पशवः। सिंहाद्या विडालान्ता मृगाः। हंसाद्या मशकान्ताः पक्षिणः। सर्पादयः कृम्यन्ताः सरीसृपाः। वृक्षादयः स्थूणान्ताः स्थावरा' इति। जयमंगलाकार[1] का मत है कि शास्त्रांतरों में प्रतिपादित सृष्टि के जरायुज, अण्डज उष्मज तथा उद्‌भिज्ज नामक चार भेदों की अपेक्षा एक कम होने से ही भेद के इस व्यवस्था को "संक्षेपतः" कहा गया है। आचार्य माठर[2] के अनुसार भौतिक सर्ग के त्रिधा विभाजन का आधार तुल्यलिंगता है।

टिप्पणी—तिर्यक् योनियों में पशु एवं मृग की गणना वैदिक व्यवस्था के अनुरूप है।

अब बुद्धि के उत्कर्षापकर्ष के अनुसार उर्ध्व, अधः और मध्य लोकों में विभक्त सृष्टि की त्रिविधता कही जा रही है—

ऊर्ध्वं सत्त्वविशालस्तमोविशालश्च मूलतः सर्गः।
मध्ये रजो विशालो ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तः॥५४॥

अनुवाद—ऊर्ध्व लोक में सत्त्वप्रधान, अधो-लोक में तमस्-प्रधान तथा मध्य-लोक में रजः प्रधान सृष्टि होती है। यही ब्रह्मा से लेकर तृणादि पर्यन्त सृष्टि है।

व्याख्या—ब्रह्माण्ड का जो सत्व-बहुल अंश है, वहाँ देवों के आठ प्रकार को सृष्टि है। रजस्-बहुल अंश में मनुष्य तथा तमस्-बहुल अंश में तिर्यक् योनियों का निवास है। देवों की आठ सृष्टि सत्त्व प्रधान है। मनुष्य रजः प्रधान तथा तिर्यक् योनि तमः प्रधान है। देव योनियाँ प्रीति, मनुष्य अप्रीति तथा तिर्यक् योनियाँ विषाद से युक्त हैं। मनुष्य जाति कर्म प्रधान है अन्य योनियाँ भोग प्रधान। ऊर्ध्व, अधः का अर्थ ऊपर नीचे नहीं है। यह विवेचना सत्त्व, रजस् तथा तमस् के आधार पर की गयी है।

विशेष—वाचस्पतिमिश्र[3] के अनुसार द्युलोक से सत्यलोक तक के लोक सत्त्व-प्रधान हैं। सात द्वीपों और समुद्रों वाला मध्य स्थित भूलोक रजः प्रधान है। स्तम्ब[4] का अर्थ आचार्यो ने विटपादि स्थावर किया है।

---

१. समासत इति संक्षेपेण। विस्तरं.......तस्तस्यैव-जरायुजाण्डजोष्मजोद्‌भिज्जाख्याश्चत्वारो भेदाः शास्त्रान्तरे द्रष्टव्याः। जय०

२. अत्रतुल्यलिङ्गत्वाद्‌भवति। पशुपक्षिमृगसरीसृपस्थावरान्तश्चेति। मानुष्य एकविधस्तुल्यलिंगत्वाद् ब्राह्मणादिचांडालान्तः। माठर०

३. द्युप्रभृतिः सत्यान्तो लोकः सत्त्वबहुलः। सां० त० कौ०

४. स्तंवग्रहणेन वृक्षादयः सङ्‌गृहीता। सां०त०कौ०, स्तम्बश्च तृणविटप पर्यन्तः। जय०

युक्तिदीपिकाकार की "सत्वविशाल: तथा तमोविशाल:" पदों की व्याख्या ध्यातव्य है—तमायं सर्गः सत्त्वविशालः, पिशाचेभ्योरक्षसाम् रक्षोभ्यो-नागानाम्, नागेभ्यो गन्धर्वाणाम् गन्धर्वेभ्यः पितृणाम् पितृभ्योस्मिदशानाम्, तेभ्योप्रजापतीनाम् तेभ्योऽपि ब्रह्मणः एवं विशालग्रहणं समर्थितं भवति। तमोविशाल: पशुभ्योदिहि मृगाणाम् प्रकृष्टतरं तमः मृगेभ्यः पक्षिणाम् पक्षिभ्यः सरीसृपाणाम् सरीसृपेभ्यः स्थावराणाम्। सां० सू०[1] में आब्रह्म स्तम्ब पर्यन्तम् कहा गया है। J. R. Ballantyne[2] ने स्तम्ब का अर्थ Post किया है।

टिप्पणी—कारिकागत ऊर्ध्वं, अध: पदों का स्वारस्य समझना आवश्यक है। युक्तिदीपिकाकार का कथन मौलिक है।

पूर्व कारिका में त्रिबिध भौतिक सृष्टि का विवेचन हुआ। इन योनियों में कौन दुःख भोगता है तथा कब तक दुःख भोगता है ? इसे कहते हैं—

तत्र जरामरणकृतं दुःखं प्राप्नोति चेतनः पुरुषः।
लिङ्गस्याविनिवृत्तेस्तस्माद् दुःखं स्वभावेन[3] ॥५५॥

अनुवाद—वहाँ लिंग के संसरणकाल तक चेतनायुक्त शरीर (जीवात्मा) जरामरण से उत्पन्न दुःख भोगता है। अत: दुःख स्वभाव से ही है।

व्याख्या—'तत्र' से तात्पर्य है—उन देव, मनुष्य, तिर्यक् योनियों में। यहाँ पुरुष का अर्थ शरीर हैं। 'चेतनः पुरुषः' से तात्पर्य चेतना युक्त शरीर से है। शरीर[4] से मृत शरीर का भी बोध होता है। इसीलिए दोनों में भेद करने के लिए 'चेतनः' शब्द प्रयुक्त हुआ है। मुण्डक उपनिषद्[5] में इस आशय का संकेत है वहाँ "चेतनः" के स्थान पर "सतः" पद आया है। गीता[6] १३।६ में आये पद चेतना का अर्थ शंकराचार्य ने अन्तःकरण की प्रकाशमान वृत्ति

---

१. सां० सू० ३।४७
२. From Brahmdownto the post. Samkhya Apho rism of KapiI.
३. समासेन, यु०, माठर०
४. गीता रहस्य, पृष्ठ १५१
५. यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च यथा पृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति
यथा सतः पुरुषात्केशलोमानि तथाक्षरात्सम्भवतीह विश्वम्। मु० १।१।७
६. तस्यामभिव्यक्तान्तः करणवृत्तिः, तप्तइव लोहपिण्डे अग्निः आत्मचैतन्या भासरसविद्धा चेतना। गीता १३।६, शांकरभाष्य

किया है। तिलक[1] ने इसका अर्थ प्राण किया है। गीता में यह शब्द प्रकृति के परिप्रेक्ष्य में आया है। इस प्रकार जब तक लिंग का संसरण बन्द नहीं होता, तब तक जीवात्मा नाना योनियों में जरा-मरण से उत्पन्न दुःख को भोगता रहता है। जरा में जन्म-दुःख भी सम्मिलित है क्योंकि उत्पन्न जीवात्मा ही जरा को प्राप्त होता है। इस प्रकार प्रत्येक जीवात्मा को जब तक ज्ञान न प्राप्त हो जाय इन (जन्म, जरा तथा मरण) दुःखों को भोगना पड़ता है। संसरण करना लिंग का स्वभाव है। संसरण करना अर्थात् जन्म लेना या जीवभाव को प्राप्त होना है। इस प्रकार जन्म लेना शरीर धारण करना ही दुःख है। वास्तविक भोक्ता न पुरुष है और न प्रकृति। बल्कि दोनों का संयोग रूप जीवात्मा है। इस प्रकार जन्म, जरा, मरण रूप तीन वास्तविक दुःखों को जो सांख्य को अभिप्रेत हैं, लिंग के संसरण काल तक या ज्ञान उत्पन्न होने तक जीवात्मा को भोगना पड़ता है।

विशेष—आचार्य माठर[2], गौड़पाद आदि व्याख्याकारों की दृष्टि में चेतन-पुरुष ही दुःख भोक्ता है। वाचस्पतिमिश्र[3] का कथन है कि पुरुष शब्द का अर्थ है—"पुरि" अर्थात् लिंग शरीर में रहने वाला। लिंग बुद्धि से सम्बद्ध है। अतः चेतन पुरुष भी बुद्धि और उसके दुःखादि गुणों से सम्बद्ध होता है। पुरुष लिंग शरीर से अपना भेद न करने के कारण उसके धर्मों को अपने में आरोपित कर लेता है। नारायणतीर्थ[4] ने योगशास्त्र को आश्रय बनाया है। ब्रजमोहन चतुर्वेदी[5] कहते हैं कि दुःख वस्तुओं का स्वभाव है।

टिप्पणी—चिद्रूप पुरुष कभी भी भोक्ता नहीं हो सकता। वाचस्पतिमिश्र का कथन अस्पष्ट एवं भ्रामक है। ब्रजमोहन चतुर्वेदी का कथन संगत नहीं है।

---

१. गीता रहस्य-पृष्ठ ८२९

२. एवमेतैर्दुःखैरन्तकाले च जनितदुःखानि सर्वाणि प्राप्नोति चेतनः पुरुष एव प्रधानादीनामचेतनत्वात्। माठर०

पुरुष एव चैतन्यशक्तियोगादुपलभते। यु०

एतत्त्वाध्यात्मिकं दुःखेऽन्तर्भूतमप्रीत दुःखं बुद्ध्याध्यवसितं पुरुषः प्राप्नोति तस्य चेतनत्वात्। जय०

३. पुरुषाद्भेदाग्रहाल्लिंगधर्मानात्मन्यध्यवस्यति पुरुषः। सां० त० कौ०

४. यथा भगवान् पतञ्जलिः-परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः इति। सां० चं०

५. सांख्यकारिका वसुमतिः पृष्ठ २२७

संसार में सभी प्राणी दुःख भोगते हैं। मानव सृष्टि प्रकृति की एक विशेष रचना है क्योंकि यह सृष्टि मोक्ष निमित्त होती है। इसे यहाँ कहा जा रहा है—

इत्येष प्रकृतिकृतो[1] महदादिविशेष[2]भूतपर्यन्तः।
प्रतिपुरुषविमोक्षार्थं स्वार्थ इव परार्थ आरम्भः ॥५६॥

अनुवाद—इस प्रकार यह विशेष रूप प्रकृत-कृत महत् से लेकर पंचमहाभूतों से युक्त (मानव सृष्टि) प्रत्येक पुरुष के मोक्ष के लिए, अपने प्रयोजन के समान दूसरे के लिए की गयी है।

व्याख्या—इति शब्द पूर्वकारिका के प्रकरण समाप्ति की व्याख्या करता है, जिसका आशय यह है कि जीवात्मा नाना योनियों में जन्म, जरा तथा मरण से उत्पन्न दुःख को भोगता है। "विशेष" पद के साथ "एषः" शब्द विशेषण रूप में प्रयुक्त है, जिसका अर्थ यह हुआ कि यह महत् से लेकर पंच महाभूतों से बनी हुई प्रकृति की विशेष सृष्टि है, जो प्रत्येक मनुष्य को मुक्त होने के लिए है। बुद्धि की विशिष्टता के कारण मानव सृष्टि प्रकृति की विशेष रचना है। यह भोग एवं अपवर्ग द्विविध प्रयोजनों की सिद्धि में समर्थ है। कारिकागत प्रकृति-कृतः पद का स्वारस्य केवल इतना ही है कि यह सृष्टि प्रकृति का कार्य या विकार है अथवा प्रकृति इसका उपादान कारण है। पुरुष तत्त्व का बन्धन एवं मोक्ष से सम्बन्ध न रहने के कारण यहाँ उल्लेख नहीं हुआ है। जब कि प्रत्येक क्रियाशील शरीर में उसकी विद्यमानता अपरिहार्य है। प्रकृत कारिका में मात्र इसी बात पर बल दिया गया है कि मानव सृष्टि प्रकृति की सर्वोत्तम कृति है क्योंकि इस शरीर से कैवल्य की प्राप्ति होती है। इस रचना विशेष के प्रति प्रकृति का कोई अपना स्वार्थ नहीं है। यह प्रत्येक मनुष्य को मुक्त होने के लिए की गयी है, परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि इस रचना विशेष के प्रति प्रकृति का कोई स्वार्थ है। यह उपमा की भाषा है जो स्थूल रूप से वस्तु को समझाने के लिए प्रयुक्त हुई है। इसे उदाहरण मानकर या किसी रूप में प्रकृति को सृष्टिकर्त्री नहीं कहा जा सकता।

---

१. प्रकृति कृतो, गौड़पाद०

२. महदादि विषयभूतपर्यन्तः। माठर०

विशेष—आचार्यों[1] ने सृष्टि को प्रकृति-कृत कहा है। नारायणतीर्थ[2] ने इस सन्दर्भ में योगशास्त्र को स्मरण किया है। सांख्यसूत्र[3] में इस सम्बन्ध में उष्ट्र और रसोइयाँ का दृष्टान्त दिया गया है। आद्याप्रसाद मिश्र[4] का कहना है कि यहाँ योग, वेदान्त तथा नास्तिक सम्प्रदायों की सृष्टि प्रक्रिया का खण्डन किया गया है। डॉ० रामशंकर भट्टाचार्य[5] का कहना है कि उपादान दृष्टि से महदादि प्रकृति द्वारा ही कृत है। पर इस मत से प्राकृत उपाधि से विशिष्ट कोई पुरुष (प्रजापति ईश्वर) ब्रह्माण्ड का सर्जक है इस मत का विरोध नहीं है।

टिप्पणी—प्रकृतकारिका सृष्टि की व्याख्या के लिए प्रवृत्त नहीं हुई है। यदि सम्पूर्ण सृष्टि मोक्षनिमित्त है तो फिर मानव सृष्टि की उत्कृष्टता की व्याख्या कैसे सम्भव हो सकती है ?

पूर्वकारिका में मानव सृष्टि को मोक्ष निमित्त कहा गया। अब जिस मनुष्य को मुक्त होना है, उसके प्रति प्रकृति कैसे प्रवृत्त होती है ? कहते हैं—

वत्सविवृद्धिनिमित्तं क्षीरस्य यथा प्रवृत्तिरज्ञस्य ।
पुरुषविमोक्षनिमित्तं तथा प्रवृत्तिः प्रधानस्य ।।५७।।

अनुवाद—जैसे बछड़े के पोषण के लिए दुग्ध की अज्ञ (गाय) की प्रवृत्ति (स्वतः) होती है, वैसे ही पुरुष के मोक्ष के लिये प्रधान की प्रवृत्ति (स्वतः) होती है।

---

१. एवमादिर्यः पूर्वमनुपवर्णितो लिङ्गसर्गो महदादिभूतपर्यन्तः एष प्रकृतिकृत इति। मा०
प्रकृतिकृतो प्रकृतिकरणे प्रकृतिविक्रियायां। तथा चोक्तं कुंभवत् प्रधानं, पुरुषार्थं कृत्वा निवर्तते इति। गौ०
प्रकृतिकृत एव नाण्वादिकृतः। यु०
प्रकृतिकृत इति, प्रधानकृतः नेश्वरादिकृत इत्यर्थः। जय०
प्रकृत्यैवकृतो नेश्वरेण, न ब्रह्मोपादानः, नाप्यकारणः
यथौदनकाम ओदनाय पाके प्रवृत्तः ओदनसिद्धौ निवर्तते। सां० त० कौ०

२. आह चैवं समानतंत्रे भगवान् पतञ्जलिः—'तदर्थ एव दृश्यास्यात्मा कृतर्थं प्रति नष्टप्यनष्टं तदन्यसाधारणत्वादिति।' सां० चं०

३. ऊष्ट्रकुंकुमवहनवत्। सां० सू० ३।५६, सूदवत-पाके सां० सू० ३।६३

४. सां० त० कौ० प्रभा पृष्ठ ३११

५. सां० त० कौ० ज्योतिष्मती पृष्ठ ३१५

व्याख्या—पश्वादि तिर्यक् योनियों में तमो गुण की बहुलता रहती है, अतएव वे मूढ़ या अज्ञानी कहे जाते हैं। इस प्रकार यहाँ अज्ञ पद पशु विशिष्ट 'गाय' का बोधक है। चिद्रूप पुरुष का बन्धन मोक्ष नहीं होता है। मोक्ष की प्राप्ति मानव शरीर से ही सम्भव है। जिस मनुष्य को कैवल्य की प्राप्ति होना है उसे सांख्यकारिका में पुमान् कहा गया है। प्रधान पद इसी विवेकशील मनुष्य (पुमान्) के सन्दर्भ में सांख्यकारिका में प्रयुक्त हुआ है, जिसके सम्बन्ध में पहले ही कहा जा चुका है। कैवल्य ज्ञान के उत्पन्न होने पर ही प्राप्त हो सकता है। इस प्रकार सम्पूर्ण कारिका का अर्थ इस प्रकार है—

"जिस प्रकार बछड़े को पुष्ट होने के लिये गाय उसे दूध देने के लिए स्वतः प्रवृत्त होती है, उसी प्रकार मनुष्य विशेष (पुमान्) को मुक्त होने के लिए उसे ज्ञान देने के लिए प्रकृति स्वतः प्रवृत्त होती है। यहाँ बछड़े की तुलना मनुष्य विशेष से, पुष्ट होने की तुलना मोक्ष से, दूध की तुलना ज्ञान से तथा गाय की तुलना प्रकृति से की गयी है।

इस दृष्टान्त को सिद्धान्त मानकर सांख्य मत के विरुद्ध आक्षेप नहीं किया जा सकता।

विशेष—आचार्य माठर[1] गौड़पाद तथा जयमंगलाकार[2] का मत है कि जिस प्रकार गाय द्वारा उपयुक्त तृण तथा ग्रहण किया जल दूध रूप में परिणत होकर बछड़े के शरीर को पुष्ट करता है तथा पुष्ट होने पर निवृत्त हो जाता है। उसी प्रकार पुरुष के मोक्ष के लिए जड़ प्रधान की प्रवृत्ति होती है। युक्तिदीपिकाकार[3], वाचस्पतिमिश्र[4], नारायणतीर्थ[5] के कथन इससे भिन्न हैं—जैसे बछड़े के पोषण के लिए अचेतन दूध स्वतः निकलने लगता

---

१. यथातृणोदकं गवाभक्षितं पीतं च क्षीरभावेन परिणमति, वत्सवृद्धिकरोति, पुष्टे वत्से निवर्तते। एवं पुरुषविमोक्षनिमित्तं प्रधानस्याज्ञस्य प्रवृत्तिः।

माठर०, गौ०

२. यथातृणादिकमचेतनं गवाशितं पीतं च, वत्सस्य पुष्टिः, कर्तव्येति, क्षीरात्मना परिणमति कृतार्थं च निवर्तत इति। जय०

३. यथा क्षीरमचेतनं वत्सविवृद्धिमुद्दिश्च प्रवर्तते एवं प्रधानमपि पुरुषविमोक्ष्य-मुद्दिश्य प्रवर्तते। यु०

४. दृष्टमचेतनमपि प्रयोजनं प्रति प्रवर्तमानम्, यथा वत्सविवृद्ध्यर्थं क्षीरमचेतनं प्रवर्तते, एवम्प्रकृतिरचेतनापि पुरुषविमोक्षणाय प्रवर्तिष्यते। सां० त० कौ०

५. एवाचेतनस्य क्षीरादेः प्रवृत्तिदर्शनात्। सांख्यचंद्रिका

है, उसी प्रकार पुरुष के मोक्ष के लिए प्रकृति स्वतः प्रवृत्त होती है। डॉ० रामशंकर भट्टाचार्य[1] का कहना है कि प्रधान की प्रवृत्ति महदादि रूप में परिणत होना हैं तथा मोक्ष महदादि परिणाम की समाप्ति है। सांख्यसूत्र[2] में भी अचेतन दूध की प्रवृत्ति का उल्लेख है। मुसलगाँवकर[3] ने यज्ञ का अर्थ वत्स के स्वरूप से अनभिज्ञ किया है।

टिप्पणी—पुरुष के लिए बंधन तथा मोक्ष अवास्तविक हैं। कारिका के स्पष्टीकरण के लिए "यज्ञ" तथा "प्रधान" पद का स्वरूप समझना आवश्यक है।

दुःखत्रय की पीड़ा के निवारक उपाय को जानने की जिज्ञासा मनुष्य में स्वभावतः होती है। इस विषय में उसे कोई प्रेरित नहीं करता—इसे ही यहाँ कहा जा रहा है—

औत्सुक्यनिवृत्यर्थं यथा क्रियासु प्रवर्तते लोकः ।
पुरुषस्य विमोक्षार्थं प्रवर्तते तद्वदव्यक्तम् ॥५८॥

अनुवाद—जैसे लोग उत्कंठा की निवृत्ति के लिए कार्यों में प्रवृत्त होते हैं, उसी प्रकार अव्यक्त पुरुष मोक्ष के लिए प्रवृत्त होता है।

व्याख्या—उत्कंठा का अर्थ है तीव्रजिज्ञासा। उससे निवृत्ति तभी हो सकती है, जब कि अभीष्ट की प्राप्ति हो जाय। मानव जीवन का मुख्य प्रयोजन दुःखत्रय की पीड़ा से सदा के लिए मुक्त होना है। इसके लिए तदुपयोगी साधन तत्त्वाभ्यास में वह स्वभाव : प्रवृत्त होता है। तत्त्व व्यक्त अव्यक्त तथा ज्ञ हैं। इनके अभ्यास के लिए मनुष्य को कोई प्रेरित नहीं करता यह उसकी स्वाभाविक प्रवृत्ति है। इस प्रकार जैसे व्यावहारिक जगत् में सभी प्राणी अपने-अपने प्रयोजन को सिद्ध करने के लिए तदुपयोगी क्रियाओं में स्वभावतः प्रवृत्त होते हैं, वैसे प्रकृति मनुष्य को मुक्त होने के लिए तत्त्वाभ्यास रूप (साधन) क्रिया में स्वतः प्रवृत्त होतीहै, अर्थात् मनुष्य व्यक्त, अव्यक्त तथा ज्ञ के सम्यक् ज्ञान के लिए स्वभावतः प्रवृत्त होता है। ज्ञान की खोज में प्रवृत्त होना मनुष्य का स्वभाव है इस विषय में उसे कोई प्रेरित नहीं करता। यह उसकी स्वाभाविक चाह है। यहाँ अव्यक्त पद मनुष्य के स्वभाव से सम्बद्ध है।

---

१. सां० त० कौ०, ज्योतिष्मती, पृष्ठ ३२०

२. अचेतनत्वेऽपि क्षीरवच्चेष्टितं प्रधानस्य। सां० सूत्र ३।५९

३. सां० त० कौ०, तत्त्वप्रकाशिका, पृ० २७७

विशेष—आचार्य माठर[1] एवं गौड़पाद ने विषयोपभोग तथा कैवल्य द्विविध प्रयोजनों के प्रकृति द्वारा सिद्ध होने की बात कही है। युक्तिदीपिकाकार[2] ने प्रकृति तथा पुरुष को दृश्य और दर्शन के रूप में वर्णित किया है। जयमंगलाकार[3] ने प्रलय अवस्था में पुरुष को प्रधान का प्रेरक कहा है। वाचस्पतिमिश्र[4] का कथन है प्रकृति पुरुष के मोक्ष के लिए प्रवृत्त होती है। नारायणतीर्थ[5] का भी यही मत है। डॉ० रामशंकर भट्टाचार्य[6] का मत है कि ५८वीं कारिका का कथन यह है—क्रिया की प्रवृत्ति कर्त्ता के औत्सुक्य की समाप्ति होने पर स्वयं निरुद्ध हो जाती है। इस अपने-आप निरुद्ध होना रूप तथ्य को कहने के लिए ही यह कारिका कही गई है। ब्रजमोहन[7] चतुर्वेदी का कहना है कि प्रकृत कारिका में यह बताने का प्रयास किया है कि पुरुष को भोग और अपवर्ग प्रदान करने की प्रवृत्ति की यह क्रिया मूलप्रवृत्तिजन्य है।

टिप्पणी—कारिका के स्पष्टीकरण के लिए अव्यक्त पद से स्वारस्य को समझना आवश्यक है। पुरुष पद से यहाँ चिद्रूप पुरुष का कथन नहीं हुआ है।

अब प्रकृति किस प्रकार विवेकी मनुष्य ने निवृत्त होती है, कहते हैं—

रङ्गस्य दर्शयित्वा निवर्तते नर्तकी यथा नृत्यात्।
पुरुषस्य तथात्मानं प्रकाश्य विनिवर्तते प्रकृतिः।।५९।।

अनुवाद—जैसे नर्तकी रंगस्थ दर्शकों के समक्ष अपना नृत्य दिखाकर नृत्य

---

१. यथा लोक इष्टविषयौत्सुक्ये सति तस्य निवृत्त्यर्थं क्रियासु गमनागमनासु प्रवर्तते कृतकार्यो निवर्तते तथाऽव्यक्तं पुरुषस्य विमोक्षार्थं शब्दादि भोगलक्षणं गुणपुरुषान्तरोपलब्धिलक्षणं द्विविधं पुरुषार्थं कृत्वा निवर्तते। माठर०, गौ०

२. प्रधानमेकस्यपुरुषस्यात्मानं प्रकाश्योदेवां दृश्यदर्शन शक्त्योरौत्सुक्य निवृत्ति भविष्यति। यु०

३. यथौत्सुक्यनिवृत्त्यर्थमभिमतक्रियासु लोकः प्रवर्तते तद्वत् प्रलयावस्थायां पुरुषोऽपि मोक्ष निमित्तं यदौत्सुक्यं तन्निवृतये, प्रवर्तयेत् प्रधानमिति। जय०

४. औत्सुक्यमिच्छा सा खल्विष्यमाणप्राप्तौ निवर्तते। सां० त० कौ०

५. एवमव्यक्तं प्रधानमपि पुरुषार्थो मया कर्त्तव्य इतीच्छायां पुरुषविमोक्षरूपफलार्थं प्रवर्तते। सां० चं०

६. सां० त० कौ०, ज्योतिष्मती, पृ० ३२६

७. सां० का०, वसुमति, पृ० २३३

से निवृत्त हो जाती है, वैसे ही प्रकृति पुरुष के समक्ष अपने को प्रस्तुत कर कर निवृत्त हो जाती है।

व्याख्या—मनुष्य के प्रयोजन दो हैं—भोग एवं कैवल्य। ये दोनों प्रकृति द्वारा सिद्ध होते हैं। जब उसके प्रयोजन सिद्ध हो जाते है, तब प्रकृति उसके लिए निवृत्त हो जाती है। 'आत्मानं प्रकाश्य' का अर्थ है उस मनुष्य के प्रयोजनों को चरितार्थ कर देना। नर्तकी का दृष्टान्त उपमा मात्र है। उसके हाव-भाव और क्रिया-कलापों की तुलना प्रकृति के आकर्षणों से की जा सकती है। यह दृष्टान्त विषय वस्तु को स्थूलतया समझाने के लिए प्रयुक्त हुआ है।

विशेष—आचार्य माठर[1] ने आत्म प्रकाश्य का अर्थ देव, मानुष, तिर्यक्-योनियों में जन्म ग्रहण करना किया है। अन्य आचार्यों ने माठर का ही अनुसरण किया है। डॉ० रामशंकर भट्टाचार्य[2] के अनुसार आत्मानं प्रकाश्य की ध्वनि यह है—भोगापवर्ग सम्बन्धी सभी विषयों का पूर्ण हो जाना। अर्थात् महदादि क्रम की समाप्ति होना। ब्रजमोहनचतुर्वेदी[3] का कहना है कि प्रकाश्य का अर्थ पुरुष से अपने भेद को प्रकाशित करना है।

टिप्पणी—यहाँ पुरुष पद तत्त्वाभ्यासी मनुष्य के लिए आया है। 'आत्मानं प्रकाश्य' की ध्वनि विवेच्य है। कारिका की उपमित भाषा ध्यातव्य है।

विवेकी मनुष्य के भोगापवर्ग रूप प्रयोजनों की सिद्धि में प्रकृति का कोई स्वार्थ नहीं है। प्रकृति का समस्त कार्य पुरुष की विद्यमानता में ही प्रकाशित होता है। इन्हीं विषयों का विवेचन करते हैं—

नानाविधैरुपायैरुपकारिण्यनुपकारिणः पुंसः।
गुणवत्यगुणस्य सतस्तस्यार्थमपार्थकं चरति ॥६०॥

अनुवाद—उपकारिणी गुणवती (प्रकृति) नाना प्रकार के उपायों से अगुण (पुरुष) की विद्यमानता में उस अनुपकारी पुरुष (मनुष्य) के प्रयोजन को निःस्वार्थ सिद्ध करती है।

---

१. यथा नर्तकी श्रृङ्गारादिरसैर्हावभावैश्च निबद्धगीतवादित्रनृत्यानि रङ्गस्य दर्शयित्वा कृतकार्या नृत्यान्निवर्तते। एवं प्रकृतिर्महदहङ्कारतन्मात्रेन्द्रिय भूतभावेन देवमानुषतिर्यग्रूपासु योनिषु सुखदुःखमोहाकृतिः शान्तघोरमूढविषया सती आत्मानं पुरुषस्य प्रकाश्य निवर्तते।

२. सां० त० कौ०, ज्योतिष्मती, पृष्ठ ३२८

३. सांख्यकारिका बसुमति, पृष्ठ २३४

व्याख्या—त्रिगुण से युक्त होने के कारण प्रकृति को गुणवती कहा गया है। विवेकी मनुष्य (पुमान्) के द्विविध प्रयोजनों को निःस्वार्थ सिद्ध करने के कारण उसे उपकारिणी कहा गया है। विवेकी मनुष्य प्रकृति के प्रति कोई कृतज्ञता नहीं रखता। इसलिए उसे अनुपकारी कहा गया है। पुंसः पद 'पुम्' शब्द के षष्ठी विभक्ति के एक वचन का रूप है। प्रकृति लाखों में किसी एक मनुष्य के ही द्विविध प्रयोजनों की सिद्ध कर पाती है, सभी के नहीं। यह सामान्य बात है कि ज्ञान सभी को उत्पन्न नहीं होता है। प्रकृति की सारी कला का अस्तित्व पुरुष की विद्यमानता में ही संभव है। पुरुष के लिए 'अगुण' पद आया है। विषय अनेक हैं, अतएव उनका भोग अनेक प्रकार से हो सकता है। कैवल्य ज्ञान रूप उपाय से प्राप्त होता है। प्रकृत कारिका में प्रकृति, पुरुष तथा विवेकी मनुष्य (पुमान्) साथ-साथ आये हैं। यह कारिका ग्यारहवीं कारिका से अधिक मेल खाती है।

विशेष—आचार्य माठर[१] ने नाना उपायों की व्याख्या शब्द, रूप, रस, गंध, स्पर्श, रूप में, गौड़पाद[२] ने देव, मनुष, तिर्यक् भाव रूप में, जयमंगलाकार[३] ने धर्मादि सात रूपों में तथा नारायणतीर्थ[४] ने महदादि रूप में किया हैं। पुंसः का[५] अर्थ व्याख्याकारों ने 'पुरुष' किया है। माठर[६] तथा गौड़पाद ने सत् का अर्थ नित्य किया है।

टिप्पणी—अगुण पुरुष का क्या प्रयोजन हो सकता है? पुमान् का अर्थ मनुष्य है, चिद्रूप पुरुष नहीं। इसे स्पष्ट किया जा चुका है।

अब विवेकी मनुष्य के प्रति प्रकृति की सुकुमारता का विवेचन करते हैं—

प्रकृतेः सुकुमारतरं न किंचिदस्तीति मे मतिर्भवति।
या दृष्टास्मीति पुनर्न दर्शनमुपैति पुरुषस्य ॥६१॥

---

१. शब्दस्पर्शादिभिरुपकर्तुं शीलमस्याः सा तथोक्ता। मा०

२. देवमानुषतिर्यग्भावेन सुखदुःखमोहात्मकभावेन। गौ०

३. पूर्वसप्तभिर्धर्मादिभिरुपायैस्त्रिषु विषयेष्वात्मानं प्रकाशयत्युपकारिणी। जय०

४. नानाविधैर्महदहङ्कारेन्द्रियमनः प्रभृतिभिरुपायैः। सां० चं०

५. एवमियं प्रकृतितपस्विनी गुणवत्युपकारिण्यनुपकारिणि पुरुषे व्यर्थपरिश्रमेति। सां० त० कौ०

पुंसः पुरुषस्य, सां० च०

६. एवमस्य पुंसोऽगुणस्यापि सतः (नित्यस्य)। मा०

सतो नित्यस्य। गौ०

अनुवाद—मेरी यह धारणा है कि प्रकृति से अधिक लज्जालु कोई नहीं हैं, जो कि मैं देख ली गयी हूँ, यह सोचकर पुनः उस पुरुष के समक्ष नहीं आती।

व्याख्या—'मैं' शब्द ग्रन्थकार ईश्वरकृष्ण के लिए प्रयुक्त हैं—अर्थात् सांख्य को मान्य या सांख्य की दृष्टि में है। प्रकृति की सुकुमारता उपमा मात्र है क्योंकि प्रकृति कोई शरीरधारी प्राणी नहीं है। इस प्रकार सांख्य की दृष्टि में प्रकृति से अधिक कोई कोमल नहीं है। तत्त्वों का सम्यक् ज्ञान होने पर प्रकृति का व्यापार उस विवेकी पुरुष के प्रति बन्द हो जाता है। यही प्रकृति की सुकुमारता है। मैं देख ली गयी का तात्पर्य यह है कि उस विवेकी मनुष्य के भोगापवर्ग प्रयोजन सिद्ध हो चुके हैं। उस पुरुष के समक्ष नहीं जाती की ध्वनि यह है कि उसके प्रति व्यापार शून्य हो जाती है। इस प्रकार कारिका का अर्थ यह है—सांख्य मत में प्रकृति से अधिक कोमल कोई नहीं है, जो मनुष्य को तत्त्वज्ञान होने पर फिर उसके लिए प्रवृत्त नहीं होती।

विशेष—आचार्य माठर के अनुसार 'मे' पद पुरुष से सम्बद्ध है। जयमंगलाकार ने इसे प्रकृति का ही स्वविषयक अनुभव कहा है। गौड़पाद ने इसे ग्रंथकार की उक्ति माना[1] है। 'सुकुमारतर' का अर्थ माठर ने 'विशिष्टतर' गौड़पाद ने 'सुभोग्यतर', जयमंगलाकार ने 'सूक्ष्मतर', वाचस्पतिमिश्र ने 'अतिपेशलता' तथा नारायणतीर्थ ने 'सलज्जम्' किया है। अतिपेशलता का अनुवाद आद्याप्रसाद मिश्र ने अत्यधिक लज्जालु होना तथा रामशंकर भट्टाचार्य ने अति कोमल होना किया है। आचार्य माठर एवं गौड़पाद[2] ने जगत्कारण रूप ईश्वर और काल का खंडन किया तथा प्रधान को जगत् का कारण कहा है। इसी आधार पर लोकमान्य तिलक ने ६१वीं कारिका के गौड़पाद भाष्य को दो कारिकाओं का भाष्य माना है तथा लुप्त कारिका का स्वरूप भी निर्धारित किया है—

कारणमीश्वरमेके ब्रुवते कालं परे स्वाभावं वा।
प्रजाः कथं निर्गुणतो व्यक्तः कालः स्वभावश्च ॥

---

१. मे मतिर्भवति। गौ०

२. अत्र सांख्या वदन्ति। ईश्वरः कारणं न भवति ....।
स्वभावोनाम न कश्चित्पदार्थोऽस्ति ....। कालोनाम न कश्चित्पदार्थोऽस्ति।
..........। एव प्रधानं हित्वा नास्त्यन्यत् कारणम्। मा०
तस्मात् कालो न कारणं। नापि स्वभाव इति। तस्मात् प्रकृतिरेव कारणं। गौ०

आचार्य माठर[१], गौड़पाद तथा जयमंगलाकार ने उसी पुरुष के समक्ष न जाने की बात कही है, जिसने प्रकृति को देख लिया, परन्तु वाचस्पतिमिश्र[२] ने परपुरुष दर्शन की बात कही है। इस सम्बन्ध में आचार्य माठर ने बड़ा सुन्दर दृष्टान्त दिया है। डॉ० रामशंकर भट्टाचार्य[३] ने कारिकागत 'मे' पद को संगत नहीं माना है। उन्होंने कारिका के पूर्वार्द्ध का स्वरूप भी निर्धारित किया है। 'प्रकृतेः सुकुमारतरं न किञ्चिदित्यन्तिमामतिर्भवति'।

टिप्पणी—'मे' पद ग्रंथकार की उक्ति है। पाठभ्रष्ट होने की बात संगत नहीं प्रतीत होती।

पूर्व कारिकाओं में (५५–६१) बंधन-मोक्ष के प्रसंग में 'पुरुष' पद पठित हुआ है, जबकि चिद्रूप पुरुष के लिए ये अवास्तविक हैं। यह भ्रान्ति न हो जाय कि पुरुष का बंधन मोक्ष होता है। इसका निवारण करते हैं—

तस्मान्न[४] बद्ध्यतेऽद्धा न मुच्यते नापि संसरति कश्चित्।
संसरति बध्यते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृतिः ॥६२॥

अनुवाद—इसलिए वस्तुतः कोई (पुरुष) न तो बंधन में पड़ता है, न मुक्त होता है और न संसरण ही करता है। नाना रूपों में प्रकृति ही संसरण करती है बंधन में पड़ती है और मुक्त होती है।

व्याख्या—बंधन तथा मोक्ष जीवात्मा का होता है। न प्रकृति का और न पुरुष का। पूर्वकारिकाओं में इस प्रसंग में पुरुष पद की आवृत्ति हुई है। परन्तु वहाँ उसका अर्थ चिद्रूप पुरुष नहीं है। यहाँ वह पुरुष है जिसकी सिद्धि

---

१. यथा काचित्कुलस्त्री साध्वी स्वगृहद्वारिस्थिता पुरुषेण सहसैवागतेन दृष्टा सहसैवं व्रीडमानात्वरितं गृहं प्रविष्टा सा एवं मत्वा दृष्टाऽहमनेनेति न पुनर्दर्शनमुपैति पुरुषस्य।
अहमनेन पुरुषेण दृष्टास्मीत्यस्य पुंसः पुनर्दर्शनं नोपैति। गौ०
सा प्रकृतिर्व्यक्तात्मना च दृष्टाहमनेनेति न पुनर्दर्शनमुपैति पुरुषस्य, द्रष्टव्याभावात्। जय०

२. असूर्यम्पश्या हि कुलबधूरति मन्दाक्षमन्थरा प्रमादाद्विगलितसिचयाञ्चला चेदालोक्यते परपुरुषेण। सां० त० कौ०

३. सां० त० कौ०, ज्योतिष्मती पृष्ठ ३३३

४. तस्मान्नबध्यतेऽसौ न मुच्यते। यु०
तस्मान्न बध्यते नापिमुच्यते। माठर

सत्रहवीं कारिका में की गयी है तथा अठारहवीं में बहुत्व प्रतिपादित है। इसलिए उन्नीसवीं कारिका में दोनों (चिद्रूप पुरुष तथा जीवात्मा) में भेद बतलाया गया है। यद्यपि दोनों के लिए सांख्यकारिका में पुरुष पद ही व्यवहृत है। संसरण लिंग करता है जो जीव का शुद्धतम् भाव है। बंधन या मोक्ष शरीर का होता है जो जीवात्मा से सम्बन्ध होता है। सांख्यकारिका में जीवात्मा का अनेकत्व प्रतिपादित हुआ है। प्रकृति इन्हीं के आश्रय से नाना रूपों में दिखाई देती है। परन्तु प्रकृति कोई शरीरधारी प्राणी नहीं है जिसका बंधन या मोक्ष हो सके। यहाँ लक्षणा से प्रकृति को नाना रूपों में बंधन, मोक्ष तथा संसरण का आधार कहा गया है। तस्माद् पद का अर्थ यह है कि अब तक बंधन-मोक्ष के प्रसंग में जो 'पुरुष' पद पठित हुआ है उसका अर्थ चिद्रूप पुरुष नहीं है बल्कि उसका संगत अर्थ जीवात्मा है।

विशेष—सभी आचार्यों ने पुरुष को बंधन तथा मोक्ष से परे बताया है, जबकि इसके पहले पुरुष का सम्बन्ध बंधन तथा मोक्ष से भलीभाँति बताया गया है। माठर[१] तथा गौड़पाद[२] ने 'नानाश्रया' का अर्थ देव, मानुष, तिर्यक्-योनि किया है। जयमंगलाकार[३] का मत कुछ भिन्न है। वाचस्पतिमिश्र[४] का कथन है कि जैसे विजय और पराजय नौकर की होने पर भी स्वामी में आरोपित होती है—उनकी कही जाती है, क्योंकि स्वामी के आश्रय से ही नौकर जय-पराजय के कार्यों में भाग लेते हैं और उनके लाभ-शोक इत्यादि फल स्वामी को प्राप्त होते हैं। इसी प्रकार प्रकृति से अपना भेंद न समझने के कारण उसके स्थित भोग और मोक्ष से पुरुष का भी सम्बन्ध उत्पन्न होता है। नारायणतीर्थ[५] ने मिश्र के भावों को ग्रहण किया है। डॉ० रामशंकर भट्टाचार्य[६] कहना चाहते हैं कि जो यहाँ प्रकृति का अर्थ सत्त्व रजस्तमो मात्र लेते है, वे भ्रान्त हैं, क्योंकि अचेतन प्रकृति मात्र के विषय में बंधन-मोक्ष

---

१. नानाश्रयादेवमानुषतिर्यंक्शरीरभूतेत्यर्थः। मा०

२. देवमानुषतिर्यग्योन्याश्रया बुद्ध्यहंकार तन्मात्रेन्द्रियभूतस्वरूपेण बध्यते, मुच्यते, संसरति चेति। गौ०

३. नानाश्रयेषुरभिवज्यते। तत्राश्रयाः भावलिङ्गभूताः सर्गाः ते प्रकृतिपुरुषवन्नानाविधाः। जय०

४. सां० त० कौ०, प्रभा, पृष्ठ ३२१-३२२

५. प्रकृतिरेव नाना पुरुषाश्रया बुद्ध्यादि द्वारा तादृशी। सां० च०

६. सां० त० कौ०, ज्योतिष्मती पृष्ठ ३३४

संसरण का कोई प्रसंग हो ही नहीं सकता। अतः प्रकृति का तात्पर्य 'प्राकृति-उपाधि' है, जो सत्त्व-रजस्तमः का वैषम्य रूप है। पं० उदयबीर शास्त्री[1] की दृष्टि में यह कारिका सांख्यपरक नहीं है।

टिप्पणी—बंधन तथा मोक्ष जीवात्मा का होता है। वाचस्पति मिश्र का कथन नितान्त असंगत एवं असांख्यीय है।

अब प्रकृति किस रूप में अपने को बंधन में डालती है तथा कैसे अपने को मुक्त करती है? कहते हैं—

रूपैः सप्तभिरेव तु बध्नात्यात्मानमात्मना प्रकृतिः।
सैव च पुरुषार्थं प्रति विमोचयत्येकरूपेण ॥६३॥

अनुवाद—प्रकृति अपने सात रूपों द्वारा अपने को ही बांधती है और बह एकरूप ज्ञान द्वारा पुरुषार्थ सिद्धि के लिए (अपने आपको) मुक्त करती है।

व्याख्या—बुद्धि प्रकृति का प्रथम विकार है। धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य तथा अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य और अनैश्वर्य—ये बुद्धि के सात्त्विक और तामस् भेद से आठ रूप हैं। इन आठ रूपों में ज्ञान से मुक्ति होती है तथा शेष सातों (धर्मादि) से बंधन होता है। यहाँ प्रकृति पद जीवात्मा विशेष मनुष्य के लिए पठित हुआ है क्योंकि प्रकृति कोई शरीरधारी प्राणी नहीं है, जो अपने को बंधन में डाल सके या मुक्त हो सके। चूँकि जीवात्मा का शारीरिक संघटन प्रकृति घटकों से बना हुआ है और सब कुछ प्रकृति ही करती है, इसलिए यहाँ मनुष्य के लिए 'प्रकृति' पद पठित हुआ है।

विशेष—आचार्यों[2] ने प्रकृति के परिप्रेक्ष्य में बंधन तथा मोक्ष की व्याख्या की है। डॉ० रामशंकर भट्टाचार्य[3] कहना चाहते हैं कि 'पुरुषार्थं प्रति' का अन्वय 'बध्नाति' के साथ होगा तथा 'विमोचयति' के साथ भी। सूर्यनारायण शास्त्री[4] कहते हैं कि प्रकृति पुरुष के लिए अपने आपको मुक्त करती है। गजाननशास्त्रीमुसलगाँवकर[5] कहते हैं—धर्मादि सात निमित्त कारणों

---

१. सां० सिद्धान्त, पृष्ठ १८५

२. एवं प्रकृतिधर्माधर्मादिभिर्बिना ज्ञानम् आत्मनाऽऽत्मानं बध्नाति। सैव च प्रकृतिः गुण पुरुषान्तोपलब्धिरूपं प्रति एकरूपेण ज्ञानेनात्मानं विमोचयति। मा०

३. सां० त० कौ० ज्योतिष्मती पृष्ठ ३३७

४. She through one form releases herself for the benefit of the Spirit.—Samkhya Karika P. 112

५. सां० त० कौ०, तत्त्वप्रकाशिका पृष्ठ २८९

को 'पाकर' प्रकृति स्वयं ही अपने को भोग के प्रति बांध लेती है और 'ज्ञान-रूप निमित्त कारण' को पाकर अपने को अपवर्ग के प्रति स्वयं ही मुक्त कर लेती है। ब्रजमोहन चतुर्वेदी[1] का कथन है कि बंधन पुरुष का न होकर सूक्ष्म शरीर के रूप में प्रकृति का ही होता है। पुरुष को उसके वास्तविक स्वरूप कैवल्य की प्रतीति मात्र से ज्ञान से होती है जो प्रकृति का ही एक भाव है।

टिप्पणी—ज्ञान किसे होता है, इसे आचार्यों ने स्पष्ट नहीं किया है। ब्रजमोहन चतुर्वेदी का कथन स्पष्ट नहीं है। सूर्यनारायण शास्त्री का विचार सांख्य सम्मत नहीं है।

पूर्वकारिका में ज्ञान से मुक्त होने की बात कही गयी है। वह विशुद्ध ज्ञान कैसे उत्पन्न होता है ? तथा उसका स्वरूप क्या है ? इसे कहते हैं—

एवं तत्त्वाभ्यासान्नास्मि न मे नाहमित्यपरिशेषम् ।
अविपर्ययाद्विशुद्धं केवलमुत्पद्यते ज्ञानम् ॥६४॥

अनुवाद—इस प्रकार तत्त्वों के अभ्यास से न (मैं) हूँ न मेरा है, मैं नहीं हूँ—ऐसा संशय रहित, संपूर्ण, केवल विशुद्ध ज्ञान उत्पन्न होता है।

व्याख्या—तत्त्व व्यक्त, अव्यक्त तथा ज्ञ है। इस प्रकार 'तत्त्वाभ्यास' का अर्थ व्यक्त, अव्यक्त और ज्ञ का सम्यक् ज्ञान है। व्यक्त, अव्यक्त तथा ज्ञ के स्वरूप का विवेचन पहले किया जा चुका है। संक्षेप में व्यक्त के सम्यक् ज्ञान का अर्थ है जगत् का ज्ञान, अव्यक्त से तात्पर्य है मानव शरीर धारण करने के प्रयोजन का ज्ञान तथा ज्ञ का तात्पर्य पुरुष है। 'नास्मि'(हूँ) का आशय यह है कि मेरा अस्नित्व नहीं है, न में की ध्वनि यह है कि इस जगत् में मेरा (धन, दौलत, स्त्री, पुत्र, सुहृदादि) कोई नहीं है। नाहम् का अर्थ यह है कि मैं वस्तुतः कर्त्ता भी नहीं हूँ। इस प्रकार अहंभाव का मिट जाना ही विशुद्ध ज्ञान का उत्पन्न होना है। साधक को जब यह ज्ञान हो जाय कि यहां प्रकृति के अतिरिक्त अपना कोई अस्तितव नहीं है, कोई अपना नहीं है, वह कर्त्ता भी नहीं है, तब विशुद्ध ज्ञान उत्पन्न होता है। वह ज्ञान संशयरहित तथा पूर्ण होता है। केवलं का अर्थ है मात्र 'ज्ञान'। उस साधक की प्रवृति केवल ज्ञानोन्मुख रहती है—बुद्धि के शेष सात रूप उसके लिए निष्प्रयोजन होते हैं। यह ज्ञान उस विवेकी मनुष्य को उत्पन्न होता है, जिसे कैवल्य प्राप्त करना है। सम्यक् ज्ञान और विशुद्ध ज्ञान में अन्तर यह है कि

---

१. सां० का० वसुमति, पृष्ठ २३८

जहाँ सम्यक् ज्ञान में अहंभाव बना रहता है वहाँ विशुद्ध ज्ञान में यह भाव मिट जाता है।

विशेष—आचार्य माठर[१], गौड़पाद, जयमंगलाकारने तत्त्व का अर्थ पुरुष प्रकृत्यादि पच्चीस प्रमेय किया है। आचार्य माठर[२] ने नास्मि, न मे व नाहम् की ध्वनि में पुरुष को तत्त्वान्तर्गत न होने की बात कही है। गौड़पाद[३] ने पुरुष को शरीर अहंकार आदि से भिन्न कहा है। जयमंगलाकार[४] ने इन पदों का अर्थ प्रकृति के परिप्रेक्ष्य में किया है। वाचस्पतिमिश्र[५] तथा नारायण-तीर्थ ने तत्त्वाभ्यास का अर्थ तत्त्व विषयक ज्ञान किया है। वाचस्पतिमिश्र ने पुरुष को एकमात्र क्रिया व्यापार से मुक्त कहा है। नारायणतीर्थ[६] ने अपने समर्थन में योग दर्शन का प्रमाण भी उद्धृत किया है। डॉ० आद्याप्रसाद-मिश्र[७] ने नास्मि, न मे, नाहम् का अर्थ न (मैं क्रियावान) हूँ', 'न मेरा (भोक्तृत्व) है और 'न मैं कर्ता हूँ' किया है। गजाननशास्त्री[८] का इस सम्बन्ध में मत है कि आत्मा क्रियावान नहीं है, आत्मा स्वामी नहीं है, आत्मा कर्ता नहीं है। ब्रजमोहन चतुर्वेदी[९] के अनुसार उक्त पदों का आशय इस प्रकार है—'मैं (सूक्ष्म शरीर) नहीं हूँ' या 'भौतिक शरीर में नहीं रहता हूँ क्योंकि यह मेरा नहीं (अपितु प्रकृति का) है'। मैं (प्रकृति भी) नहीं हूँ।

---

१. एतानि पञ्चविंशतितत्त्वानि पुरुषाद्यानि। माठर०
एवमुक्तेन क्रमेण पञ्चविंशतितत्त्वालोचनाभ्यासात्। गौ०
तत्त्वानि पञ्चविंशतिः। जय०

२. नास्मि तत्त्वानि, न मे तत्त्वानि, नाहं तत्त्वानाम् किंतु प्राधानिकान्येतानि। मा०

३. नास्मि–नाहमेव, नमे मम शरीरं तत् यतोऽहमन्यः शरीरमन्यत् माहमित्यपरिशेषम् अहंकार रहितम्। गौ०

४. यदेतत् सूक्ष्मशरीरं भौतिकं च तस्मिन्नभवामि, अपि तु प्रकृतिः। न ममेदमपि तु प्रकृतेः। जय०

५. तत्त्वेन विषयेण विषायीज्ञानमुपलक्षयति
नास्मि इत्यात्मनि क्रियामात्रं निषेधति। सां० त० कौ०

६. यथाहसमानतन्त्रे भगवान् पतञ्जलिः ऋतंभरा तत्र प्रज्ञा श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्य विषया विशेषार्थत्वादिति। सां० चं०

७. सां० त० कौ० प्रभा पृष्ठ ३२३

८. सां० त० कौ० तत्त्वप्रकाशिका पृष्ठ २९१

९. सां० का० वसुमति पृष्ठ २३८

डॉ० रामशंकर भट्टाचार्य[1] के अनुसार न मे का अर्थ 'मैं मन नहीं हूँ' नाहम् का अर्थ 'मैं अहंकार नहीं हूँ' नास्मि का अर्थ मैं 'बुद्धि नहीं हूँ', है।

टिप्पणी—आचार्यो ने यह स्पष्ट नहीं किया है कि किन तत्वों के अभ्यास से विशुद्ध ज्ञान किसको उत्पन्न होता है? तत्त्व व्यक्त, अव्यक्त तथा ज्ञ है। पुरुष प्रकृति महदादि पच्चीस प्रमेय हैं, तत्त्व नहीं है। सम्यक् ज्ञान एवं विशुद्ध ज्ञान का स्वरूप भी जानना आवश्यक है। पुरुष तत्त्व का यहां निर्देश निष्प्रयोजन प्रतीत होता है।

अब ज्ञान उत्पन्न होने पर ज्ञानी पुरुष की जगत् में स्थिति का विवेचन करते हैं—

तेन निवृत्तप्रसवामर्थवशात् सप्तरूपविनिवृत्ताम्।
प्रकृतिं पश्यति पुरुषः प्रेक्षकवदवस्थितः स्वस्थः[2] ॥६५॥

अनुवाद—उस ज्ञान से विमल पुरुष प्रेक्षक की तरह अवस्थित होता हुआ भोगापवर्ग प्रयोजनों के सिद्ध होने से परिणाम न उत्पन्न करने वाली धर्माधर्मादि सात रूपों से निवृत्त हुई प्रकृति को देखता है।

व्याख्या—जब विशुद्ध ज्ञान उत्पन्न हो जाता है, तब वह विवेकी मनुष्य उस जगत् में निर्विकार दर्शक की भाँति अवस्थित रहता है। जगत् का कोई आकर्षण उस पर काम नहीं करता। उसके भोगापवर्ग दोनों प्रयोजनों के सिद्ध हो जाने से प्रकृति उसके प्रति व्यापार शून्य हो जाती है। ज्ञान को छोड़कर प्रकृति (बुद्धि) के धर्मादि सात रूप निवृत्त हो जाते हैं। 'प्रकृतिं पश्यति' का तात्पर्य है—प्रकृति को देखता है। भाव यह है कि यद्यपि वह मनुष्य जगत् में ही स्थित रहता है, परन्तु उसकी प्रवृत्ति ज्ञानाभिमुख रहती है। प्रकृति का अर्थ यहाँ जगत् है।

विशेष—व्याख्याकारों[3] ने सर्वसम्मति से इसी आशय को दुहराया है कि चिद्रूप पुरुष ज्ञान प्राप्त होने पर द्रष्टा की तरह अवस्थित रहता है। माठर[4] एवं गौड़पाद ने 'अर्थ' का तात्पर्य पूर्व वर्णित भोगापवर्ग रूप प्रयोजन

---

१. सां० त० कौ० ज्योतिष्मती पृष्ठ ३४२
२. स्वस्थः, माठर, गौ०
३. एवं पुरुष आत्मकृतेन ज्ञानेन तासु तास्ववस्थासु वर्तमानां प्रकृतिं पश्यति। मा०
तेन विशुद्धेन केवलज्ञानेन पुरुषः प्रकृतिं पश्यति। गौ०
तेन पूर्वोक्तेन ज्ञानेन ....। एवं पुरुषोऽपि तासु योन्यावस्थासु वर्तमानां प्रकृतिं पश्यति। सां० चं०
४. उभय पुरुष प्रयोजनवशाद्। माठर० गौ०

किया है। जयमंगलाकार[1] ने विषयों से विरक्त होना तथा वाचस्पतिमिश्र[2] एवं नारायणतीर्थ ने विवेकज्ञान किया है। डॉ० रामशंकर भट्टाचार्य[3] कहते हैं कि "प्रकृतिं पश्यति पुरुषः" का तात्पर्य यह है कि पूर्वोक्त अवस्था में बुद्धि में यह निश्चय अभग्न रूप में उद्भूत होता है कि मेरा द्रष्टा असङ्ग अवस्थित तथा स्वस्थ पुरुष है।

टिप्पणी—पुरुष जो विशुद्ध ज्ञान रूप है उसको ज्ञान प्राप्त होने तथा उसके सामर्थ्य से द्रष्टा की तरह जगत् में अवस्थित होने की बात जो व्याख्याकारों ने कही है, संगत नहीं प्रतीत होती। यहाँ पुरुष पद ज्ञानी मनुष्य के लिए प्रयुक्त हुआ है।

अब विवेकी मनुष्य तथा प्रकृति के पारस्परिक क्रिया प्रतिक्रिया की व्याख्या करते हैं—

दृष्टा मयेत्युपेक्षक[4] एको दृष्टाहमित्युपरमत्यन्या[5] ।
सति संयोगेऽपि तयोः प्रयोजनं नास्ति सर्गस्य ।।६६।।

अनुवाद—एक मेरे द्वारा यह देख ली गई है, यह विचार कर उदासीन हो जाता है, दूसरी मैं उसके द्वारा देख ली गई हूँ—इस कारण से वह व्यापार शून्य हो जाती है। इस प्रकार दोनों का संयोग होनें पर भी सर्ग का कोई प्रयोजन नहीं रह जाता।

व्याख्या—एकः पद उस विवेक मनुष्य के लिए आया है जिसे तत्त्वज्ञान हो चुका है तथा 'अन्या' पद प्रकृति के लिए प्रयुक्त है। उस विवेकी पुरुष द्वारा प्रकृति देख ली गई का तात्पर्य है कि उसे तत्त्व ज्ञान हो गया है। "प्रकृति उसके द्वारा देख ली गई" की ध्वनि यह है कि उसके भोगापवर्ग द्विविध प्रयोजन सिद्ध हो चुके हैं। इस प्रकार विवेकी मनुष्य "ज्ञान" उत्पन्न होनें पर जगत् के प्रति उदासीन हो जाता है तथा प्रकृति उसके प्रति व्यापार-शून्य

---

१. विषयेभ्यो निवर्तते तद्वशात् । जय
२. विवेकज्ञानरूपोयोऽर्थः । सां० त० कौ०
भोगभेदसाक्षात्कारादयः । सां० च०
३. सां० त० कौ० ज्योतिष्मती पृष्ठ ३४४
४. रङ्गस्थ इत्युपेक्षकः । गौड़पाद
५. दृष्टाहमित्युपरतान्याया । मा०

हो जाती है। इस प्रकार दोनों का संयोग रहने पर भी शरीर धारण करने का कोई प्रयोजन नहीं रह जाता। ज्ञान प्राप्त होने पर वह ज्ञानी मनुष्य जगत् में ही विद्यमान रहता है परन्तु उस पर प्रकृति का कोई आकर्षण काम नहीं करता।

विशेष—आचार्य माठर[1] एवं गौड़पाद की दृष्टि में पुरुष को प्रकृति के देखने का तात्पर्य है-एक मात्र प्रकृति का जगत् कारण रूप होना। कारिका के उत्तरार्द्ध[2] के सम्बन्ध में उनका यह कहना है कि दोनों के संयोग होने पर भी सृष्टि की उत्पत्ति नहीं होती क्योंकि द्विविध प्रयोजन सिद्ध हो गए रहते हैं। जयमंगलाकार[3] को भी यही अभिमत है। वाचस्पतिमिश्र[4] का कथन है कि प्रकृति से भिन्न अपने को न समझने के कारण पुरुष, सुख, दुःख, मोहात्मक शब्दादि परिणामों को ये मेरे हैं ऐसा अभिमान करता हुआ आत्मा भोगता है। कारिका के उत्तरार्द्ध के सम्बन्ध में वाचस्पतिमिश्र का कहना है कि द्विविध पुरुषार्थ ही प्रकृत-कृत सर्ग में प्रयोजन बनते हैं। विवेक साक्षात्कार हो जाने पर कोई प्रयोजक तत्त्व नहीं रह जाता। डॉ०रामशंकर[5] भट्टाचार्य की मान्यता है कि "प्रयोजनं नास्ति सर्गस्य" की ध्वनि यह भी है कि इस अवस्था के बाद पुनरावृत्ति नहीं होती। गजाननशास्त्री मुसलगाँवकर[6] कहते हैं—विवेकख्याति से "असहकृत संयोग" ही सर्ग का कारण होता है, सहकृत नहीं। इसलिए सृष्टि नहीं होती।

टिप्पणी—चिद्रूप पुरुष का इस जगत् में कोई प्रयोजन नहीं है। प्रकृत कारिका का उद्देश्य सृष्टि की व्याख्या करना नहीं है अपितु ज्ञानी मनुष्य एवं प्रकृति के पारस्परिक सम्बन्धों को बताना है। यहाँ व्याख्याकार अधिक भ्रान्त हैं।

---

१. एका त्रैलोक्यस्यापि प्रधानकारणभूता न द्वितीया प्रकृतिरस्ति। मा०, गौ०

२. यद्यपि प्रधान पुरुषयोः संयोगो भवत्येव। तस्मिश्च सति सर्ग संभवस्तथाऽपि नासौ सर्गः स्यात् प्रयोजनाभावात्। माठर

३. विषयोपभोगार्थः सर्गः तस्मिन्नेव चरितार्थत्वात् न पुनः सर्गमारभते। जय०

४. "प्राकृतानहि सुखदुःख मोहात्मनः शब्दादींस्तदविवेकान् ममैते" इत्यभिमन्यमान आत्मा भुञ्जीत। पुरुषार्थौ च भोगविवेकौ प्रकृत्यारम्भ प्रयोजका वित्यपुरुषार्थौ सन्तौ न प्रकृतिं प्रयोजयतः। सां० त० कौ०

५. सां० त० कौ० ज्योतिष्मती पृष्ठ ३४७

६. सां० त० कौ० तत्त्वप्रकाशिका पृष्ठ ३००

ज्ञान होने पर भी कुछ काल तक विवेकी शरीर धारण किये रहता है। उस शरीर धारण में उसके पूर्व जन्म के संस्कार हेतु होते हैं। इसी को उपमा की भाषा में समझा रहे हैं—

सम्यग्ज्ञानाधिगमात् धर्मादीनामकारणप्राप्तौ ।
तिष्ठति संस्कारवशात् चक्रभ्रमिवद्[1] धृतशरीरः ।।६७।।

अनुवाद—सम्यक् ज्ञान हो जाने से धर्माधर्मादि के अकारण हो जाने पर पूर्वजन्म के संस्कार के बल से चाक के घुमाव की तरह वह शरीर धारण किये रहता है।

व्याख्या—'तत्त्वज्ञान' हो जाने पर विवेकी मनुष्य की प्रवृत्ति ज्ञानोन्मुख हो जाती है। बुद्धि के धर्माधर्मादिशेष सात रूप उसके लिए निष्प्रयोजन हो जाते हैं। वह मनुष्य पुनः भोग में प्रवृत्त नहीं होंता किन्तु प्रारब्ध कर्मों को तो भोगना पड़ता है, अतएव वह विवेकी तत्त्व ज्ञान के हो जाने पर भी प्रारब्ध कर्मों के संस्कार से उसी प्रकार शरीर धारण किये रहता है। जैसे—कुम्हार के दण्ड चालन व्यापार के रुक जाने पर भी चाक पूर्वारब्ध वेग से चलती रहती है। वह ज्ञानी शरीर धारण करने पर भी शुभाशुभ कर्मों से प्रभावित नहीं होता। श्रुति[2] में भी कहा गया है कि विवेक ज्ञान वाले को तभी तक देर होती है जबतक कि वह शरीर के बँधन से मुक्त नहीं हो जाता। यह जीवन्मुक्त अवस्था का लक्षण है। चक्रभ्रमिवद् उपमा है।

विशेष—आचार्य माठर[3] एवं गौड़पाद ने 'सम्यक्-ज्ञान' का अर्थ सांख्यगत पच्चीस तत्त्वों का ज्ञान, जयमंगलाकार ने 'आत्मज्ञान' वाचस्पतिमिश्र ने 'तत्वज्ञान' तथा नारायणतीर्थ[4] ने मिथ्याज्ञान को नष्ट करने में समर्थ ज्ञान किया है। धर्मादि के अकारण होने का अर्थ आचार्य माठर[5] ने जन्म का होना, गौड़पाद ने बंधन में असमर्थ होना, जयमंगलाकार[6], वाचस्पतिमिश्र तथा नारायणतीर्थ ने फल का उत्पन्न न होना किया है। इस प्रसङ्ग में

---

१. चक्रभ्रमवद् । मा०, यु०, जय०

२. छा० उ० ६।१४।२

३. यदा पुरुषेण पञ्चविंशति तत्त्वज्ञानमधिगतं भवति । मा० गौ०

४. सम्यग्ज्ञानं मिथ्या ज्ञानोच्छेदक्षमं ज्ञानं । सां० च०

५. तथा सत्यां पुनर्जन्मन भवति । मा०

६. धर्मादीनामग्निदग्धबीजवदशक्तत्वात् । जय०

दग्धबीजभावतया न जात्यायुर्भोगलक्षणाय फलाय कल्पते । सां त० कौ०

वाचस्पतिमिश्र ने बड़ा सुन्दर दृष्टान्त दिया है—जिस[1] प्रकार प्रचण्ड निदाघ द्वारा समस्त जल के सूख जाने पर ऊसर हुई भूमि में बीज अंकुरित नहीं होते, उसी प्रकार तत्त्वज्ञान से बुद्धिगत अविद्यादि सारे क्लेशों के नष्ट हो जाने पर कर्म फलदायी नहीं होते। संस्कार का अर्थ[2] माठर तथा वाचस्पतिमिश्र ने धर्माधर्मादि जयमंगलाकार[3] ने जन्मान्तर संस्कार तथा नारायणतीर्थ ने शरीरधारण में अदृष्ट किया है। ब्रजमोहन चतुर्वेदी[4] ने अकारण का अर्थ अनायास किया है।

टिप्पणी—किसको सम्यक् ज्ञान होता है? कौन शरीर धारण किये रहता है? इन प्रश्नों का रचनात्मक समाधान आचार्यों ने नहीं दिया है। चतुर्वेदी जी का कथन संगत नहीं है।

अब विदेह मुक्ति के सम्बन्ध में कहते हैं—

प्राप्ते शरीरभेदे चरितार्थत्वात् प्रधानविनिवृत्तौ।
ऐकान्तिकमात्यान्तिकमुभयं कैवल्यमाप्नोति ॥६८॥

अनुवाद—शरीर पात हो जाने पर प्रयोजनों के सिद्ध हो जाने से प्रधान के निवृत्त होनेपर (वह) दोनों नियत एवं अविनाशी मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

व्याख्या—प्रकृत कारिका विदेह मुक्ति से सम्बन्धित है। प्रधान की ध्वनि में ज्ञानी मनुष्य का संकेत है जिसे सांख्यकारिका में पुमान् कहा गया है। प्रधान के निवृत्त हो जाने का तात्पर्य है—ज्ञानी मनुष्य के प्रति व्यापार-शून्य हो जाना। अर्थ दो हैं—भोग एवं कैवल्य। इसलिए विनिवृत्तौ द्विवचन रूप में प्रयुक्त हुआ है। संपूर्ण कारिका का अर्थ यह है—शरीर के पात होने पर भोग तथा अपवर्ग रूप द्विविध प्रयोजनों के सिद्ध हो जाने के कारण प्रकृति, उस ज्ञानी मनुष्य के प्रति व्यापार शून्य हो जाती है तथा वह दोनों नियत एवं अविनाशी कैवल्य प्राप्त कर लेता है। जिन ऐकान्तिक और आत्यन्तिक-पदों का प्रयोग ग्रंथके प्रारम्भ में हुआ है, दुःख निवृत्ति के बाद भी उन्हीं पदों

---

१. सां० त० कौ० प्रभा पृष्ठ ३३०

२. संस्कारोनाम धर्माधर्मौ निमित्तं। माठर०
शरीरस्थितौ च प्रारब्ध परिपाकौ धर्माधर्मौ संस्कारौ। सां० त० कौ०

३. जन्मान्तरसंस्कारवशाद्। जय०

४. सां० का० वसुमति पृ० २४५

का प्रयोग किया गया है। इससे कारिकाकार के उद्देश्य को समझा जा सकता है।

विशेष—'देह भेद'[१] का अर्थ आचार्य माठर, वाचस्पतिमिश्र तथा नारायणतीर्थ ने 'शरीर का नाश' तथा जयमंगलाकार[२] ने लिंग का भौतिक शरीर से पृथक् होना किया है। 'उभयं' पद के परिप्रेक्ष्य में डॉ० रामशंकर भट्टाचार्य[3] का मत है कि कैवल्य दोनों का होता है पुरुष का तथा लिंग या पुरुषाकार बुद्धि का। मुसलगांवकर[४] कहते हैं कि वस्तुतः मुक्ति तो प्रकृति पाती है, जिससे पुरुष अपने स्वरूप से स्थित हो पाता है। आचार्य माठर[५] की मान्यता है कि विद्वान् कैवल्य प्राप्त करता है।

टिप्पणी—कैवल्य किसे प्राप्त होता है? इसे आचार्यों ने स्पष्ट नहीं किया है। भट्टाचार्य जी की कल्पना संगत नहीं प्रतीत होती है।

अब यह सृष्टि एवं तत्त्वज्ञान विषयक सिद्धान्त किसके द्वारा कहे गए हैं? इसे कहते हैं—

पुरुषार्थज्ञानमिदं[६] गुह्यं परमर्षिणा समाख्यातम्।
स्थित्युत्पत्तिप्रलयाश्चिन्त्यन्ते यत्र भूतानाम् ॥६९॥

अनुवाद—पुरुषार्थ को सिद्ध करने वाला यह गूढ़ ज्ञान परमर्षि कपिल द्वारा कहा गया, जिसमें प्राणियों की उत्पत्ति, स्थिति तथा विनाश का विचार किया जाता है।

व्याख्या—पुरुषार्थ का अर्थ है भोग एवं अपवर्ग। ज्ञान से तात्पर्य है तत्त्व-ज्ञान या सांख्य ज्ञान। तत्त्व ज्ञान आसानी से प्राप्त नहीं होता। इसलिए इसे गूढ़ कहा गया है। 'समाख्यातं' पद का अर्थ कथितं है, जिससे लिखितं पद का

---

१. तदेवं सति शरीरभेदे देहनाशे प्राप्त आयात् इत्यर्थः। मा०
प्राप्ते शरीरभेदे शरीरविनाशे। सा० त० कौ०
शरीरस्य भेदो विनाशस्तस्मिन् प्राप्ते सति। सां० चं०

२. लिंग भौतिकशरीरेपृथग्भूते। जय०

३. सां० त० कौ० ज्योतिष्मती पृष्ठ ३५७

४. सां० त० कौ० तत्त्वप्रकाशिका पृष्ठ ३०५

५. एवमयं विद्वान् तस्मिन् शरीरे भिन्ने ऐकान्तिकमात्यन्तिकमुभयं कैवल्यं-माप्नोति। मा०

६. पुरुषार्थं ज्ञानमिदं। सां० चं०
पुरुषार्थ्यमिदम्। युक्ति

सर्वथा बाध होता है। परमर्षि पद कपिल के लिए कहा गया है। श्रुति[1] इस विषय में प्रमाण है। 'ऋषयोमन्त्रद्रष्टारः' से कपिल इस तत्त्व ज्ञान के द्रष्टा सिद्ध होते हैं। इसप्रकार दुःखत्रय के आत्यन्तिक निवृत्तिरूप उपाय तत्त्वज्ञान, सांख्य ज्ञान के कपिल द्रष्टा हैं। अर्थात् सम्यक् ज्ञान से विशुद्ध ज्ञान उत्पन्न होता है। उस विशुद्ध ज्ञान से कैवल्य की प्राप्ति होती है। इस सत्य का साक्षात्कार कपिल ने किया। इससे इस भावना का समूल विनाश हो जाता है कि कपिल किसी ग्रन्थ के प्रणेता या कर्ता हैं। प्राणियों की उत्पत्ति, स्थिति तथा विनाश की व्याख्या के लिए सांख्यीय प्रमेयों का ज्ञान आवश्यक है। यहाँ इन पदों से सांख्य के वास्तविक दुःख, जन्म, जरा तथा मरण का बोध होता है। प्रकृत कारिका का भाव यह है कि सांख्य सृष्टि एवं तत्त्व ज्ञान की व्याख्या के लिए प्रवृत्त हुआ है।

विशेष—व्याख्याकारों[2] ने पुरुषार्थ का अर्थ परम पुरुषार्थ मोक्ष किया है। डॉ० रामशंकर भट्टाचार्य[3] तथा मुसलगाँवकर ने इसे द्विविध पुरुषार्थ भोग एवं अपवर्ग रूप समझा है। ब्रजमोहन चतुर्वेदी[4] कहते हैं कि यहाँ 'पुरुषार्थ' पद परम पुरुषार्थ मोक्ष का अथवा पुरुष के परम अर्थ उसी मोक्ष का ग्रहण होता है, जो पुरुष का प्रयोजन भी है और ज्ञान भी। गुह्य[5] पद का अर्थ आचार्य माठर ने दुर्विज्ञेय, गौड़पाद ने रहस्य, युक्तिदीपिकाकार ने गूहनीय, जयमंगलाकार ने अप्रकाश्य तथा वाचस्पतिमिश्र एवं नारायणतीर्थ ने दुर्बोध किया है। स्थिति, उत्पत्ति तथा प्रलय पदों की व्याख्या भिन्न-भिन्न प्रकार से

---

१. श्वे० उ० ५।२

२. यश्चासौ पुरुषार्थो मोक्षस्तदर्थम्। मा०
पुरुषार्थमोक्षोऽनेन प्राप्यत इति। जय०
पुरुषार्थः मोक्षस्तदर्थं। गौ०

३. सां० त० कौ० ज्योतिष्मती पृष्ठ ३५७
सां० त० कौ० त० प्रका० वसुमति पृष्ठ ३०७

४. सांख्यकारिका वसुमति पृष्ठ २४७

५. गुह्यं दुर्विज्ञेयं। माठर
गुह्यं रहस्यं। गौ०
गुह्यमिदमप्रकाश्यम्। जय०
गुह्यमिति गूहनीयं। यु०
स्थूलधियां दुर्बोधमिति। सां० त० कौ०
गुह्यं बहूनां दुखबोधं। सां० चं०

की गई है। आचार्य माठर[1] ने स्थिति का अर्थ देव, मानुष, तिर्यक् योनियों में विद्यमान रहना, उत्पत्ति का प्रकृति महदादि का उत्पन्न होना तथा प्रलय का परस्पर अपने कारण में लीन होना किया है। जयमंगलाकार ने माठर के आशय को ग्रहण किया है। गौड़पाद[2] ने स्थिति का अवस्थान, उत्पत्ति का आविर्भाव तथा प्रलय का तिरोभाव अर्थ किया है। भूत[3] का अर्थ गौड़पाद ने प्रकृति के विकारभूत तथा जयमंगलाकार एवं वाचस्पतिमिश्र ने प्राणी अर्थ किया है। डॉ० रामशंकर भट्टाचार्य[4] कहना चाहते हैं कि कारिकाकार का यह कहना महत्त्वपूर्ण है कि पुरुषार्थ ज्ञान के लिए ही स्थिति आदि की चिन्ता की जाती है। इससे ध्वनित होता है कि स्थित्यादि परक जो चिन्ता की गई है, वह भोगापवर्ग को चरितार्थ करने में सहायक है।

टिप्पणी—कारिकागत ऋषि तथा समाख्यातं दो पदों का विशेष रहस्य है। प्रलय का अर्थ भौतिक शरीर का विनाश है, सृष्टि का प्रलय नहीं क्योंकि सांख्य को सृष्टि के बाद प्रलय, प्रलय के बाद सृष्टि का विधान मान्य नहीं है।

परमर्षि कपिल द्वारा दृष्ट यह तत्त्व ज्ञान (सांख्यज्ञान) ईश्वरकृष्ण तक कैसे पहुँचा ? इसे कहते हैं—

शिष्यपरम्परयाऽऽगतमीश्वरकृष्णेन चैतदार्याभिः ।
संक्षिप्तमार्यमतिना सम्यग्विज्ञाय सिद्धान्तम् ।।७०।।

अनुवाद—और शिष्य परम्परा से आया हुआ यह सिद्धांत आर्यमति वाले ईश्वरकृष्ण द्वारा भली भाँति जानकर आर्या छन्द द्वारा व्यवस्थित किया गया।

---

१. एषु स्थानेषु ब्रह्मादीनितिर्यग्योनि पर्यन्तानि तिष्ठन्ति। एषा स्थितिः। उत्पत्ति प्रादुर्भावं प्रधानान्मदहंकार तन्मात्रेन्द्रियमहाभूतानीत्युत्पत्तिः। लयं वक्ष्यामः भूतानि तन्मात्रेषुलीयन्ते, तानीन्द्रियेषु इन्द्रियाणि लीयन्ते चाहंकारे स बुद्धौ, सा प्रधाने लयं गच्छति। माठर

२. स्थित्युत्पत्तिप्रलयाः अवस्थानाऽऽविर्भाव तिरोभावाः। गौ०

३. भूतानां वैकारि कारिकाणां। गौ०
भूतानां ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तानाम्। जय०
भूतानां प्राणिनाम्। सां० त० कौ०

४. सां० त० कौ० ज्योतिष्मती पृ० ३५९

व्याख्या—'च' पद कर्ता को द्रष्टा से पृथक् करता है। कपिल सांख्य के द्रष्टा हैं। 'शिष्य परम्परया' का तात्पर्य है गुरुशिष्य संवादय । मौखिक रूप से। अर्थात् वास्तविक सांख्य सिद्धांतों को प्रतिपादित करने वाला यह प्रथम ग्रंथ है। 'आर्यमतिना' का अर्थ है—इस ओर प्रवृत्त बुद्धि वाले। इससे ईश्वरकृष्ण की सांख्यशास्त्र के प्रति निष्ठा सिद्ध होती है। सांख्य-सिद्धांतों को भली-भाँति समझकर ईश्वरकृष्ण ने इसे लेखबद्ध किया। यह सम्पूर्ण ग्रंथ आर्या छन्द में लिखा गया है, जिनकी संख्या केवल सत्तर है। 'संक्षिप्तं' का अर्थ है निबद्ध किया। इस प्रकार सांख्यकारिका ही मूल सांख्यशास्त्र है। महाभारत आदि ग्रंथों में उल्लिखित सांख्य विशुद्ध सांख्य नहीं है। कारिकाकार की मूल दृष्टि यह है कि इस ग्रंथ के पहले सांख्य विचारों को प्रतिपादित करने वाला कोई ग्रन्थ नहीं था। गुरु शिष्य संवाद रूप में ही सांख्य सिद्धांतों का अस्तित्व था। इससे सांख्य की प्राचीनता एवं प्रामाणिकता पर भी प्रकाश पड़ता है।

विशेष—शिष्यपरम्परया[1] का तात्पर्य आचार्यों की दृष्टि में कपिल आसुरि, पंचशिखादि गुरु शिष्य परम्परा है। आगतं[2] का अर्थ आचार्य माठर जयमंगलाकार ने षष्टितंत्र रूप में प्राप्त ज्ञान किया है। आर्यमतिना[3] पद का अर्थ माठर ने विस्तीर्णमति, जयमंगलाकार ने 'अधिगत तत्त्वज्ञान' तथा वाचस्पतिमिश्र ने तत्त्वों के समीप किया है।

टिप्पणी—शिष्यपरम्परया पद के स्वारस्य की ओर आचार्यों का ध्यान नहीं रहा है। यहाँ आर्य शब्द अनार्य का विपरीतार्थक नहीं हैं। सांख्याचार्यों की सूची ऐतिहासिक नहीं है।

---

१. कपिलादासुरिणा प्राप्तमिदं ज्ञानम्। ततः पञ्चशिखेन, तस्माद् भार्गवोलूक-वाल्मीकि-हारीत-देवल-प्रभृतीनागतम्। माठर०
हारीत-वाद्धलि-कैराट-पौरिकार्षभेश्वर-पञ्चाधिकरण पतञ्जलिवार्षगण्य कौण्डिल्य-मूकादिकम्। यु०
मुनेरासुरेः पञ्चशिखस्तथा गर्गगौतमप्रभृतिर्णरामतंग्रम्या। जय०

२. तदेव षष्टितंत्रं आर्याभिः संक्षिप्तम्। माठर०
इतिज्ञानमथरूपेणागतं सिद्धान्तषष्टितंत्रं। जय०

३. आर्यमतिना विस्तीर्ण मतिना। माठर०
आर्यमतिः अधिगततत्त्वज्ञानतयार्यमितिः। जय०
आराद् याता तत्त्वेभ्य इत्यार्या। सां० त० कौ०

टिप्पणी-विशेष—प्रकृत कारिका के पूर्व एवं पश्चात् इस प्रकार दो कारिकाओं के अस्तित्व को भी आचार्यों ने स्वीकार किया है। जिन्हें ७०वीं तथा ७२वीं कारिका के नाम से जाना जाता है। आचार्य माठर ने एक अन्य कारिका जिसे ७३वीं कारिका कहा जा सकता है का उल्लेख किया है। हमारी दृष्टि में ये कारिकाएँ प्रक्षिप्त हैं, ईश्वरकृष्ण द्वारा विरचित नहीं हैं। कारिकाओं का स्वरूप इस प्रकार है--

एतत्पवित्रमग्र्यं मुनिरासुरयेऽनुकम्पया प्रददौ।
आसुरिरपि पञ्चशिखाय तेन बहुधाकृतं तन्त्रम् ।।७०।।

सप्तत्यां किल येऽर्थास्तेऽर्थाः कृत्स्नस्य षष्टितन्त्रस्य।
आख्यायिकाविरहिताः परवादविवर्जिताश्चेति ।।७२।।

तस्मात्समासदृष्टं शास्त्रमिदं नार्थतश्च परिहीनम्।
तन्त्रस्य च बृहन्मूर्तेर्दर्पणसङ्क्रान्तमिव बिम्बम् ।।७३।। मा०

उपसंहार

प्रस्तुत अध्याय का उद्देश्य पूर्ववर्ती विवेचन का निष्कर्ष एवं सांख्यशास्त्र की समीक्षा प्रस्तुत करना है। इस सम्बन्ध में हमारी धारणा बिल्कुल स्पष्ट है। हमारी यह मान्यता है कि सांख्य किसी विशिष्ट सम्प्रदाय का द्योतक नहीं है। यह कैवल्य प्राप्त करने का एक उपाय है। ज्ञान से कैवल्य की प्राप्ति होती है। इस सत्य का साक्षात्कार परमर्षि कपिल ने किया। इसलिए उन्हें सांख्य-द्रष्टा, तत्त्व-द्रष्टा कहा जा सकता है। गुरु-शिष्य परम्परा से चले आ रहे इस ज्ञान (सांख्यज्ञान) को ईश्वरकृष्ण ने सर्वप्रथम शास्त्रबद्ध किया। इससे यह बात प्रमाणित हो जाती है कि ईश्वरकृष्ण सांख्य-शास्त्र-प्रणेता तथा सांख्यकारिका ही मूल सांख्यशास्त्र है। परमर्षि कपिल को किसी प्रकार भी सांख्यशास्त्र प्रणेता या आचार्य नहीं कहा जा सकता। हमारी दृष्टि में परमर्षि कपिल तत्त्वज्ञ हैं और ईश्वरकृष्ण आचार्य। आचार्य माठर सांख्य-कारिका के सर्वप्राचीन व्याख्याकार हैं। उन्होंने सांख्य सिद्धान्तों की स्थापना में उपनिषदों का अधिक आश्रय लिया है। उपनिषदों की भाषा सांकेतिक है। इनके आधार पर किसी भी विचारधारा का सही एवं निश्चयात्मक स्वरूप निर्धारित नहीं हो सकता। निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि अब तक सांख्य के साथ न्याय नहीं हुआ है।

भारतीय दर्शन का समन्वयवाद

दर्शन शब्द की उत्पत्ति 'दृश्' धातु से हुई है; जिसका अर्थ है देखना। भारतीय वाङ्मय, में दर्शन शब्द बहुत व्यापक है। "ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः से समस्त वैदिक वाङ्मय ऋषियों द्वारा साक्षात्कृत तत्त्वों या धर्मों की अभि-व्यक्ति मात्र है। विकास के अन्तिम चरणों में दर्शन शब्द से आत्मदर्शन की ही अभिव्यक्ति होने लगी। बृ० उ० २।४।५ के याज्ञवल्क्य-मैत्रेयी संवाद में उद्धृत "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः" से यह संकेत मिलता है कि उपनिषदों के आविर्भाव काल तक आते-आते दर्शन का अर्थ आत्मदर्शन से ही लिया जाने लगा[1]। हमारी दृष्टि में दर्शन शब्द द्रष्टा से सम्बन्धित है और उसका

---

१. दर्शन का प्रयोजन पृ० १०८ (डा० भगवान दास)
भारतीय दर्शन पृ० ३ (बलदेव उपाध्याय)

वास्तविक अर्थ ज्ञान का साक्षात्कार या ज्ञान की प्राप्ति है। अब सामान्यतया दर्शन से तात्पर्य विभिन्न दार्शनिक पद्धतियों से है।

भारतीय दर्शन के वैविध्यपूर्ण विकास की गहराई में दो भिन्न धाराएँ स्पष्ट दिखाई देती हैं; जिन्हें आस्तिक एवं नास्तिक रूप से जाना जाता है। आस्तिक एवं नास्तिक की क्या स्पष्ट परिभाषा है—यह अब तक नहीं ज्ञात हो सका है। यह ध्यान में रखने योग्य तथ्य है कि ये शब्द सापेक्ष मात्र हैं। कोई भी सम्प्रदाय आस्तिकता का दम भरते हुए दूसरे पर नास्तिक होने का आरोप लगा सकता है। इनमें से दूसरी धारा वाद की है, क्योंकि इसका जन्म पहली के प्रतिक्रिया रूप में हुआ था। मनुस्मृति[1] में 'नास्तिको वेदनिन्दकः' कहा गया है। प्रायः वेद को प्रमाण मानने वाले दर्शन को आस्तिक तथा इसके विपरीत को नास्तिक कहा जाता है। मीमांसा, वेदान्त सांख्य, योग, न्याय और वैशेषिक, जिन्हें षड्दर्शन कहा जाता है, आस्तिक कहलाते हैं। बौद्ध, जैन, चार्वाक को नास्तिक दर्शन कहा जाता है। हमारी दृष्टि यहाँ कुछ भिन्न है।

वेद ज्ञानराशि हैं। दर्शन चाहे आस्तिक हों या नास्तिक सभी अपने अस्तित्व के लिए वेदों पर आश्रित हैं। भगवान् बुद्ध ने अपने मन्तव्यों का उद्भावन वैदिक मर्यादाओं और परम्पराओं के नाम पर भ्रष्टाचार के प्रावल्य की प्रतिक्रिया के रूप में किया। उन्होंने कभी भी अपने को संयम से बाहर नहीं रखा। उस युग के सच्चे वेदपाठी ब्राह्मणों ने भी इस विरोध में अपना वक्तव्य दिया था। चार्वाक दर्शन का लक्ष्य भी इस भ्रष्टाचार की ओर ही परिलक्षित होता है। इस दर्शन में 'त्रयो वेदस्य[2] कर्त्तारः' की खुलकर निंदा की गई है। 'ऋषयों मंत्रद्रष्टारः' से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि वेद अपौरुषेय हैं; उनका कोई कर्त्ता नहीं है। चार्वाकों की प्रतिक्रिया से यह आशय निकलता है कि उस समय का पुरोहितवर्ग अपने को वेदों का कर्त्ता मानता था। ऐसी स्थिति में चार्वाकों ने वेद की प्रतिष्ठा पर आँच पहुँचाने वालों के विरुद्ध यदि आवाज उठाई तो यह उचित ही था। हमारी दृष्टि में चार्वाक बुद्धिजीवियों का संघटन था, जिनके अस्तित्व का संकेत ऐतरेय ब्राह्मण के 'चरैवेति-चरैवेति' से मिलता है। चार्वाकों के इस कथन 'लोकसिद्धो राजा भवति

---

१. मनुस्मृति २।११

२. सर्वदर्शन संग्रह पृ० २

परमेश्वरः"[1] से लोकतन्त्र के अस्तित्व पर प्रकाश पड़ता है। अब्राहमलिंकन ने जो प्रजातन्त्र की परिभाषा दी है—Of the people for the people By the people, वह उक्त विचारधारा से अधिक मेल खाती है। यह दर्शन प्रायः हेय दृष्टि से देखा जाता है, परन्तु प्राचीन यूनानी दर्शन को छोड़कर जिस पर प्राचीन भारतीय विचारधारा का प्रभाव है, पश्चिम का सम्पूर्ण दर्शन जिसे हेगेल, कार्लमार्क्स जैसे आधिभौतिक तत्त्वज्ञों ने पल्लवित और पुष्पित किया है—इसी विचारधारा का पोषक है।

भारतीय दर्शन के आलोडन से हम इस तथ्य पर पहुँचते हैं कि समस्त दार्शनिक चिंतन के प्रगति का समय मुख्यतः बौद्ध काल रहा है। इस काल में हम भारतीय विचारधारा के क्षेत्र में एक ऐतिहासिक युग का निर्माण देखते हैं। षड्दर्शनों का निर्माण इसी हलचल की देन है। जैमिनि, गौतम, कणाद, वादरायण, कपिल एवं पतञ्जलि क्रमशः पूर्वमीमांसा, न्याय, वैशेषिक, वेदान्त, सांख्य एवं योग के प्रणेता माने जाते हैं। मीमांसा धर्मशास्त्र की व्याख्या के लिए प्रवृत्त हुई है और मानव जीवन के उच्च नैतिक आदर्शों पर प्रकाश डालती है। यह मुख्य रूप से संहिता तथा ब्राह्मण भाग पर आधारित है। वेदान्त ब्रह्म की व्याख्या के लिए तल्लीन दिखाई देता है। इन्हें क्रमशः पूर्व मीमांसा तथा उत्तर मीमांसा कहा जाना युक्ति संगत है। पहली विचारधारा प्रवृत्तिमार्गी तथा दूसरी निवृत्तिमार्गी है। इन्हें कर्मवादी और ज्ञानवादी कहा जा सकता है। हमें इस बात में सन्देह है कि जैमिनि और वादरायण मीमांसा एवं ब्रह्मसूत्रों के कर्त्ता हैं या सम्पादक ? जहाँ तक ब्रह्मसूत्रों का सम्बन्ध है, इसमें हमारा यह दृढ़ मत है कि वादरायण इन सूत्रों के सम्पादक हैं। इसी प्रकार न्याय-तर्कशास्त्र है और वैशेषिक-पदार्थविज्ञान। इनका परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं है। योग की भी यही गति है। पतञ्जलि योग सूत्रों का कर्त्ता न होकर सम्पादक हैं। परन्तु जहाँ तक साधना पक्ष का प्रश्न है उस पर योग अवश्य ही प्रकाश डालता है। इन दर्शनों में जो मोक्ष का चिन्तन हुआ है वह भी हमारी दृष्टि में संगत नहीं है। सांख्य की स्थिति व्याख्याकारों के प्रमाद के कारण स्पष्ट नहीं है, फिर भी तत्त्वज्ञान के सम्बन्ध में सांख्य का मन्तव्य प्रामाणिक है। सभी षड्दर्शनों पर बौद्ध दर्शन का प्रभाव है। उस युग की माँग के अनुसार इन दर्शनों का निर्माण आवश्यक था।

---

१. सर्वदर्शन संग्रह पृ० ३

दर्शनशास्त्र की प्रत्येक पद्धति अपने समय के महत्त्वपूर्ण प्रश्न का निश्चयात्मक उत्तर है। इसलिये उस पर उसी दृष्टिकोण से विचार किया जायगा, तभी प्रतीत होगा कि उसमें सत्य की कुछ मात्रा अवश्य है। दर्शन चाहे आस्तिक हो या नास्तिक, सभी अपने दृष्टिकोण से सही हैं, तथा सभी एक विशुद्ध व्यवस्थित जीवन विधान की व्याख्या करते हैं। भिन्न-भिन्न मत वेद रूप एक ही शिलाके अन्दर से काटे गये हैं और उसी एकमात्र इकाई के अंश हैं जों अखण्ड सम्पूर्ण एवं आत्मनिर्भर है। विश्व सम्बन्धित किसी योजना को हम पूर्ण नहीं कह सकते, जिसमें तर्कशास्त्र, भौतिकविज्ञान मनोविज्ञान, नीतिशास्त्र, अध्यात्मविद्या और धर्म के भिन्न-भिन्न पक्षों का समन्वय न हो। भारत में जितनी भी विचार पद्धतियों ने विकास पाया, उनमें से प्रत्येक के पास देने को अपने ज्ञान का सिद्धान्त, प्रवृत्ति, मस्तिष्क, नीतिशास्त्र और धर्म की स्वतन्त्र व्याख्या थी।

भारतीय जीवन में आध्यात्मिक चिन्तन का स्थान सर्वोपरि रहा है। आदिकाल से ही हमारे मनीषियों में सत्यान्वेषण के प्रति सतत जागरूक रहने की प्रवृत्ति दिखाई देती है। इसी ज्ञान पिपासा की शान्ति के लिए वे निरन्तर प्रयत्नशील रहे। इस दृष्टि से यदि देखा जाय तो सम्पूर्ण भारतीय दर्शन हमारे मनीषियों, ऋषियों की उदात्त भावनाओं का द्योतक है, जिनका सन्देश सम्पूर्ण मानव जाति के लिए था। भारत में सम्पूर्ण दार्शनिक चिन्तन का मुख्य लक्ष्य जीवन के क्लेशों को दूर करने का उपाय ढूढ़ना है। सम्पूर्ण भारतीय विचारधारा में दो सामान्य बातें हैं। मोक्ष के सर्वोच्च आदर्श का अनुसरण और उसके लिए जो साधना बताई गई है, उसमें व्याप्त वैराग्य की भावना। भारतीय सिद्धान्तों में ओत-प्रोत वैराग्य की भावना के साथ यह कहा जा सकता है कि वे जिस जीवन प्रणाली का विधान करते हैं, उसका लक्ष्य साधारण नैतिकता से ऊपर उठ जाना है। दृष्टिकोण की यह विलक्षणता इस तथ्य से आई है कि भारत में दर्शन उस प्रकार कुतूहल या जिज्ञासा से उत्पन्न नहीं हुआ, जिस प्रकार पश्चिम में उत्पन्न हुआ प्रतीत होता है। राधाकृष्णन्[1] के मत में भारतीय दर्शन का आधार एक ऐसी भावना

---

१. The philosophy of India takes its stand on the spirit which is above mere logic and holds that culture based on mere logic or science may be efficient, but can not be inspiring.

I. P. Vo I, P. 25

है जो तर्क के ऊपर है और उसका यह मत है कि जिस संस्कृति की नींव केवल तर्क और विज्ञान पर हो, उसमें कार्य क्षमता भले ही हो, उससे प्रेरणा नहीं मिल सकती।

भारत में दर्शन की वर्तमान स्थिति

सम्प्रति भारत में दर्शन केवल शास्त्रीय पाण्डित्य, भारतीय या पाश्चात्य मतों के निरूपण, वर्गीकरण एवं तुलनात्मक अध्ययन के स्तर पर उतरा हुआ है। भारतीय दार्शनिकों की शक्ति उपनिषद्, गीता, वेदान्त तथा उन विचारों पर आधारित आचार्य शंकर, रामानुज, अरविन्द आदि के विचारों के अध्ययन मनन एवं स्पष्टीकरण में विनष्ट हो रही है। वेदान्त दर्शन विस्तार के रूप में अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच चुका है। जिस ब्रह्म या आत्मा के बारे में उपनिषदों में 'नेति-नेति' कहा गया है तथा याज्ञवल्क्य ऐसा महाज्ञानी ऋषि जिसकी व्याख्या में अपनी असमर्थता को व्यक्त करता है; उस ब्रह्म, जीव और ईश्वर के सम्बन्ध को लेकर वेदान्त में इतने सम्प्रदायों का उदय होना क्या भारतीय दर्शन का उपहास नहीं है ? ब्रह्म-जीव के सम्बन्ध को वाद-विवाद का विषय नहीं बनाया जा सकता। भिन्न-भिन्न दर्शनों में आत्मा के स्वरूप की कल्पना की गई है तथा दार्शनिक अपनी प्राकल्पनाओं की पुष्टि के लिए यथार्थ तर्कों को उपस्थित करते हैं। क्या यह दार्शनिक चिन्तन का ह्रास नहीं है ? बौद्धों के अनात्मवाद का केवल इतना ही अर्थ है कि आत्मा अव्याख्येय है, विषय या विषयी नहीं है। वह तर्क की परिधि में नहीं आ सकती। यह बात बिल्कुल सत्य है। परन्तु यह भारतीय दर्शन में एक बड़ी समस्या मानी जाती है। सांख्य दर्शन में सृष्टि कब हुई ? क्यों हुई ? कैसे हुई ? इसका निरूपण नहीं है। वहाँ जगत् सत्य है। वास्तविक है। यह सृष्टि प्रवाह अनादिकाल से है। परन्तु सभी दार्शनिक पद्धतियों में सांख्य के सृष्टि विषयक विचारों को असंगत ठहराते हुए उसकी मान्यताओं का उपहास किया गया है।

सृष्टि एवं तत्त्वज्ञान विषयक प्राचीनतम विचारधारा होने के नाते सांख्य का अन्य दार्शनिक पद्धतियों पर प्रभाव पड़ना सम्भव एवं स्वाभाविक है। सांख्य का सही स्वरूप न समझने से अन्य भारतीय दार्शनिक पद्धतियों का स्वरूप भी बिगड़ गया है। अब भारतीय दर्शन मात्र वहस का अड्डा रह गया है। भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों के समालोचक एवं टीकाकार अपने-अपने मत की पुष्टि में वेद की सम्मति का दावा करते हैं, और जहाँ यह सम्मति स्वतः दृष्टि में नहीं आती, वहाँ बल पूर्वक संगति बैठाने में अपनी पटुता दिखाते

हैं। दर्शन देश, जाति, समाज का प्राण होता है। उसे वाद-विवाद का विषय बनाना, मनोरञ्जन का साधन मानना समाज के हित में नहीं है। भारतीय दर्शन का अध्ययन एवं अध्यापन जिस रूप में चल रहा है उसमें मौलिक परिवर्तन की आवश्यकता है। भारत जो किसी समय विश्व-धर्मगुरु कहा जाता था तथा ज्ञान के क्षेत्र में उसकी ऐतिहासिक प्रतिष्ठा थी। अब अपने पद की गरिमा को नहीं निभा रहा है। ऐसा प्रतीत होता है कि वह नदी जो शताब्दियों तक बड़े वेग के साथ पूरी भरी हुई बहती रही है, अब रुके हुए अनुपयोगी तथा दूषित जल के रूप में परिणत हो गई है।

आदर्श के पश्चात् आदर्श, सम्प्रदाय के पश्चात् सम्प्रदाय बनते चले जा रहे हैं। दार्शनिकों के समस्त प्रयत्नों के बावजूद भी हम अन्तिम समस्याओं के सम्बन्ध में वहीं खड़े हैं जहाँ युगो पूर्व थे।

अति प्राचीनकाल में मानव वैदिक आदर्शो एवं मान्यताओं के अनुसार जीवन व्यतीत करता था। सहस्रो शताब्दियों में शनैः शनैः विकृत होकर वैदिक मर्यादाओं तथा अन्य क्रियाकलापों में असह्य भ्रष्टाचार फैल गया। जातिगत, वर्गगत विद्वेष के कारण समाज पंगु बन चुका था। वैदिक कर्मकाण्ड जो आडम्बर रह गया था, हिंसा का क्षेत्र बन चुका था। मानव-मानव के बीच की दूरी दिन प्रति दिन बढ़ती जा रही थी। इसी समय गौतम बुद्ध का जन्म हुआ। उन्होंने कठोर मिथ्याडम्बरपूर्ण धर्म के नाम भरे भ्रष्टाचार को उखाड़ फेंकने का प्रयत्न किया तथा विशुद्ध मानववाद की घोषणा की। बुद्ध ने वैदिक मान्यताओं का विरोध नहीं किया, अपितु उनमें जो विकृति आ गई थी, उन्हें हटाने का प्रयास किया। फिर भी यहीं से ब्राह्मण धर्म और बौद्ध धर्म का संघर्ष शुरू हो गया। यह संघर्ष कई शताब्दियों तक अबाध गति से चलता रहा। धीरे-धीरे बौद्ध धर्म में भी विकृतियाँ आ गई। भ्रष्टाचार फैल गया। जहाँ चरित्र नाम की कोई चीज नहीं रह गई। इसी समय आचार्य शंकर के व्यक्तित्व का उदय हुआ। उन्होंने पुनः वैदिक मान्यताओं एवं आदर्शो की स्थापना की। बौद्ध धर्म की मान्यताओं एवं विश्वासों पर क्रियात्मक विजय प्राप्त की। आचार्य शंकर की यह विजय ईश्वरवाद की विजय थी।

इस ऐतिहासिक परिवर्तन का मूल आधार व्यावहारिक रूप में वर्ण-व्यवस्था, जातिव्यवस्था और मानवीय मूल्यों के ह्रास से सम्बन्धित था। परिणाम यह हुआ कि वैज्ञानिक प्रगति शिथिल हो गई। ईश्वर की खोज में लगा भारतीय समाज मुसलमानी आक्रमण के समय अपनी स्वाधीनता को हमेशा के लिए खो बैठा और तरह-तरह की यातनाओं को सहन किया।

इसका कारण यह था कि समय एवं परिस्थितियों के अनुरूप हमने अपने को नहीं बदला। मुसलमानों के आक्रमणों ने. जिनके साथ उनके धर्म प्रचार का उत्साह भी था, हिन्दू संस्कृति एवं चिन्तन की स्थिरता को हिला दिया। आचार्य शंकर के पश्चात् ऐसा कोई प्रतिभावान पुरुष पैदा नहीं हुआ जो हिंदू चिन्तन एवं एकता को वर्तमान परिस्थितियों के अनुकूल मार्ग प्रशस्त कर सके। आगे विचारक नहीं रहे। विद्वान् रह गये, जिन्होंने नया विचार देने से जनता को इनकार कर दिया। जब दर्शन के क्षेत्र में रचनात्मक भाव निकल गया, तब भ्रमवश दार्शनिक इतिहास को ही दार्शनिक ज्ञान मान लिया गया।

भारत के विचारक तर्क के प्रति श्रद्धा रखने की महान् परम्परा के उत्तराधिकारी हैं। प्राचीन ऋषि नकल करने की नहीं वरन् नवीन रचना की इच्छा रखते थे। वे सदा सत्य के लिए नये-नये क्षेत्रों पर विजय प्राप्त करने तथा जीवन की समस्याओं का समाधान करने के लिए आतुर रहते थे। उत्तराधिकार की बहुमूल्यता ने कभी उनके मस्तिष्क को दास नहीं बनाया। हम भूतकाल के समाधानों को केवल नकल करके ही सफल नहीं हो सकते, क्योंकि इतिहास सदा एक समान नहीं रहता। उन्होंने अपनी पीढ़ी में जो कुछ किया, उसका फिर से किया जाना आवश्यक नहीं है। हमें अपनी समस्याओं का पता लगाना चाहिये और उनके समाधान के लिए भूतकाल से प्रेरणा लेने की चेष्टा रखनी चाहिये। सत्य की भावना एक ही समान आकृतियों में संलग्न नहीं रहती, वरन् उन्हें सदा नवीन रूप देती रहती है।

वर्तमान समय का दर्शनशास्त्र वर्तमान के साथ संगत होगा, भूतकाल के साथ नहीं। चूँकि वर्तमान भूतकाल से सम्बद्ध है। इसलिए भूतकाल के साथ तारतम्य भाव में कोई सम्बन्ध विच्छेद नहीं होगा। हम भूतकाल के भाव को ग्रहण कर सकते हैं, परन्तु उसमें रूप तथा स्फूर्ति वर्तमानकाल की होनी चाहिये। जिस देश, समाज और जाति ने समय एवं परिस्थितियों के अनुरूप अपने को नहीं बदला, उसका अस्तित्व मिटा है, मिट रहा है और मिटेगा। इतिहास इसका साक्षी है। भारत में छुआछूत वर्गसंघर्ष, जातिगत विद्वेष सबसे बड़ा रोग है। बिना इसमें पर्याप्त सुधार किये दार्शनिक प्रगति को सन्तोषजनक माना नहीं जा सकता है। परन्तु व्यवहार रूप में हम देखते हैं कि बड़े-बड़े सन्त, महात्मा, धर्म के ठेकेदार भी इस दिशा में कोई रचनात्मक सहयोग नहीं कर रहे हैं। फिर भी हमारे लिए याज्ञवल्क्य, गार्गी, पतञ्जलि, गौतम, वशिष्ठ, विश्वामित्र, शंकराचार्य आदि ऐसे ऐतिहासिक व्यक्तियों के नाम हैं, जो अपने व्यक्तित्व से युगयुगान्त तक हमें प्रकाशित करते रहेंगे।

सन्दर्भ ग्रन्थसूची

अथर्ववेद संहिता—दामोदरसातवलेकर स्वाध्याय मण्डल पारडी शा० १८६५

अनुयोगद्वारसूत्र केशरवाई ज्ञान मन्दिर पाटण १९३९

अमरकोष—अमरसिंह, चौखम्भा संस्कृत सिरीज वाराणसी १९७८

अर्थशास्त्र—कौटिल्य, चौखम्भा विद्या भवन वाराणसी १९६२

अहिर्बुध्न्यसंहिता—सम्पादक आटो शेडर आड्यार मद्रास १९६६

ईशादि नौ उपनिषद्—गीता प्रेस गोरखपुर सम्वत् २०३३

ऐतरेय ब्राह्मण—चौखम्भा संस्कृत संस्थान सम्वत् २०४४

ऋग्वेद संहिता—आर्य साहित्य मण्डल लिमिटेड अजमेर १९५२

ऋग्वेद सायण भाष्य—गणपति कृष्णाजी द्वारा प्रकाशित शा० १८११

गीता रहस्य—बाल गंगाधर तिलक जयन्त श्रीधर तिलक पूना १९५९

चरक संहिता-२ स० जयदेव विद्यालंकार मोतीलाल बनारसीदास १९८६

तत्त्वसंग्रह—शान्तरक्षित कमलशीलकृत टीका सहित बड़ौदा १९२६

तत्त्वसमास—सम्पादक रामशंकर भट्टाचार्य भारतीय विद्या प्र० १९६५

छान्दोग्योपनिषद्—स० श्रीरामशर्मा आचार्य सं० सं० बरेली १९७२

निरुक्तयास्क-दुर्गाचार्यकृत खेमराज श्री कृष्णदास बम्बई १९८२

दर्शन का प्रयोजन-डा० भगवानदास, ज्ञानमंडल पु० भंडार काशी १९४८

पातंजलयोगदर्शन (व्यास भाष्य, तत्त्व वैशारदी सहित्) रामशंकर भट्टाचार्य, भारतीय विद्या प्रकाशन वाराणसी १९६०

बुद्धचरित—अश्वघोष जान्स्टन लाहौर १९३६

ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्य—चौखम्भा विद्या भवन वाराणसी १९८८

वृहत्संहिता-वाराहमिहिर भट्टोत्पलकृतटीका मेडिकलहाल काशी सं० १९५२

बृ० उ०-सम्पादक श्रीराम शर्मा आचार्य संस्कृति संस्थान वरेली १९७२

महाभारत-शांति पर्व स० दामोदर सातवलेकर, स्व० म०पा० १९८०

भारतीयदर्शन—बलदेव उपाध्याय शारदा मन्दिर वाराणसी १९७१

मनुस्मृति-श्रीकुल्लूकभट्ट विरचित टीका मोतीलाल वनारसीदास १९८३

महाभारत और पुराणोंमें सांख्यदर्शन-रामसुरेश ने० प० हा० दि० १९७२

रामचरितमानस-गोस्वामी तुलसीदास गीता प्रेस गोरखपुर

वाल्मीकि रामायण-श्रीरामनारायणकृत भाषाटीका गीता प्रेस

महाभाष्य-पतंजलिमुनि-व्याख्याकार युधिष्ठिरमीमांसक दिल्ली सं० २०३१

भगवत् गीता-शांकर भाष्य-मोतीलाल बनासीदास १९८४
वैदिकसाहित्य एवं संस्कृति-बलदेव उपा०-शारदा सं० वाराणसी १९७६
शतपथब्राह्मण-सम्पा० वंशीधर अच्युत ग्रंथमाला काशी सं० १९९७
शिशुपालवध—माघ व्याख्याकार हरगोविन्द शास्त्री चौ०वि०भ० १९७२
षड्दर्शनसमुच्चय-मलधारीराज शेखसूरि विरचित-यशोविजय ग्रंथ वारा०
सर्वदर्शनसंग्रह-माधवाचार्य व्याख्याकार उमाशंकर चौ०वि०भ०वारा० १९८४
सर्वसिद्धांतसंग्रह -शंकराचार्य सूर्यनारायण का०वि० मुद्रणालय वाराणसी
सांख्यकारिका-ब्रजमोहन चतुर्वेदी-बसुमती व्याख्या पब्लिहाउसदिल्ली १९८५
सांख्यकारिका—मा०वृ० एवं जयमंगला-स० विष्णुप्रसाद चौ. सं. सि. १९७०
सांख्यकारिका-गौड़पादभाष्य-सं० जगन्नाथ, मोतीलाल बनारसीदास १९७५
सांख्यकारिका—सांख्यतत्त्व कौमुदी-वाचस्पतिमिश्र-व्याख्याकार आद्याप्रसाद मिश्र (प्रभा) प्रेम प्रकाशन इलाहाबाद १९७३
सांख्यकारिका—सांख्यतत्त्वकौमुदी वाचस्पतिमिश्र-रामशंकर भट्टाचार्य (ज्योतिष्मती) मोतीलाल बनारसीदास १९७६
सांख्यकारिका—सांख्यतत्त्वकौमुदी-वाचस्पतिमिश्र-गजाननशास्त्री मुसलगांवकर चौखम्भा संस्कृत संस्थान वाराणसी सं० २०४१
सांख्यकारिका-सांख्यचंद्रिका-नारायणतीर्थ-ढुंढिराजशास्त्री चौ.सं.सि. १९७७
सांख्यदर्शन का इतिहास-उदयबीरशास्त्री विरजानन्द वैदिक सं०सहा० १९५०
सांख्यसिद्धांत—उदयबीर विरजानन्द वैदिक संस्थान, गाजियाबाद १९६२
सांख्यदर्शन की ऐतिहासिकपरंपरा-आद्याप्रसाद सत्य प्र० इलाहाबाद १९६७
सांख्ययोग दर्शन-उमेशमिश्र, तीरमुक्ति प्रकाशन इलाहाबाद
सांख्ययोग दर्शन का जीर्णोद्धार-हरिशंकरजोशी चौ० वि० भ० वा० १९६५
सांख्यसूत्र (विज्ञानभिक्षु भाषान्वित) सटीकतत्त्व समाजसूत्र, सांख्यसार समेत सं० डा० रामशंकर भट्टाचार्य भारतीय विद्या प्रकाशन १९६२
सांख्यसूत्र (अनिरुद्धवृत्ति) सं० रामशंकर भट्टाचार्य प्रा०भा०प्र० वा० १९६५
सांख्ययोग कोश—केदारनाथ त्रिपाठी बी० एच्० यू० वाराणसी १९७४
सांख्यसंग्रह-विन्देश्वरीप्रसादद्विवेदी चौखम्भा संस्कृत सिरीज १९६९
संस्कृतसाहित्य का इतिहास-अनु०मंगलदेव शास्त्री मोतीलाल १९६७
सुश्रुद्संहिता-अनु० आर्यदेव, मोतीलाल बनारसीदास १९८४

BIBLIOGRAPHY

Alberuni's India —Vo 1 Sachau London 1910

Beginnings of I. P. F. Edgerton, Allen & Unwin London 1965

Bhandarkar Commemoration Volume S.K. Belvalkar–Varanasi

Buddhist Logic Vo I Stcherbatsky Newyork–1955

Cambridge History of India Vo I E. J. Rapson, Delhi 1965

Chhandogya Upanishad with Samkhya Point of View, A. S. Gupta Moti Mahal Kanpur 1962

Classical Samkhya, G. J. Larson Motilal Banarasidas 1969

Classical Samkhya, A critical study A.S. Gupta Lucknow 1969

Central conception of Bud and the meaning of Dharm—Stcherbatsky Cculcula 1956

Constrictive Survey of Upanishdie Philosophy, R. D. Ranade Orient Book Agency, Poona 1926

Critical Survey of I. P. C. D. Sharma, London 1960

Critical study of Samkhya system V. V. Sovani, Poona 1938

Cultural Heritage of India. E. Haridas Bhattacharya. Ram-Krishan Mission Institute of culture Calcutta 1953

Die Samkhya Philosophie Richard Garbe Leipzig Haessel 1917

Die Samkhya Philosophie (Als) J. Dahlman Berlin 1902

Early Samkhya. E. H. Johnston The R. A. S. London 1937

Eastern Religion and Western Thouqht S. Radha Krishnan Oxford University Press London 1940

Encyclopaedia of Religion and Ethies Vo XI and XII. James Hastengs Newyork 1954

Essentials of Indian Philosophy M. Hiriyanna London 1960

Evolution of the Samkhya School of Thought. A. S. Gupta Lucknow 1959

Hinduism and Buddhism C. Eliot, London 1954

Hindu view of Life, S Radhakrishnan London 1948

History of Dharm shastra P. V. Kane : Poona 1962

History of Indian Literature Vo I M. Winternitz. Tran. S. N. Sharma Motilal Banarasidas Delhi 1990

History of Indian Literatute A. Weber, Tran. John Mann, Chawkhamba Sanskrit series office Varanasi 1974

History of Indian Philosophy. Vol,IV S.N. Das London 1922

History of Sanskria Literature. A. A. Macdonell, Moti Delhi 1990

Hymn of ereation. V. S. Agrawal Varanasi 1963

Indian Philosophy, Vo I & II. S. Radha-K- London 1966

Indian Historical Quarterly. 3(1932) Calcutta.

Indian Thought and its Development. Albert Schweitzer. Adam & Charles Black London 1956

Introduction to Indian Philosophy S. K. Chatterjee and D. M. Dutt University of Calcutta 1954

Journal of Americal Oriental Society (J A O S) 1911 U.S.A.

Journal of Oriental Research (J O R) Madras III 1929

Journal of Royal Asiatic Society (J R A S) 1930 London.

Kalpa Sutra Trns by K. Lalwani Moti Delhi 1979

Life Devine Aurbindo Vo I & II Arya Calcutta 1944

Nature of Consciousness in Hindu Philosophy S. K. Saxdena Nand Kishore & Brothers Benaras 1944

Nature of the Self A. C Mukherjee. Allahabad 1943

Origin and Development of samkhya system of thought. P. V. chakrvarti. Metropolitan Calcutta 1951

Out Lines of Indian Philosophy. M. Hiriyanna, London 1958

Philosophy of Ancient India. Richard Garbe London 1899

Philosophy of Upnishads. Paul Deussen trans by A. S. Geden, Rani Jhansi Road New Delhi 1979

Positive Science of Ancient Hindus. B. N. Seal Moti 1958

Proceediags of American oriental society (P A O C) Vo XI

Religions of India A Barth Trans J. wood London 1921

Religion of the Veda–M. Bloomfield Indological Book House Delhi 1972

Religion and Philosophy of Veda and Upnishads H. O. S. Vo 31, 32 A. B. Keith Harvard University press London 1925

Sacred Book of the East Ed F. Maxmuller VoI/XV. Moti 1965

Samkhya Aphorism of Kapil. J. R. Ballantyne.

Samkhya Karika Ed. Radhanath Pukhan. Calcutta 1960

Samkhya Karika–Surya Narayan Shastri Madras 1973

Samkhya Karika John Davies–Susil Calcutta 1957

Sankhya Karika–Gaudpad T G. Mainker Poona 1964

Sankhya Karika. Jayamangala. H. D. Sharma. Introduction by Gopinath Kaviraj. Calcutta Orientalseries 1926

Samkhya Karika – Tattva Kaumudi Ganganath Jha Introduction by H. D. Sharma. Oriental Book Agency Poona 1934

Samkhya System, A. B. Keith Y. M. C. A. Calcutta. 1949

Samkhya Philosophy–Nand Lal Sinha Allahabad 1915

Secret of the Sacred Books of the Hindus. N. V. Thadani Bharti Research Institute Delhi 1953

Six Systems of Indian Philosophy. F. Maxmuller London 1919

Some Fundamental Problems in Indian Philosophy. C. K. Raja Moti Lal Banarasidas 1960

Samkhya Sar. Ed. Fitz. Edward Hall Calcutta 1962

Samkhya Karika C. K. Raja Hosiarpur 1963

Source Book in Indian Philosophy. Ed. Radharkrishnan and Charles A Moore. Princeton university Press 1957

Studies in Philosophy VoI & II–K. Bhattacharya Calcutta 1956

Study of Patanjali S. N. Das Gupta Calcutta 1920

Suvernsaptati Shastra Ed. N. Aiyaswami S. Tirupati 1944

Vedic Index of names and subjects Vo I & II A A Macdonell A. B. Keith Moti Lal Banarasidas 1958

Vedic Mythology A. A Macdonell strass Burgtrubner 1897

Vedas F. Maxmuller Calcutta 1956

Wonder that was India A. L. Basham London 1954

Yukti Dipica R. C. Pandey Moti Lal Banarasi Das 1967

शुद्धिपत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
५	१	सांख्य	×
५	टिप्पणी	Throught	Thought
६	१	विविध	त्रिविध
८	१२	यच्चके	यच्चे
२१	१	कहा	कहा है
२८	२०	पुरूषधिष्ठितं	पुरुषाधिष्ठितं
२८	टिप्पणी	Eearly	Early
४८	९	कारणात्	करणात्
५२	टिप्पणी	त्रिभिर्गुणै···	त्रिभिर्गुणैभिरावृत्तम्
५८	७	क्रमः रजस्ः	क्रमशः रजस्
६२	टिप्पणी	भगवांस्न	भगवांस्तेन
७१, ७२	३०, ३	उद्भिज्ज	उद्भिज्ज
७३	९	सत्व	सत्त्व
८०	टिप्पणी	Beet	But
८२	१५	सात्विक	सात्त्विक
९०	टिप्पणी	Phylosophy	Philosophy
९६	११	प्राप्त	आप्त
१०२	१७ (का०)	मिष्ट	मिष्टं
१०७	१२	घता	घाता
११४	टिप्पणी	त्यक्ताभ्यां	व्यक्ताभ्यां
११८	११ (का०)	द्विपर्ययेऽभावात्	द्विपर्ययाभावात्
१४५	१३	बांध्येन्द्रिया	बाह्येन्द्रियाँ
१४५	१६	त्रयोदस	त्रयोदश
१६०	१२	अज्ञातया	अज्ञान का
१७५	४, ७	यज्ञ	अज्ञ